स्वामी श्रद्धानन्द

लेखक
पं. सत्यदेव विद्यालंकार

पुनर्मुद्रण : 2003 ई.

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केंद्र
गुरुकुल कांगडी - हरिद्वार

प्राक्कथन

स्वामी श्रद्धानन्द के सुयोग्य पुत्र तथा गुरुकुल के यशस्वी स्नातक प. इन्द्र जी का यह कथन स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन चरित को विस्तृत रूप से लिखने वाले प. सत्यदेव विद्यालकार के लिए कितना सटीक है, "श्री सत्यदेव विद्यालंकार मे गुरु का जीवन लिखने के योग्य भक्ति और शक्ति दोनो ही वस्तुऍ दिखाई दी" प. इन्द्र जी ने अपने पिता की सारी सामग्री उन्हे दे दी तथा इस जीवनी के पृष्ठ इस तथ्य को स्वय रेखांकित कर रहे है। प सत्यदेव ने इस जीवनी को लिखने मे पर्वत सदृश परिश्रम किया तथा लगभग चालीस हजार पृष्ठो मे बिखरी सामग्री को जीवनी के रूप में 500-600 पृष्ठो मे पिरोना, सजाना, सॅवारना यह बहुत दुष्कर कार्य था। गुरुकुल के इस स्नातक ने गुरुदेव की जीवनी मे अपना सपूर्ण परिश्रम उॅड़ेलकर आचार्य ऋण को चुकाने मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। श्री विद्यालकार ने यह जीवन-वृत्त उनके बहुविध ऊर्जावान् व्यक्तित्व को सकल रूप मे सयोजित कर अनूठे अदाज मे प्रस्तुत किया है।

सर्वप्रथम सन् 1933 मे प्रकाशित इस जीवनी को गुरुकुल ने 1995 मे पुन· प्रकाशित किया तथा इस जीवनी को आर्य जनता ने इतना पसद किया कि प्रकाशन के कुछ समय पश्चात् ही यह जीवनी पुन. अप्राप्य हो गई। अनेक आर्य बन्धुओ, संन्यासियों, गुरुकुलो के द्वारा यह मॉग बराबर आती रही कि स्वामी जी की इस जीवनी को आर्य जनता को पुनः प्रकाशित करके उपलब्ध कराई जाये।

गुरुकुल ने अपनी शताब्दी वर्ष की अवधि मे पुन. यह सकल्प लिया कि महान् पुरुष की महान् जीवन यात्रा को गुरुकुल के इस सुप्रतिष्ठित स्नातक की अप्राप्य जीवनी कृति को पुनः प्रकाशित किया जाये।

महापुरुषों के चित्त वज्र से भी कठोर और फूलों से भी अधिक मृदुल हुआ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द के इस जीवन चरित मे उनका अपने ब्रह्मचारियो से

कितना लगाव था, उनके दुख मे वे कैसे डूब जाया करते थे, उनके कल्याण में वे कैसे रात दिन लगे रहते थे, यह सब तो उनके जीवन यात्रा को पढने पर ही पाठक जान पायेगे। उन्होने अपने एक व्याख्यान में यह कहा भी था कि आचार्य न केवल रक्षक पिता के गुणो से युक्त हो बल्कि माता के तुल्य शिष्य के सब भावों को समझ कर अपनी प्रेम की गोद उसके अर्पण कर सके। माता संतान के प्रति जितना समर्पित होती है, आचार्य भी अपने शिष्य के प्रति उतने ही समर्पण से युक्त रहे। ऐसे आचार्य की अभिलाषा से जुड़े व सच्चे नयनाभिराम आचार्य थे।

आचार्य श्रद्धानन्द के जीवनचरित को प्रस्तुत करते हुए आज मुझे स्मरण हो रहा है, 8 नवम्बर 1913 का दिन जिस दिन ब्रिटेन के प्रधानमत्री पी. रेम्जे मेकडानल्ड ने गुरुकुल का अवलोकन किया तथा स्वामी श्रद्धानन्द के विलक्षण एवं भव्य व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे उनके उद्‌गार प्रत्येक आर्य बन्धु के लिये एक जाज्वल्यमान स्मृति के रूप मे संचित रखने योग्य हैं। वे कहते है, "एक उन्नतकाय दर्शनीय मूर्ति (प्रभावपूर्ण सौन्दर्य की प्रतिमा) हम से भेंट करने आती है।" वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि भगवान् ईसा की मूर्ति बनाने के लिये कोई जीवित मॉडल लेना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर इशारा करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेट पीटर के चित्र के लिए नमूना मॉगे तो मैं उसे जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा करूँगा। ऐसे तेजस्वी आत्मिक ज्योति के पुज बलिदानी महामानव के जीवन को आर्य जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए गुरुकुल अपने पितामह को बारम्बार नमन कर रहा है।

गुरुकुल की प्रकाशन योजना को मूर्त रूप देने वाले श्री श्रद्धानन्द अनुसधान प्रकाशन केन्द्र के द्वारा इस प्रकाशन को उपलब्ध कराने हेतु मै इसकी सराहना करता हूँ। केन्द्र के यशस्वी निदेशक आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश ने स्वामी जी के अवदान पर साहित्य अकादमी नई दिल्ली से ग्रन्थ प्रकाशित कराया था। उसकी चर्चा भारतीय विचारकों में बडे पैमाने पर हुई। इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर उन्होने कुछ नये बिन्दुओं पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद। व्यवसाय प्रबन्धक डॉ. जगदीश विद्यालकार ग्रन्थ के त्वरित तथा आकर्षक प्रकाशन की व्यवस्था के लिए बधाई के पात्र है।

दि 23.3.03

प्रो. स्वतंत्र कुमार
कुलपति

स्वामी श्रद्धानन्द और हिन्दी जागरण

श्री सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा प्रणीत 'स्वामी श्रद्धानन्द' पुस्तक भारत के महान् निर्माता की प्रेरक और प्रामाणिक जीवनी है। यद्यपि स्वामीजी ने 'कल्याणमार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी थी, तथापि श्री सत्यदेव जी ने उसे कलात्मक जीवनी का रूप देते हुए इस कृति की रचना की। रूपक की भाषा मे कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि श्री सत्यदेव जी भगीरथ हैं जिन्होंने कल्याणमार्ग के पथिक रूपी ब्रह्मकमडल में सुरक्षित जीवनीगगा को सर्वजन हिताय वैचारिक भूमि पर प्रशस्त तथा प्रथित रूप में अवतरित कराकर लेखन की भूमि को उर्वरा बनाया। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'मेरे पिता', श्री विष्णु प्रभाकर तथा विष्णुदत्त राकेश ने 'स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती' तथा डॉ. धर्मपाल आर्य ने 'एकता के सूत्रधार' लिखकर संस्मरण तथा जीवनी शैली को पुष्ट किया। डॉ. निरूपण विद्यालकार तथा डॉ विनोद विद्यालकार ने 'स्वामी श्रद्धानन्द · एक विलक्षण व्यक्तित्व' ग्रन्थ का सम्पादन कर स्वामी जी के जीवन पर सदर्भ सामग्री प्रस्तुत की। कालक्रम की दृष्टि से पण्डित सत्यदेव जी की पुस्तक इन प्रयत्नों में सर्वप्रथम कही जा सकती है। स्वामी जी के बलिदान के ठीक सात वर्ष बाद 1933 मे इस कृति का प्रकाशन हुआ। इन्द्र जी की पुस्तक 'मेरे पिता' 1957 मे प्रकाशित हुई। अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी जी की आत्मकथा के बाद उन तथ्यों तथा घटनाओ का इस कृति मे सत्यदेव जी ने उल्लेख किया है जिनका उल्लेख आत्मकथा में नही हो सका था।

सत्यदेव विद्यालकार 1920 मे गुरुकुल के स्नातक बने। पत्रकारिता को अपना लक्ष्य बनाकर उन्होने सार्वजनिक जीवन क्षेत्र मे पदार्पण किया। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण वह 1920, 1930 तथा 1932 में जेल गए। वह उत्तम कोटि के लेखक तथा सुवक्ता थे। उनके अग्रज मित्रों मे आचार्य

अभयदेव, श्री जयचन्द्र विद्यालकार तथा डॉ. सत्यव्रत विद्यालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं जो उनसे एक वर्ष पूर्व स्नातक बने थे। दिल्ली से निकलने वाले 'विजय' पत्र के सम्पादन के साथ उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में पग रखा। दैनिक हिन्दुस्तान तथा दैनिक नवभारत के वह संस्थापक सम्पादक थे। राजस्थान केसरी, मारवाड़ी प्रणवीर, नवयुग, स्वतन्त्र, विश्वमित्र तथा अमर भारत का भी उन्होंने सम्पादन किया। नागपुर, कलकत्ता, दिल्ली तथा उज्जैन-इन्दौर मे रहकर पत्रों का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता के दिग्विजयी रथ को सफलतापूर्वक संचालित किया। इसके अतिरिक्त लेखक के रूप मे भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया। गांधीजी का मुकदमा, दयानन्द दर्शन, श्रद्धानन्द, लाला देवराज तथा महाशय कृष्ण की जीवनी उनकी प्रमुख रचनाएँ है। पण्डित सत्यदेव जी को आर्यसमाज तथा सनातन धर्म के समाज-सुधारक महानुभाव समान रूप से आदर देते थे। प्रसिद्ध सनातनधर्मी नेता गोस्वामी गणेशदत्त ने अपने पत्र 'अमर भारत दैनिक' का सम्पादक सत्यदेव जी को ही बनाया था। दयानन्द के राष्ट्रवाद के वह प्रामाणिक व्याख्याता थे।

पण्डित सत्यदेव स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रमुख शिष्य थे। सद्धर्म-प्रचारक तथा श्रद्धा का सम्पादन उन्होने स्वामी जी के चरणो में बैठ कर सयुक्त रूप से किया था। पंजाब सरकार द्वारा उन्हें 'जय साहित्य' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेट किया गया। पण्डित जी का निधन 68 वर्ष की अवस्था मे 25 जून, 1965 को हुआ। इस अवसर पर पण्डित जी का सादर स्मरण करना हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है।

यह लिखते हुए परम हर्ष हो रहा है कि पण्डित सत्यदेव जी की पुस्तक 'स्वामी श्रद्धानन्द' का पुनर्मुद्रण गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र से हो रहा है। इस पुस्तक से भारत की नई पीढी को नव-निर्माण की प्रेरणा मिलेगी तथा मिलेगी वह मणिप्रभा, जिसके अव्याहत आलोक मे निराशा का अन्धकार क्षण-भर नही टिक सकता।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अग्रेजी शिक्षा-पद्धति और तदनुसार चलने वाले विश्वविद्यालयो को चुनौती देने के लिए राष्ट्रिय शिक्षा-पद्धति की नींव डाली। राष्ट्रभक्त और चरित्रवान् नवयुवको के निर्माण के लिए उन्होने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। महर्षि दयानन्द ने यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप देने का उद्योग किया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के मंच से यह आवाज उठाई कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए। स्वामी जी स्वप्नों की दुनिया

मे विचरने वाले हवाई व्यक्ति नही थे। वह जननेता तथा धरती से जुडे हुए महामानव थे, दृढ़ सकल्पो को मूर्त करने वाली शक्ति थे तथा भविष्य को चीर कर देखने वाली अन्तर्दृष्टि के धनी विचारक थे। गुरुकुल कांगड़ी उनके विचारो के क्रियात्मक परीक्षण की प्रयोगशाला थी। दीनबन्धु एन्ड्रूज जब शान्ति निकेतन से लौटकर स्वामी जी से मिले और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के काव्य-कानन मे कूजने वाले छात्र कोकिलो की चर्चा की तो स्वामी जी ने कहा था–'गुरुदेव के आश्रम मे विद्यार्थी कविता गाते हैं और गुरुकुल में विद्यार्थी कविता जीते हैं।'

स्वामी जी प्राच्य विद्याओं के उन्नयन के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान किए जाने के प्रबल समर्थक थे। जहॉ उन्होने वेद, सस्कृत, दर्शन, तुलनात्मक धर्म तथा प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति तथा पुरातत्त्व को अध्ययन का विषय बनाकर प्राचीन की रक्षा की, वहॉ विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था कर एक नए युग का प्रारम्भ भी किया। गुरुकुल भारतीय विश्वविद्यालयों में पहला विश्वविद्यालय है जहॉ विज्ञान का अध्यापन हिन्दी माध्यम से शुरू हुआ। आज जब तकनीकी शब्दावली के निर्माण मे देश ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर ली है तब भी विश्वविद्यालयों मे हिन्दी मे विज्ञान-अध्यापन तथा लेखन के काम को दुरूह माना जाता है। तब 1908 के युग मे विज्ञान की पढ़ाई हिन्दी मे हो, यह सकल्प कितना कठिन रहा होगा। उस समय वैज्ञानिक शब्दावली का हिन्दी गठन कल्पनातीत कार्य था। स्वामी जी ने अपनी उत्कट राष्ट्रभक्ति, आत्मगौरव तथा प्रबल इच्छा शक्ति से इस असभव कार्य को भी सभव कर दिखा दिया। उनकी प्रेरणा से गुरुकुल के अध्यापक श्री गोवर्धन शास्त्री ने भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान पर हिन्दी में पुस्तकें लिखी। अमेरिका से उच्च शिक्षा प्राप्त कर लौटे वैज्ञानिक श्री महेश चरण सिन्हा ने वनस्पति शास्त्र पर पुस्तक लिखी। बाद मे तो आचार्य रामदेव, चन्द्रगुप्त वेदालकार, जयचन्द्र विद्यालकार, सत्यव्रत सिद्धान्तालकार, डॉ सत्यकेतु विद्यालंकार तथा अत्रिदेव विद्यालकार ने भारतीय इतिहास, समाजशास्त्र, नृत्तत्त्वशास्त्र, मनोविज्ञान, चिकित्साशास्त्र जैसे विषयो पर हिन्दी मे उत्कृष्ट ग्रन्थो का लेखन किया। आचार्य रामदेव जी द्वारा सम्पादित 'वैदिक मैगजीन' पत्रिका के प्रशसकों मे महात्मा गांधी, लियो टालस्टाय तथा योगिराज अरविन्द के नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी के माध्यम से उच्च से उच्च विषय की शिक्षा सुगमता से दी जा सकती है, यह प्रमाणित कर उन्होंने देशी भाषाओं को पराधीन भारत मे वह प्रतिष्ठा दिलाई जिसकी ओर गाधीजी, विनोबा भावे, काका कालेलकर तथा जाकिर हुसेन

इशारा करते रहे। तभी तो तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था–'मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अत्याधुनिकता पर इंगित करते हुए गाधीजी ने महामना मालवीय जी से कहा था–'गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते है तो बनारस में गंगा के किनारे बैठाकर आप इन बच्चो को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं?'

3 मई, 1913 के सद्धर्म-प्रचारक मे स्वामी जी ने संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व लॉर्ड सर एंटनी मैकडोनल्ड को ससम्मान स्मरण किया था, जिनके सहयोग से आर्यभाषा हिन्दी तथा देवनागरी अक्षरों को न्यायालय में कुछ स्थान मिला था। इतना होने पर भी न्यायालय के अहलकार उर्दू में ही कार्य करने को बढ़ावा दे रहे थे। स्वामी जी ने इस पर अपने पत्र मे टिप्पणी लिखी–'यदि संयुक्त प्रान्त के विविध स्थानों से इस प्रकार से सरकार-पत्र मेरे पास पहुँच जाएँ जिनमें आर्यभाषा तथा देवनागरी लिपि के साथ निर्दयता का बर्ताव किया गया हो तो मैं इस विषय को इस प्रान्त की कानूनी कौंसिल मे पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा। मुझे यह देखकर बडा शोक होता है कि बेचारी देवनागरी जिन भारतभूषणों को अपना एकमात्र सहारा समझती है उनकी सहानुभूति अपनी मातृभाषा के साथ कथन मात्र ही प्रतीत होती है।'

इस उद्धरण से सहज ही समझा जा सकता है कि न्यायालयो में हिन्दी में कामकाज कराने मे वह अत्यन्त उत्सुक थे। न्यायालय का कार्य उस भाषा में होना चाहिए, जिस भाषा को न्याय चाहने वाला अच्छी तरह समझता हो। उनके इस कार्य मे बाबू मदनमोहन जज, पण्डित विष्णुलाल शर्मा जज तथा बाबू मुसद्दीलाल जज ने भरपूर सहयोग दिया।

स्वामी जी ने 1889 मे सद्धर्म-प्रचारक उर्दू मे निकालकर पंजाब में उर्दू के गढ़ मे सस्कृत और सम्कृति की नींव लगाई। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध उग्र वातावरण का निर्माण किया। जब मराठी केसरी का हिन्दी सस्करण 1907 मे प्रकाशित हुआ तब स्वामी जी ने घाटा सहकर भी सद्धर्म-प्रचारक को 1907 से ही हिन्दी मे निकालना शुरू किया। दोहरा मापदण्ड स्वामी जी के जीवन से कोसों दूर था। इस पत्र मे धर्म, शिक्षा, राजनीति, समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय समस्याओं पर भरपूर सामग्री रहती थी। गाधी जी के अफ्रीका सत्याग्रह तथा लोकमान्य तिलक के निर्वासन पर की गई बेबाक तथा निर्भय टिप्पणियों से यह पत्र सरकार की ऑख

की किरकिरी बन गया। उनके पुत्र इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 1912 में दिल्ली से इसी तेवर का 'विजय' नामक हिन्दी साप्ताहिक निकाला। 1918 में इसे दैनिक कर दिया गया। 1920 मे स्वामी जी ने गुरुकुल से 'श्रद्धा' नामक पत्रिका निकाली। 'श्रद्धा' का महत्त्व इसलिए भी हो सकता है कि इसमें हिन्दी और राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति विषयक अनेक लेख प्रकाशित हुए। आचार्य पद्म सिह शर्मा तथा पण्डित रुद्रदत्त शर्मा को 'सत्यवादी' के प्रकाशन-सम्पादन में स्वामी जी से भरपूर सहायता मिली। यह बात 1904 की है।

स्वामी जी बृहत्तर भारत के गौरव को प्रकट कर भारतीय नवयुवकों में आत्मगौरव जगाना चाहते थे। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने इस विषय् पर सर्वप्रथम हिन्दी में ग्रन्थ लिखकर उनकी यह साध पूरी की। प्रचार की दृष्टि से उनके शिष्यों तथा अनेक आर्य-प्रचारकों ने भारत से बाहर जाकर हिन्दी-सेवा की। स्वामी जी की प्रेरणा से गोपाल नारायण पथिक फीजी पहुँचे। पथिक जी ने वहाँ प्रवासी भारतीयों में हिन्दी प्रचार का कार्य किया। उन्हीं की प्रेरणा से फीजी के युवक-युवतियाँ भारत मे पढने के लिए आए। स्वामी राम मनोहरानन्द ने 1919 में वहाँ जाकर गुरुकुल की स्थापना की भवानी दयाल संन्यासी ने दक्षिण अफ्रीका मे हिन्दी-प्रचार का कार्य स्वामी जी की प्रेरणा से किया। गुरुकुल के यशस्वी स्नातक अमीचन्द्र विद्यालकार के कार्य को भी भुलाया नहीं जा सकता। मारिशस मे हिन्दी-प्रचार की पृष्ठभूमि में भी आर्यसमाज की प्रमुख भूमिका रही है।

स्वामी जी ने आत्मकथा, सस्मरण तथा जीवनी विधा पर 'कल्याण-मार्ग का पथिक', 'बंदीघर के विचित्र अनुभव' तथा 'आर्य पथिक लेखराम' पुस्तके लिखकर आत्मकथाकार, सस्मरणकार तथा जीवनीकार का सफल विरुद पाया। यही कारण है कि 1913 मे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन भागलपुर का उन्हें प्रधान बनाया गया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ श्यामसुन्दर दास ने स्वामी जी के स्वागत में जो शब्द कहे थे, उनसे स्वामी जी के महिम व्यक्तित्व पर गहरा प्रकाश पडता है। हिन्दी के प्रारम्भिक निर्माताओ मे महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ स्वामी जी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

स्वामी जी ऐसे विचारक और पथदर्शक थे, जिन्होने रूढियों और अन्धविश्वासो पर चोट करते हुए सामाजिक न्याय के लिए सघर्ष किया, धर्म, सस्कृति और जीवन दर्शन की वैज्ञानिक व्याख्या की, एक साथ सबके उठकर खडे होने तथा चलने की प्रेरणा दी, अपने आत्मगौरव को पहचानने का अवसर दिलाया तथा समान

शिक्षा के लिए समान अवसर और व्यवस्था का विधान कर पीढ़ियों के निर्माण की प्रयोगशाला गुरुकुल के रूप में स्थापित की। स्थापना क्या, शिक्षा के क्षेत्र में युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। अछूतों के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्होने जो कुछ किया, वह उस समय तक किसी ने नहीं किया था, काग्रेस ने भी नहीं।

पण्डित सत्यदेव जी की यह कृति उसी महामानव के जीवन के विविध प्रेरणादायक प्रसंगो तथा पहलुओ को उद्‌घाटित करती है। स्वामी जी के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। यदि हमारी नई पीढ़ी, इनके आलोक मे अपना जीवन-पट बुन सकी तो निस्संदेह कल का उन्नत भारत उनका होगा तथा उनका रहेगा। स्वामी जी आधुनिक भारत के सांस्कृतिक-निर्माता थे।

इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण की प्रेरणा विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो. स्वतंत्र कुमार जी से मिली। उनके प्रति हार्दिक आभार। विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुदर्शन शर्मा, परिद्रष्टा श्री सदानद जी, आचार्य वेदप्रकाश जी शास्त्री, कुलसचिव डॉ. महावीर अग्रवाल तथा वित्ताधिकारी श्री जयसिह गुप्त को इस अवसर पर विशेष रूप से धन्यवाद देता हूँ। ग्रन्थ के सुरुचिपूर्ण मुद्रण एव प्रस्तुति के लिये डॉ. जगदीश विद्यालंकार साधुवाद के पात्र है। आशा है पाठक हमारे अन्य प्रकाशनों की तरह इस प्रकाशन को भी अपना भरपूर स्नेह प्रदान करेगे। इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण कर हम आचार्य ऋण से कुछ अंशों मे उऋण होने का विनम्र प्रयास कर रहे हैं।

22 मार्च 2003

डॉ. विष्णुदत्त राकेश

अध्यक्ष. मानविकी सकाय तथा निदेशक
स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ प्र)

दो शब्द

देर से इच्छा थी कि अपने जन्म और दीक्षा के गुरु स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी का विस्तृत जीवन-चरित्र जनता की भेट रख सकू। आवश्यक सामग्री एकत्र कर ली, कई बार उसे आरम्भ किया, परन्तु दो कदम आगे भी न चल सका। तरह-तरह की बाधाओ ने रास्ता रोक रखा। यह भी विचार आता रहा कि शायद मैं अपने को पक्षपात से ऊँचा उठाने मे समर्थ न हो सकूँ। तब यही सोचा कि इस कार्य को किसी दूसरे महानुभाव के हाथो मे सौप दूँ। श्री सत्यदेव विद्यालकार मे गुरु का जीवन लिखने के योग्य भक्ति और शक्ति दोनो ही वस्तुये दिखाई दी। मैने सब सामग्री उनको सौप दी। विद्यालकार जी ने जिस परिश्रम और तत्परता से उस कार्य को किया है, पुस्तक के पृष्ठ उसकी गवाही दे रहे है। पुस्तक प्रेम और निर्भयता से लिखी गई है। आशा है, प्रेमी पाठक उसे पढ़कर सन्तुष्ट होगे।

–इन्द्र

भूमिका

श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-अर्ध-शताब्दी के अवसर पर उस ऋषि के मिशन की पूर्ति के लिये ही उसके चरणों में सर्वस्व न्यौछावर करने वाले महापुरुष की जीवनी से अधिक सुन्दर भेट और क्या हो सकती है? जो अपने महान् बलिदान द्वारा सुदीर्घ जीवन की अपेक्षा भी कहीं अधिक काम कर गया, उसकी अमर-जीवन-कहानी से अधिक बढ़िया और क्या वस्तु, इस समय, जनता की सेवा में उपस्थित की जा सकती है? लेखक अपने को धन्य मानता है कि उसको अपने आचार्य की यह जीवनी इस संस्मरणीय ऐतिहासिक अवसर पर उपस्थित करने का वह अहोभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसकी कि वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। गुरुकुल का कौन स्नातक इस जन्म में अपने दिवंगत आचार्य के उपकारों को भूल सकता है? निरन्तर चौदह वर्ष तक एक प्रकार से उनकी गोद में ही खेलते हुए जिस मातृ-पितृ-ऋषि ऋण से हम स्नातक ऋणी है, उससे उऋण होना सम्भव नहीं है। इस लेखक पर वह ऋण एक दूसरे नाते से और भी अधिक है। लेखक के स्वर्गीय नाना जी कट्टर आर्यसमाजी थे। उस नाते से उसके माता-पिता का शुभ-विवाह उन विवाहो में से था, जो आर्यसमाज की वैदिक-पद्धति से, जालन्धर-आर्यसमाज के शुरू के दिनों में, महात्मा मुशीराम जी द्वारा ही सम्पन्न कराया गया था। लेखक को इस शुभ-घटना का पता बहुत दिनो बाद—गुरुकुल से स्नातक होने के भी कुछ समय बाद—लगा था। पर, उस दिन से उसके हृदय मे कुछ विचित्र-सी भावना काम कर रही थी। उसमे आचार्य के प्रति विशेष कृतज्ञता का भाव ही अधिक था। आचार्य की इस जीवनी के द्वारा अपनी कृतज्ञता को मूर्त्तरूप देने का यह दुष्प्राप्य सुयोग अनायास ही प्राप्त होने पर, उसको कुछ थोडा-सा सन्तोष अवश्य हुआ है।

आर्यसमाज के लिये गौरव-स्वरूप महापुरुष की प्रामाणिक, विस्तृत और शृखलाबद्ध जीवनी के लिये आर्यसमाज में तो सम्भवतः कोई विशेष चर्चा नही थी, किन्तु गुरुकुल के स्नातको में उसके लिये विशेष आन्दोलन अवश्य था। सूपा-गुरुकुल के अध्यापक श्री शंकरदेवजी विद्यालंकार ने 'आर्य' और 'ज्योति' मे 'अमर शहीद

की अमर कथा कौन लिखेगा?' शीर्षक से लिखे गए लेखों द्वारा उसके लिये कुछ आन्दोलन सार्वजनिक तौर पर भी किया था। श्री रामगोपालजी विद्यालंकार ने 'वीर संन्यासी श्रद्धानन्द' नाम से एक सुन्दर पर संक्षिप्त जीवनी लिखी भी थी। उसके प्रकाशक उसको जल्दी ही प्रकाशित करने पर तुले हुए थे, इस लिये सब सामग्री एकत्रित कर कुछ खोज करने का उनको अवसर नही मिला था। प्रो. इन्द्रजी विद्यावाचस्पति भी उसके लिए लगकर उद्योग करना चाहते थे, पर उनको देश के राजनीतिक-आन्दोलन से फुर्सत कहाँ थी? दूसरे कुछ स्नातकों को भी उन्होंने इसके लिए प्रेरित किया था। कुछ ने इस काम को हाथ में लिया भी, पर कोई न कोई ऐसी अड़चनें आती रहीं कि उस काम का आरम्भ ही न हो सका। अन्य स्नातक-भाइयों की तरह अपने आचार्य की प्रामाणिक और विस्तृत जीवनी की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी लेखक यह कभी खयाल में भी नहीं ला सकता था कि गुरुकुल से स्नातक होने के बाद असहयोग-आन्दोलन की घोषणा के पहिले दिन, 1 अगस्त सन् 1920, से ही कांग्रेस के जेल-आन्दोलन में निरन्तर लगे रहने पर भी, उसको इस महान् कार्य के सम्पादन करने का सुयोग प्राप्त होगा। कलकत्ता से जेल से छूटकर देहली आने पर प्रो. इन्द्रजी विद्यावाचस्पति ने इसके लिए प्रेरित किया। यह जीवनी उनकी ही शुभ प्रेरणा का परिणाम है। विचार तो इसको गुरुकुल के गत वार्षिकोत्सव पर ही प्रकाशित करने का था, किन्तु उस समय यत्न करने पर भी वैसा न हो सका। देवी सुभद्रा के 15 मास बाद जेल से छूटने पर लेखक उनको लाने के लिए कलकत्ता गया। पहिले तो स्वय ही कुछ दिन और जेल में काटने पड़े। फिर देवी सुभद्रा के स्वास्थ्य के जेल मे एक दम गिर जाने पर दो-तीन महीने कलकत्ता मे ही उनके औषधोपचार के लिए रुक जाना पड़ा। जुलाई मे कलकत्ता से लौट कर फिर काम को हाथ में लिया तो देखा कि पीछे व्यवस्थित किये हुए कागज़-पत्र पुलिस की कृपा से तलाशी मे सब ढेर कर दिये गये थे। फिर उनको नये सिरे से सम्हाला गया और अर्द्ध-शताब्दी पर जीवनी प्रकाशित करने के लिये रात-दिन एक किये गये।

इतिहास के समान ही जीवनी के लिये की जाने वाली खोज का भी कोई अन्त नहीं है और इस जीवनी के लिये भी आवश्यक-सामग्री अभी बहुत अधिक इकट्ठी की जा सकती है, किन्तु लेखक को इतना सन्तोष है कि प्राप्त-सामग्री का उसने पूरा सदुपयोग किया है और कोई चालीस हज़ार पन्नों की उसने इसके लिये छान-बीन की है। विचार यह था कि जीवनी को पॉच-सौ पृष्ठों से अधिक बढने न दिया जाय। पर, साढे छः सौ पृष्ठ हो जाने पर भी उसमें अभी बहुत कमी अनुभव हो रही है। उस कमी को पुस्तक का आकार बढ़ाये बिना पूरा करना सम्भव नहीं था। यदि इस

संस्करण का योग्य स्वागत हुआ, तो सम्भव है वह कमी दूसरे संस्करण मे पूरी की जा सके। वैसे यह काम एक या दो व्यक्तियो के करने का नहीं था। जालन्धर-आर्य-समाज, पजाब-प्रतिनिधि-सभा, गुरुकुल-कांगड़ी और आर्य-सार्वदेशिक-सभा पर स्वामी जी का जो उपकार और ऋण है, उसको देखते हुए उनमें से ही किसी संस्था को यह काम करना चाहिये था। अच्छा तो यह होता कि गुरुकुल की ओर से दो-एक योग्य स्नातकों पर गुरुकुल में ही बैठ कर उसके लिखने का काम डाला जाता और पजाब-प्रतिनिधि-सभा अथवा आर्य-सार्वदेशिक-सभा मिल कर अथवा दोनों में से कोई एक आर्थिक-भार की सब जिम्मेवारी अपने ऊपर लेती। इस यत्न में कमी या त्रुटि अनुभव करने वालों के लिए अब भी समय है कि आगे बढ़े और उसको पूरा करने का यत्न करें।

जीवनी के कुछ हिस्से, सम्भव है, कुछ सज्जनों के लिये कटु और कठोर हो गये हों; सचाई को छिपाये बिना उनको सरल तथा प्रिय बनाना सम्भव नहीं था। इतिहास और जीवनी लिखने का काम इसी से अप्रिय और अरुचिकर भी है।

इस जीवनी के पहिले कुछ भाग तो एक प्रकार से चरित्रनायक की लेखनी से 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से लिये गये आत्म-चरित की ही छाया हैं। आत्म-चरित को जीवनी का रूप देने के लिये ही उनमे आवश्यक परिवर्तन किया गया है। जीवनी के लिखने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी लेखक पर है। उसके लिये किसी दूसरे को जिम्मेवार ठहराना अनुचित और अन्याय होगा। भाई श्री मुकुटबिहारी जी ने हस्तलिखित कापी को पढने और पण्डित अयोध्याप्रसाद जी ने उर्दू-लेखों से सामग्री इकट्ठा करने मे जो सहायता की है, उसके लिए लेखक आप दोनों का अनुगृहीत है।

मराठी मे श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर द्वारा लिखित भगवान् तिलक के चरित्र के दो विशाल-खण्ड तथा अन्य लेखकों द्वारा उनके लेखों तथा संस्मरणो का किया हुआ दिव्य-सग्रह पढ़ कर, श्री पृथ्वीशचन्द्र राय महोदय की देशबन्धु दास के सम्बन्ध में 'सी. आर. दास एण्ड हिज टाइम्स' नाम का अद्भुत ग्रन्थ देखकर और स्वामी रामतीर्थ, परमहस रामकृष्ण, विवेकानन्द, राममोहन राय, टैगोर, गोखले आदि के लेखो तथा जीवनियों पर होते हुए सराहनीय कार्य का परिचय प्राप्त कर—और आर्यसमाज मे आर्यसमाज के विधाताओ—प. गुरुदत्त, प. लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि—के सम्बन्ध मे पूर्ण शान्तिपाठ होता हुआ देख कर यही कहना पडता है कि आर्य-समाज मे ऐसा ठोस साहित्य उत्पन्न करने की अभी प्रवृत्ति ही पैदा नही हुई है। आगे आने वाली सन्तति में ज्ञान, उत्साह, स्फूर्ति एवं प्रेरणा पैदा करने के लिये ऐसे ठोस साहित्य की सब से अधिक आवश्यकता है। ऐसा साहित्य ही वीरपूजा

का निर्देशक है। जिस समाज अथवा जाति में अपने वीरों की पूजा, उनकी स्मृति की रक्षा और भावी सन्तति के सामने उनके आदर्श को उपस्थित करने का यत्न ही नहीं होता, वह किस बूते पर जीवित रहने की आशा रखता है? जीवन के लिये आवश्यक पूर्ति के स्रोत को बन्द करके जीवित रहने की आशा रखना अथवा जीवन के लिये आवश्यक साधनों की खोज करना मृग-तृष्णा के समान है। आर्यसमाज की इस समय कुछ ऐसी ही अवस्था है। चिरस्थायी वीरपूजा की जो भावना बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात तथा मद्रास आदि प्रान्तों में है, आर्यसमाज में उसका अत्यन्ताभाव है। अपने विधाताओं की अर्चना के लिए आवश्यक चिरस्थायी वीरपूजा की ऐसी सामग्री के बिना आर्यसमाज के महोत्सवों की धूम-धाम धूप-दीप-नैवेद्य से खाली थाली हाथ में ले मन्दिर मे आरती उतारने के समान है। सिद्धांतों और वैदिक ऋचाओं के अनुसार जीवन ढालने वालो की जीवनियों के साहित्य के बिना केवल उन सिद्धान्तों और ऋचाओं को लेकर लिखा गया महान् से महान् साहित्य भी प्राणशून्य देह और प्रकाशशून्य दीपक के समान है। टैगोर-स्मृति-ग्रन्थ, द्विवेदी-स्मृति-ग्रन्थ, ओझा-स्मृति-ग्रन्थ सरीखा कौन-सा उद्योग आर्यसमाज में हो रहा है? अजमेर-शताब्दी पर 'दयानन्द-स्मृति-ग्रन्थ' के लिये किया गया यत्न सराहनीय है, पर जो काम शताब्दी-कमेटी को सबसे पहिले हाथ में लेना चाहिये था, उसको सब के बाद हाथ मे लेने से ऐसे साहित्य के सम्बन्ध में आर्यसमाज की मनोवृत्ति का पता लग जाता है। लेखक अपने कुछ स्नातक भाइयो के सहयोग से आचार्य श्रद्धानन्दजी का पत्र-व्यवहार, उनके चुने हुए लेख तथा उनके संस्मरण बड़े-बडे तीन हिस्सो मे प्रकाशित करने के लिए एक आयोजना तैयार करना चाहता है, जिसमें वह वैश्यवृत्ति से नही, किन्तु ब्राह्मणवृत्ति से कुछ समय लगाने का भी विचार रखता है। इन पंक्तियों को पढने और इस जीवनी को देखने के बाद यदि किसी सहृदय सज्जन के हृदय में उस आयोजना मे कुछ सहयोग देने की भावना पैदा हो, तो वह लेखक के साथ नीचे के पते पर पत्र-व्यवहार करने की कृपा अवश्य करे। आर्यसमाज में वीरपूजा की चिरस्थायी साहित्य-सामग्री पैदा करने में सहयोग देना आपका कर्तव्य है। आशा है आप उसका पालन करेगे। आपके उस कर्तव्य-पालन द्वारा ही लेखक इस जीवनी के लिये किये गये अपने यत्न की सार्थकता का अनुमान लगायेगा।

—सत्यदेव विद्यालंकार

'अलकार-बन्धु'
कटरा बड़ियाँ, देहली
गाधी जयन्ती,
2 अक्तूबर, 1933

विषय-सूची

पहिला-भाग

ब्रह्मचर्य

1. बृहस्पति 27
2. बाल्यावस्था 32
3. शिक्षा का प्रारम्भ 34
4. नियमित-शिक्षा और स्वतन्त्र-जीवन का प्रारम्भ 40
5. स्वतन्त्र जीवन के दुष्परिणाम 43
6. पतन का श्रीगणेश 45
7. मथुरा मे दस दिन 48

दूसरा-भाग

क. गृहस्थ

1. द्वितीय आश्रम मे प्रवेश 53
2. बरेली मे अन्धकारमय जीवन 55
3. इस बीच में कालिज की पढाई 57
4. दिव्य-प्रकाश का दर्शन 59
5. पतिव्रता पत्नी 62
6. दो दिन की चाकरी 64
7. फिर से विद्यार्थी जीवन 67
8. स्वतन्त्र आजीविका 70
9. वकालत की परीक्षा 71

ख. नये जीवन का सूत्रपात

1. आर्यसमाज में प्रवेश 79
2. दृढ़ आर्य बनने की तैयारी 83
3. मांस-भक्षण का त्याग 84
4. जालन्धर आर्यसमाज में पहिला भाषण 86
5. धर्म-संकट 88
6. पिताजी के विचारों में परिवर्तन 92
7. मुख़्तारी की दुकानदारी 94
8. पिताजी की बीमारी और देहावसान 96
9. वकालत की अन्तिम परीक्षा और उसका अनुभव 99

ग. सार्वजनिक-जीवन का उपक्रम

1. धार्मिक उत्साह का प्रारम्भ 107
2. बिरादरी से ख़ारिज किये जाने की धमकी 110
3. धर्म-प्रचार का विस्तार 112
4. जालन्धर आर्यसमाज का पहला उत्सव 113
5. पं. दीनदयालु जी से मुठभेड़ 115
6. बम्बई की पहली यात्रा 118
7. पहिले पुत्र का जन्म 120
8. जालन्धर-आर्यसमाज का दूसरा उत्सव 121
9. सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा 122
10. इन दिनों का व्यक्तिगत जीवन 124
11. धर्म-प्रचार की धुन और जालन्धर-समाज का तीसरा उत्सव 127
12. दो-तीन दुःसह वियोग 135

घ. आर्यसमाज का नेतृत्व

1. महात्मा मुंशीराम 141
2 सद्धर्म-प्रचारक 143
3. हरिद्वार में कुम्भ-प्रचार 154
4. स्त्री-शिक्षा की लगन 156

5. धर्म-पत्नी का देहान्त 158
6. आर्यसमाज में गृह-कलह 162
7. आर्य-पथिक का बलिदान और उसका क्षणिक प्रभाव 183
8. प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद का दायित्व 185
9. पण्डित गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ और मुकदमा 191
10. गुरुकुल का स्वप्न 197

तीसरा-भाग

वानप्रस्थ

क. गुरुकुल
1. सर्वमेध-यज्ञ 209
2. कॉगडी में गुरुकुल 213
3. विस्तार 217
4. गुरु-शिष्य सम्बन्ध 220
5. लोकप्रियता 225
6. भ्रम और विरोध 231
7. गुरुकुल और प्रकाशपार्टी 234
8. सरकार की तिरछी नजर 238
9. आकर्षण और विशेषताये 245
10. गुरुकुल और महात्मा गाधी 253
11. असिद्ध-स्वप्न 258
12. गुरुकुल से जुदाई 260

ख. आर्यसमाज और सरकार
1. सरकारी कोप का कारण 265
2. कुछ उदाहरण 269
3. मुशीराम जी का सराहनीय कार्य 272

ग. विविध
1. आर्यसमाज का प्रचार 283

2. आर्य-सार्वदेशिक-सभा 287
3. परोपकारिणी-सभा 290
4. आर्यकुमार-सम्मेलन 292
5. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन 293
6. महान् व्यक्तित्व 296

चौथा-भाग

संन्यास

1. स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी 301
2. संन्यासाश्रम में प्रवेश 303
3. आर्यसमाज का इतिहास 305
4. गढ़वाल में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता 309
5. धौलपुर का समाज-मन्दिर 314
6. राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में 315
7. गुरुकुल में फिर दो वर्ष 356
8. आर्य-सार्वदेशिक-सभा और मद्रास-प्रचार 371
9-10. हिन्दू-महासभा, संगठन और शुद्धि 382
11. आर्यसमाज 402
12. अन्तिम-दिन 408
13. अमर-पद की प्राप्ति 412
14. सिंहावलोकन 415

पहिला-भाग

ब्रह्मचर्य

1. बृहस्पति, 2. बाल्यावस्था, 3. शिक्षा का प्रारम्भ, 4. नियमित शिक्षा और स्वतन्त्र जीवन का आरम्भ, 5. स्वतन्त्र जीवन के दुष्परिणाम, 6. पतन का श्रीगणेश, 7. मथुरा में दस दिन

1. बृहस्पति

आर्यसमाज फलित ज्योतिष और उसके आधार पर बनाई जाने वाली जन्मपत्रियों को नहीं मानता, तो भी घुणाक्षर न्याय से जन्मपत्री तैयार करने वाले पाधों (पण्डितो) की अटकल कभी-कभी बिलकुल ठीक बैठ जाती है। आर्यसमाज ही में नहीं, समस्त हिन्दूसमाज में नाम कां बहुत महत्त्व है। इसीलिये माता-पिता यदि पुराण मतावलम्बी हुए तो पाधों की जन्मपत्रियो के और आर्यसमाजी हुए तो 'संस्कार विधि' के अनुसार सन्तान का नाम रखना बहुत आवश्यक समझते हैं। 'यथा नाम तथा गुण' की कहावत पर हिन्दू समाज का दृढ़ विश्वास है। हमारे चरित्रनायक मृत्युंजय स्वामी श्रद्धानन्द के माता-पिता कट्टर पुराण-मतावलम्बी थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उन्होने अपनी सन्तान का जन्म-नाम पाधे की जन्मपत्री के अनुसार 'बृहस्पति' रखा। 'बृहस्पति' नाम व्यवहार में कभी नहीं आया, किन्तु यह नाम चरित्रनायक की जीवनी के बिलकुल अनुरूप था, मानो पाधाजी ने मुशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) के भावी जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए ही यह नाम रखा था। यह ठीक है कि आरम्भिक (1885 तक के) स्वच्छन्द जीवन को देखते हुए यह कल्पना भी नही की जा सकती थी कि आचार-विचार तथा आहार-व्यवहार में भी बे-लगाम दौडने वाले मुशीराम जी 'महात्मा' पद प्राप्त करेंगे, 'गुरुकुल विश्वविद्यालय' सरीखी सस्था की स्थापना करके अठारह वर्ष तक उसके 'आचार्य' पद को सुशोभित करेगे, जीवन के अन्तिम हिस्से में सन्यासाश्रम में प्रवेश करके न केवल हिन्दूसमाज प्रत्युत मनुष्यमात्र की दृष्टि में 'गुरुपद' पर प्रतिष्ठित होंगे और इस प्रकार जन्म-नाम 'बृहस्पति' को सार्थक करेंगे। परन्तु अपने चरित्र से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि अपने यौवन में भोग विलास का सुखी तथा सम्पन्न जीवन बिताने वाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का उद्धारक, महात्मा और संन्यासी बन सकता है, सरकारी नौकरी में पूर्ण ईमानदारी का जीवन बिताने वाले पिता के घर में भी राजद्रोही पुत्र पैदा हो सकता है, संसार में नायब तहसीलदारी

के लिवास में प्रवेश करने वाला भी सत्याग्रही बनकर न केवल जेल जा सकता है किन्तु नेताओं में भी अग्रणी हो सकता है, नास्तिकता की लहर में पूरी आजादी का निरंकुश जीवन बिताने वाला भी धर्म पर अपना तन-मन-धन सर्वस्व न्योछावर कर सैकड़ों-हज़ारों के लिये धर्म की दृष्टि से भी मार्गदर्शक बन सकता है और यत्किंचित् प्रलोभन मे फॅस कर युवावस्था की एक लहर में बरसों की कमाई को एक घण्टे में डुबा देने वाला भी इन्द्र की माया तक को परास्त करने वाला संयमी, तपस्वी और दृढ़ व्रती हो सकता है। यही इस चरित्रनायक के जीवन का सार है। गहरे पतन के बाद इतना महान् उत्कर्ष जिस जीवन में है, वह वस्तुतः आशा का जीवन है और आदर्श जीवन है। ऐसा आदर्श जीवन ही राष्ट्र की भावी सन्तान में बलवती आशा का सचार कर उसको कर्तव्य-पथ की ओर अग्रसर कर सकता है। सार्वजनिक जीवन की कौन सी ऐसी दिशा है जिसमें यह जीवन प्रकाश-स्तम्भ का काम नहीं दे सकता? एक देशभक्त के लिए देहली के घण्टाघर के नीचे गुरखों की किरचों के सामने छाती ताने हुए स्वामी श्रद्धानन्द से बढकर और कौन सा चित्र स्फूर्तिदायक होगा? देहली की शाही मसजिद के मिम्बर से भाषण देने वाले स्वामी श्रद्धानन्द से बढ़ कर और किसने हिन्दू मुसलमान दोनों से एक-सा सम्मान प्राप्त किया है? सर्वत्र निराशा तथा आतंक छा जाने के बाद भी अमृतसर मे काग्रेस के अधिवेशन को सम्भव बना देने वाले स्वामी श्रद्धानन्द किस निराश हृदय में आत्मविश्वास की स्फूर्ति पैदा नही कर सकते? जहाँ भी गये वहाँ ही सदा आगे रहने वाले और जिस काम को भी हाथ में लिया उसको ही पार लगाने वाले स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन तो क्या, उनके जीवन की कहानी भी, नवजीवन का जीवित सन्देश है। समाजों और राष्ट्रों का इतिहास ऐसी जीवन-कहानियों के सग्रह से ही बनता है। देश के हजारो युवक अपने आत्मत्याग तथा सर्वस्व बलिदान द्वारा भारतवर्ष के जिस नवीन इतिहास का निर्माण कर रहे हैं, यह जीवनी उसके कुछ पृष्ठ हैं। यह जीवनी ऐसे ही आत्मोत्सर्ग किवा सर्वमेधयज्ञ के अनुष्ठान की गौरवपूर्ण आख्यायिका है।

उस अनुष्ठान द्वारा अमृत-पद को प्राप्त करने वाले मृत्युंजयी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का जन्म फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी सं. 1913 वि. को जिला जालन्धर के ग्राम तलवन में एक ऐसे कुल में हुआ था जो अपने ही उद्योग से साधारण से असाधारण अवस्था को प्राप्त हुआ था।

सतलुज और व्यासा की गोद में खेलने के कारण पंजाब-प्रान्त के दुआबा-प्रदेश को प्रकृति की कुछ विशेष कृपा प्राप्त है। अन्न की पैदावार इस प्रदेश में इसीलिये

कुछ अधिक होती है। इस प्रदेश के सर्वसाधारण भी अन्य प्रदेशवासियों की अपेक्षा कुछ अधिक सम्पन्न, सुखी और स्वस्थ हैं। इस दुआबा प्रदेश का मुख्य जिला जालन्धर है, जिसके मुख्य शहर का नाम भी जालन्धर ही है। यदि पौराणिक जनश्रुति को ठीक माना जाय तो यह शहर बहुत प्राचीन है। पुराणों मे प्रसिद्ध 'दैत्य-जलन्धर' की यही राजधानी थी, जहाँ कि वह मुरारि के हाथों मारा गया था। ज़िला जालन्धर की पूर्वी हद्द पर सतलुज के किनारे 'तलवन' एक कस्बा है। कभी यह बड़ा शहर था और जिले के प्रमुख शहरों में इसकी गिनती होती थी। इसी उपनगर में वह कुल पिछली तीन चार पीढ़ी से आकर बसा था जिसमें कि हमारे चरित्र-नायक का जन्म हुआ। पूर्व-जन्म के सस्कारों के साथ-साथ वंश-परपरागत-सस्कारों का सन्तान के सुधारने या बिगाड़ने में बड़ा स्थान है। इसलिये उस कुल की कुछ विशेषताओं का थोड़े में उल्लेख करना आवश्यक है।

भगवद्-भक्ति उस कुल की परम्परागत विभूति थी। उस विभूति से पैदा होने वाले सद्गुणों से भी यह कुल खाली नहीं था। वीरता, सज्जनता, निर्भयता और स्पष्टवादिता आदि सब गुण स्वामी जी को विरासत में मिले थे। उनके परदादा श्री सुखानन्द जी आनन्द की मूर्ति थे। उनके मुख पर सदा ही शान्ति बनी रहती थी और चित्त हर समय प्रसन्न रहता था। क्रोध करना और गाली देना वे जानते ही नहीं थे। 'सयाना' उनके मुँह से निकलने वाली सबसे बड़ी गाली थी। उनके पाँच पुत्र थे, जिनके नाम थे :—कन्हैयालाल, हीरानन्द, माणिकचन्द्र, गुलाबराय और महताबराय। श्री कन्हैयालाल जी महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में कपूर्थला राज के प्रतिनिधि थे। दरबार में उनकी बात बहुत चलती थी। अपने ग्राम तलवन में उन्होंने एक शिवालय बनवा दिया था। उसमें श्री सुखानन्द जी दोनो समय बराबर पूजा किया करते थे। चरित्र-नायक के दादा श्री गुलाबराय जी को भी हरि-भक्ति की बडी लगन थी। बड़े सवेरे, ब्राह्म मुहूर्त्त मे, उठ कर स्नान करके गीता आदि का पाठ करते और कबीर आदि भक्तों के शब्द गाया करते थे। कपूर्थला में वे रानी हीरादेवी के मुखतार थे। महाराज नौनिहाल के गद्दी पर बैठने पर रानी हीरादेवी अपने पुत्रों, सरदार विक्रमसिह और कुँवर सुचेतसिह, के साथ जालन्धर आकर बस गई। जालन्धर शहर मे 'हीरामाई का बुआ' उनके ही नाम पर प्रसिद्ध है। श्री गुलाबराय जी महाराज के दबाव और प्रलोभन में नही फँसे। वे भी रानी हीरादेवी के साथ जालन्धर चले आये। सवेरे की प्रार्थना के बाद वह जब ऊँचे स्वर में भजन गाते तब महल मे प्रायः सभी की नींद खुल जाती। एक दिन सरदार विक्रमसिंह ने कहा, "लाला जी! आप क्या परमेश्वर का नाम दिल

में नहीं ले सकते?" लाला जी ने निर्भीक और स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "मेरे मन मे तो सदा ही परमात्मा बसते हैं, परन्तु जो मूर्ख भजन के अमृतवेला में भी बेहोश हुए सोये रहते हैं, उनको सचेत करने के लिये उच्च स्वर में भजन बोलता हूँ।"

श्री गुलाबराय जी के छः सन्तान थी। चरित्र-नायक के पिता का नाम नानकचन्द था। श्री नानकचन्द जी अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे। छुटपन से ही अपने पिताजी से शिव-पूजा की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके उसको 14 वर्ष की आयु में जो शुरू किया तो मृत्युपर्यन्त 59 वर्ष की आयु तक बराबर निभाया। स्पष्टवादिता (मुँहफट) का गुण आप में अपने पिताजी की अपेक्षा भी कुछ अधिक ही था। इसी से आपको नौकरी के लिए बडी ठोकरें खानी पडीं। कपूर्थला में थानेदारी की, पर वज़ीर दानिश्मन्द से कुछ कडी बातचीत होने पर त्यागपत्र दे दिया। सियालकोट में फौजदारी में खजांची का काम किया। वहाँ भी अंग्रेज हाकिम से नहीं बनी। उसके बाद अमृतसर की तहसील मे मुहाफिज़-दफ़्तर हुए। तहसीलदारी के पद पर शोभाराम लँगडा काम करता था। उस पर घूस का मामला चला। तहसील के सब आदमी नौकरी से हटा दिये गये। पर आपके विरुद्ध कोई भी शिकायत सुनने में नहीं आई। फिर भी आप खिन्न हो नौकरी छोड कर घर चले आये और पूजा-पाठ में ही अपना सब समय बिताने लगे। घर आकर आपने अलग रहना पसन्द किया। घर से नकद कुछ न लेकर केवल एक दालान और एक कोठरी ले ली। उसी में सपरिवार रहने लगे। कुछ दिन बाद लाहौर जाकर चौकीदारों के बख़्शी नियत हो कर फिर नौकरी शुरू की। पर, वहाँ वेतन बहुत कम था और इधर बड़ी लडकी प्रेमदेवी के विवाह का अवसर भी सिर पर आ गया। परिवार का गुज़ारा चलाते हुए अपनी आमदनी से विवाह का भारी खर्च सम्हालना कठिन था। घटनाचक्र का कुछ ऐसा परिणाम हुआ कि श्री नानकचन्द जी को भी सम्वत् 1914 (सन् 1857) के विप्लव मे अन्य अनेक देशवासियो की तरह देश को पराधीन करने वाले अंग्रेजों की सेवा या सहायता का ऐसा अवसर हाथ लग गया कि उनकी सोयी हुई किस्मत जाग उठी। घर-गृहस्थी के झंझट से तंग आकर आपने देहली जाने का निश्चय किया और एक काने टट्टू पर सवार हो लिये। हिसादे में ठीक उस दिन पहुँचे, जिस दिन विप्लवियों ने शहर पर चढ़ाई करने की ठानी हुई थी। एक सिख-सरदार की बहादुरी से हिसार की मुठभेड़ में गोरों की जीत हुई। श्री नानकचन्द जी ने एक चौधरी के घर में ब्रह्मभोज के लिये बना-बनाया सामान गोरी फौज के लिये लेकर उसके भोजन का आशातीत

प्रबन्ध अनायास ही कर दिया। इसी शुभ कार्य के पुरस्कार-स्वरूप आपको हिसार का कोतवाल नियुक्त किया गया और विद्रोहियो को फॉसी पर लटकाने का काम भी आपको ही सौंपा गया। यहॉ आपने 'ऊपर की कमाई' से बहुत-सा धन जमा किया। पुत्री के विवाह के लिये पर्याप्त धन जोड़ने के अलावा एक छोटी-सी घुड़सवार फौज भी खड़ी कर ली। अपने परिवार के 25 व्यक्तियों को अफसर नियत कर जाटों को फौज में भरती किया। इस फौज के साथ मेरठ आकर रिसालदार नियत हो गये। रिसालदार हो कर आपने पहला 'शुभ काम' यह किया कि तीन महीने लगा कर सहारनपुर जिले को हथियारों से खाली कर दिया। उसके बाद ही नेपाल की तराई में मेलाघाट की लडाई हुई। वहॉ आप रिसाले के साथ गये और विजयी हो कर बांस-बरेली लौटे। सम्वत् 1914 के विप्लव में अगरेजों की पूरी जीत हो चुकी थी। विजय के बाद शासन को सुव्यवस्थित रूप मे चलाने का काम शुरू हुआ। इसलिये फौज को तोड कर पुलिस की भरती होने लगी। श्री नानकचन्द जी की सेवा अथवा सहायता को असाधारण समझा गया, जिसके पुरस्कार मे आपको 1200 बीघा जमीन, नहीं तो पुलिस इन्स्पेक्टर की नौकरी, लेने के लिये कहा गया। हिसार की कोतवाली की आमदनी आपके सामने थी। इसलिये खेती के उत्तम और चाकरी के निकृष्ट होते हुए भी आपने चाकरी को ही पसन्द किया। इन्स्पेक्टर होकर बरेली की पुलिस-लाइन्स का चार्ज सॅभाल लिया। फौज के साथी और दूसरे सम्बन्धी भी पुलिस की ही नौकरी मे लग गये।

नेपाल की तराई मे मेलाघाट की लडाई के पडाव पर ही छठी सन्तान होने का समाचार आपको मिला। यही छठी सन्तान पहिले तो स्वनामधन्य महात्मा मुशीराम और बाद मे अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुई। आपके तीन भाई और दो बहिने और थीं। आयु के क्रम से सब भाई बहिनों के नाम ये थे—(1) सीताराम, (2) प्रेमदेवी, (3) मूलराज, (4) द्रौपदी, (5) आत्माराम और (6) मुंशीराम। मुंशीराम का जन्म का नाम पाधे का रखा हुआ 'बृहस्पति' था। पर, यह नाम व्यवहार में कभी नही आया।

2. बाल्यावस्था

बालक मुंशीराम की बाल्यावस्था का अधिक हिस्सा पिताजी की नौकरी के कारण खेलकूद में ही बीता। नौकरी में पिताजी का तबादला भी बराबर एक जगह से दूसरी जगह होता रहा। इसलिये आवारागर्दी भी बचपन से ही साथ लग गई। फिर नौकरी भी ऐसी थी कि शहर में सर्वसाधारण पर पिताजी की राजा की-सी धाक जमी रहती थी। ऐसी नौकरी में सबसे छोटी सन्तान होने से घर वालों के अलावा शहर भर का लाड़ मिलना भी सहज ही था। इसी से बालक मुंशीराम की बाल्यावस्था का अधिक हिस्सा लाड लड़वाने और आवारागर्दी में बीता। इस लाड़ और आवारागर्दी के दुष्परिणाम भी थोड़ी या अधिक मात्रा में उसको भोगने ही पड़े।

लड़ाइयो की मुठभेड़ से छुट्टी पाकर श्री नानकचन्द जी बरेली में पुलिस-लाइन्स की इन्स्पेक्टरी का निर्द्वन्द्व अथवा स्वच्छन्द जीवन बिताने लगे। अब आपने अपने परिवार को भी तलवन से बरेली बुला लिया। माता जी तीनों लड़कों को साथ लेकर जब बरेली आई, तब बालक मुंशीराम जी की आयु के तीन वर्ष पूरे हो चुके थे। बरेली आने के बाद बालक के अगले तीन वर्ष भी खेलकूद में ही व्यतीत हुए। सीताराम और आत्माराम की पढ़ाई के लिये मौलवी साहब नियत किये गये। उन दोनों की पढाई नियमपूर्वक होने लगी और बालक मुशीराम पुलिस-लाइन्स में इधर से उधर लाड़ प्राप्त करते फिरने लगा। पर, फिर भी अपने भाइयों की अपेक्षा बालक मुंशीराम प्रतिभा-सम्पन्न था। खेलकूद में लगे हुए ही मौलवी के पढ़ाते समय बालक जो सुन लेता, उसको तुरन्त याद कर लेता। दूसरे दिन जब दूसरे भाई मौलवी को पाठ न सुना सकते, बालक मुंशीराम तुरन्त सब सुना देता।

बरेली से कोर्ट इन्स्पेक्टर नियुक्त होकर श्री नानकचन्द जी की बदली बदायूँ हो गई। यहाँ भी तीन वर्ष और लाड़-प्यार तथा स्वच्छन्दता मे ही बीते। बरेली की पुलिस-लाइन्स मे खेलते-कूदते बालक ने फौजी सलाम करना सीख लिया था। बदायूँ में फौजी सलाम की यह क्रिया काम आई। कचहरी के मुहर्रिर और दूसरे

सब लोग भी बालक से फौजी-सलाम कराते और उसको इनाम में काग़ज़-कलम देते। बालक घर में आकर दवात लेकर उन कलमों और काग़ज़ों का सदुपयोग यह करता कि फ़ारसी की किताबें लेकर मक्खी पर मक्खी मारता हुआ लिखने का अभ्यास करता। बरेली में मौलवी के सुने सुनाए पाठ को याद करने और बदायूँ में इस प्रकार काग़ज़ों को काला करने से ही मुंशीराम की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ समझना चाहिये।

बदायूँ से श्री नानकचन्द जी का तबादला एक दर्जा और उन्नति पाकर बनारस को हुआ। यहाँ आप विजिटिंग कोर्ट-इन्स्पेक्टर नियुक्त किये गये। यह समय सम्भवतः सम्वत् 1922 के अन्तिम मास का था। विज़िटिंग कोर्ट इन्स्पेक्टर होने से प्रायः आपको जिले के थानों का निरीक्षण करने के लिए दौरे पर रहना पड़ता था। घर पर आप बहुत कम रहते थे। मकान बहुत बड़ा था और शहर से बाहर एकान्त में था। कोई पास-पड़ोस न होने से माता जी ने एक और पंजाबी परिवार को बिना किराया लिये ही उस घर में बसा लिया था। उस परिवार की गृहदेवी श्रीमती निहालदेवी पंजाबिन होने पर भी छूत-छात में बनारस वालों के भी नाक-कान काटती थीं और घर में सब का नाकों दम कर रखती थीं। ठिठुरते जाड़ों में भी बालकों को सब कपड़े उतार कर टट्टी जाने और स्नान करके कपड़े पहिरने का हुक्म था। कहीं किसी ऐसी-वैसी चीज़ को पैर तक छू गया या मोरी में ही कहीं पैर पड़ गया तो कपड़े धोये और स्नान किये बिना छुट्टी नहीं मिलती थी। माता जी इससे तंग आ गई। निहालदेवी जी से अपना घर खाली करवा लिया और बाद में स्वयं भी उस मकान को छोड़कर लाहौरी टोले में चारों ओर से खुला एक हवादार मकान ले लिया। बरेली और बदायूँ के लाड़ले जीवन का सिलसिला बनारस में भी जारी रहा। एक दिन पिताजी किसी मामले की रिपोर्ट लिखने में तल्लीन थे। लाड़ले बेटे ने शोर मचाया। पिताजी ने झिड़क दिया। जिस बेटे की स्वच्छन्दता पर किसी ने अंगुली तक नहीं उठाई थी, वह इस झिड़की को कैसे सहन करता? लाड़ले बेटे ने सीढ़ी में जाकर वहाँ लगी हुई रस्सी में लटक कर फाँसी लगाने की धमकी दी। पिताजी आये और बालक को एक चपत लगाकर रस्सी से छुड़ा लाये। आठ-नौ वर्ष के लाड़ले जीवन की स्वच्छन्दता में यह पहला ही आघात था। बालक ने रो-रो कर घर सिर पर उठा लिया। पिता की ताड़ना से रूठे हुए या रोते हुए बेटे को चुप कराने का काम माता का ही है। माता जी ने बालक को गोद में लिया और किसी तरह चुप कराया।

3. शिक्षा का प्रारम्भ

काशी आने के बाद भी बालक की नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू नहीं हुई, पर प्रतिभा-सम्पन्न कुशाग्रबुद्धि होने से वह सुना-सुनाया बहुत-सा याद कर लिया करता था। पिताजी की पूजा के समय पाठ करते हुए सुने हुए बहुत से स्तोत्र और काशी-माहात्म्य आदि इसी प्रकार याद किये थे। सम्वत् 1923 के आरम्भ में बालक को यज्ञोपवीत पहिनाने का विचार किया जाने लगा। यज्ञोपवीत-संस्कार का सम्बन्ध शिक्षा से है और शिक्षा का सम्बन्ध है गुरु से। इसलिये प्राचीन काल में गुरुकुल में प्रवेश करने के समय ही बालक को यज्ञोपवीत पहिनाया जाता था। आजकल ये सब संस्कार नाम-मात्र के रह गये हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार की विधि तो इतनी ही रह गई है कि यज्ञोपवीत धारण करने के बाद वेदारम्भ हो चुकने पर जब बालक काशी पढ़ने के लिये जाने को घर से बाहिर निकलता है, तब बहिन आकर रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती और भाई को घर में ही पढ़ाने का प्रबन्ध करने का वायदा करके लौटा लाती है। उसी दिन उसका समावर्तन-संस्कार भी हो जाता है। बालक मुंशीराम के इस सस्कार में दो दिक्कतें पेश हुई। एक तो यह कि उसकी अपनी कोई बहिन वहाँ थी नहीं, जो उससे घर मे पढ़ने का वायदा करती और दूसरी यह कि काशी में ही होने से कहाँ पढ़ने जाने का नाटक रचा जाता? दोनों को सहज में हल कर लिया गया। एक धर्म की बहिन बनाई गई और काशी की जगह काश्मीर का नाम रख लिया गया। काश्मीर भी काशी के समान कभी तो विद्या का केन्द्र था ही। संस्कार का नाटक पूरा हो गया और बालक की पढ़ाई का भी कुछ सिलसिला शुरू हुआ। पढ़ाई की समाप्ति का (समावर्तन) संस्कार साथ ही में न करके पिताजी ने एक पण्डित रखकर हिंदी की पढ़ाई शुरू करा दी। पण्डित की पढ़ाई को सन्तोषजनक न देखकर मुंशीराम को अपने बड़े भाई के साथ पिताजी ने एक हिंदी-पाठशाला में भरती करा दिया। मुंशीराम पाठशाला का काम पाठशाला में ही समाप्त कर लेता और घर मे आकर पिताजी की

तुलसी-कृत रामायण लेकर नित्य-प्रति पढ़ने लगता। पिताजी के दैनिक पूजा-पाठ का भी बालक-हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि भाई के साथ मिलकर एक मन्दिर से शिवलिंग उठा लाया और और पिताजी के समान ही उसकी धूप, दीप, नैवेद्य और फल-फूल आदि से विधिवत् पूजा करने लगा। सवा डेढ़ वर्ष से अधिक पढ़ाई का यह क्रम जारी नहीं रह सका, क्योंकि श्री नानकचन्द जी की बदली काशी से बाँदा हो गई। बाँदा आकर पढ़ाई का क्रम कुछ बदला। वहाँ के स्कूलों में हिंदी की शिक्षा का प्रबन्ध बिलकुल नहीं था। उर्दू का कुछ भी ज्ञान न होने से पढाई का क्रम फिर प्रारम्भ से शुरू हुआ। पर, बनारस में रामायण से जो अनुराग हुआ था, वह बाँदा में आकर बहुत अधिक बढ़ गया। यहाँ महाभारत का हिन्दी अनुवाद भी पढ़ना शुरू किया। 'रामचरितमानस' से प्रेम पैदा होने की घटना का सयोग कुछ अनहोना सा है। मुंशीराम को विषम ज्वर ने आ दबाया। डाक्टरों और हकीमों की दवा से कुछ लाभ न हुआ। लोगों के कहने पर बुद्धू भगत को बुलाया गया। उसकी दवा असर कर गई और भगत जी परिवार के डाक्टर बन गये। वाल्मीकि की तरह उनके जीवन में भी एकाएक ही परिवर्तन हुआ था और उस परिवर्तन का कारण था रामायण का उत्तरकांड। परिवर्तन से पहिले बुद्धू हर एक छल-फरेब और चालबाजी में प्रवीण थे। मुकद्दमे लड़ाना और झूठे गवाह खड़ा करना उनका पेशा था। पर, रामायण से ऐसी काया पलट हुई कि सब छोड़ छाड कर कौड़ियों की दुकान कर ली, बीमारों का मुफ्त औषधोपचार करने लगे और रात को नित्य प्रति जनता को रामभक्ति का मधुर-रस पान कराने लगे। श्री नानकचन्द जी पर भी इस रामभक्ति का ऐसा असर हुआ कि रात को थाने के सब लोगों के साथ उस कथा मे शामिल होने लगे। न केवल सिपाही और अफसर ही किन्तु गिरफ्तार किये हुए अपराधियो को भी उस कथा में लाया जाता। बालक मुशीराम पर उस कथा का अद्भुत प्रभाव पड़ा। वंशपरम्परागत भक्ति-भाव-पूर्ण सस्कारों पर उस सत्संग ने अपना पूरा रंग जमाया। शनिवार को स्कूल से लौटने के बाद रामायण का पाठ शुरू करके रविवार की रात तक उसको पूरा कर देते और रविवार के सवेरे एक टाँग खड़े होकर 'हनुमान् चालीसा' का सौ बार पाठ करने के बाद बिना नमक का भोजन करते। बाँदा में श्री नानकचन्द जी लगभग तीन वर्ष रहे और बालक के अभ्यास का यह क्रम भी प्रायः तीन वर्ष जारी रहा। पर, उसमें विघ्न भी कुछ कम नहीं पडा। बाँदा का एक 'सब-डिवीजन' करवी है। श्री नानकचन्द जी को दो बार वहाँ का चार्ज लेकर जाना पडा। उससे बालक की पढ़ाई का क्रम तो दो बार टूटा, पर उसको चित्रकूट के प्राकृतिक और ऐतिहासिक

सब दृश्य देखने का अवसर सहज में मिल गया। बालक के साधारण ज्ञान में जो उन्नति हुई, उसकी तुलना मे पढ़ाई की हानि कुछ अधिक नहीं थी।

फाल्गुन सं. 1928 वि. में श्री नानकचन्द जी की मिर्जापुर को बदली हो गई। मिर्जापुर में चैत्र के नवरात्र में विन्ध्याचल पर विंध्यवासिनी देवी का सुप्रसिद्ध मेला लगता है। वहॉ पहुॅचने के कुछ ही दिन बाद मेले का वह अवसर आ गया। श्री नानकचन्द जी मेले के प्रबन्ध के लिये वहाँ गये। मुंशीराम भी साथ में था। पूरा एक महीना इस मेले का आनन्द लूटने में निकल गया। पढ़ाई में उससे भी बहुत बाधा पहुॅची, पर अनुभव का ज्ञान यहॉ भी कुछ कम नहीं प्राप्त हुआ। जो घटनाऍं सर्व साधारण के लिये बिलकुल साधारण होती हैं, वे ही किसी विशेष हृदय पर जादू का-सा असर कर जाती हैं। महापुरुषों के जीवन-निर्माण का काम करने वाली घटनाओं का पता लगाना बहुत कठिन काम है। यहॉ की ऐसी दो घटनाओं का वर्णन चरित्रनायक के शब्दों में ही करना ठीक होगा। उन्होंने लिखा है–"उसी स्थान में पिताजी के अर्दली सार्जेण्ट जोखू मिसर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढ़ते, उनमें से सात की सिरियें मिसिर जी की पेट पूजा के लिये भेंट आतीं। सात बकरों के सिर मुफ़्त, कण्डों (उपलों) की आग मुफ़्त, मिट्टी की हंडिया मुफ़्त, नमक व हल्दी भी मुफ़्त–हॉं, पाव भर चून (आटा) मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे, सातों सिरियों का सफ़ाया करके शेष थाली पाव भर चून की लिट्टी (बाटी) से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूंबड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हंडिया पकते पकते पिताजी का नौकर चिमटे से चिलम मे आग धर लाया। मिसिर जी आग-बबूले हो गये, और जब कारण पूछा गया तो बोले–"अरे सरकार! हम आपन धर्म कबहूॅ नाहीं छोड़ा। अरे! झूठ बुआला, जुआ खेला, गाजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिसवत लिहा, चोरी दगाबाज़ी किहा–कौन फन फरेब बाटें जोन हम नाहीं किहा। मुल सरकार! आपन धरम नहीं छोड़ा।' सरकार तो मुस्करा कर चल दिये और मेरे पेट में हॅसते-हॅसते बल पड़ गये। जोखू मिसर का मामला तो मनोरंजक था, परन्तु थाने की छत से जो एक राजा को स्त्री नग्न करके देवी की पूजा करते देखा उस दृश्य ने मुझे ऐसे धनाढ्य पुरुषों से बड़ी घृणा दिलाई।" जब कि मनुष्य स्वयं ही अपने जीवन के चढ़ाव उतराव की कारण-भूत घटनाओं का ठीक ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता, तब दूसरे इस सम्बन्ध में क्या कह सकते हैं? फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि बालक मुंशीराम का गहरे अन्धकार में पतन होने के बाद जो चमत्कारपूर्ण उत्थान हुआ है, उसमें ऐसी सब घटनायें अपना

पूरा स्थान रखती हैं और पिताजी द्वारा किये गये इस भ्रमण में प्राप्त अनुभव अगले जीवन में बहुत काम आते हैं। इसलिये इस समय में नियमित पढ़ाई न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह समय बिलकुल निरर्थक गया।

मिर्ज़ापुर में देवी के मेले से लौट कर सरकारी स्कूल के तीसरे दर्जे में प्रवेश पाकर उर्दू फ़ारसी के अलावा अरबी का अभी अभ्यास ही शुरू किया था कि सं. 1928 के श्रावण मास के आरम्भ में पिताजी की फिर काशी बदली हो गई। अब आप अव्वल दर्जे के इन्स्पेक्टर नियुक्त किये गये और निश्चित वेतन के अतिरिक्त सौ रुपया मासिक म्युनिसिपैलिटी से मिलना तय हुआ। काशी में दूसरी बार आकर पहले तो ब्रह्मनाल मुहल्ले के पास कपूर्थला की धर्मशाला में डेरा डाला गया। कुछ समय बाद उसी मुहल्ले में एक खुला चार-मंजिला मकान किराये पर ले लिया गया। काशी की कोतवाली नवाबी के ही समान समझी जाती थी। इसलिये लाड़-प्यार में पले हुए मुंशीराम के लिये काशी का इस बार का जीवन युवराज के जीवन से कुछ कम न था। यहाँ पढ़ाई एक बार के लिये फिर रुक-सी गई। वर्ष ऋतु का सुहावना मौसम था। गाने-बजाने और नाच-रंग का चारों ओर दौरदौरा था। कोतवाल के दरवाजे पर सदा ही रईसों की गाड़ियाँ खड़ी रहती थीं और जहाँ-तहाँ के नाच-रंग में शामिल होने के सिवा बालक को दूसरा कुछ काम नहीं था। बरसात के मौसम से ही काशी में मेलों की धूम मची रहती है। पितरपक्ष के श्राद्ध पूरे होते न होते रामलीला की तैयारियो के दिन आ जाते हैं। गंगा-पार मे महाराज रामनगर और अस्सीघाट में महाराज विजयानरगम् की ओर से होने वाली रामलीलाओ की बहार का कहना ही क्या था? राजकुमारों के लिये सोने-चॉदी के हौदे वाले हाथी आने लगे और आवारागर्दी भी सीमा पार करने लगी।

रामलीला के बाद श्री नानकचन्द जी ने बालको की पढाई के लिये 'लाला भइया' नाम के मुशी को नियत किया। मुंशी जी पढाई की अपेक्षा राजकुमारो की प्रसन्नता का ही अधिक ध्यान रखते थे। पुस्तकों की पढ़ाई कुछ हो या न हो, पर एक-दो कहानियाँ नित्य प्रति जरूर सुनाते थे। पढाया हुआ सबक़ भी इसीलिये नहीं सुनते थे कि कहीं शिष्य नाराज न हो जायँ। ऐसी लारवाही अधिक दिन तक नहीं चल सकी। पिताजी ने मुंशीजी को विदा दी और बालकों को करण-घण्टा स्कूल के मुख्याध्यापक श्री देवकीनन्दन के सिपुर्द किया। कुछ दिन घर पर पढ़ाने के बाद मास्टर साहब ने बालकों को अपने स्कूल में भरती कर लिया। बालक मुंशीराम का नाम चौथी श्रेणी में लिखा गया। काशी आने के पॉच-छः मास बाद सम्वत् 1929 के शुरू में विद्यालय में नाम लिखा गया और भाद्रपद

के अन्त में पिताजी की बलिया की बदली हो गई। स्कूल में भरती होने के बाद भी होली और बुढ़वामगल के मेलों पर फिर आवारागर्दी जारी हो गई। इस आवारागर्दी की कल्पना इसी से की जा सकती है कि स्कूल के नौ मास में मुश्किल से 125 दिन की हाज़री लगी होगी। सम्वत् 1930 के दशहरे पर भी इसी प्रकार मौजें लूटीं और हाथियों की सवारी की। सारांश यह है कि काशी का इस बार का जीवन हुकूमत का मज़ा चखने और रंगरेलियों के मनाने में ही गया। इसके अलावा सवेरे गंगास्नान और विश्वनाथ आदि मन्दिरों के दर्शनों के साथ-साथ व्यायाम का भी मुशीराम को एक व्यसन-सा हो गया। प्रतिदिन सवेरे बायें हाथ में डलिया, दायें में झारी और बगल में धोती-अँगोछा दबा कर वह घर से निकल पड़ता। अखाड़े में जाकर लँगोट कस लेता। कुछ डंड-बैठक करके कुश्ती लड़ता और उसके बाद पसीना सुखा कर गंगा में स्नान करता। लौटते हुए रास्ते के सब शिवालयों पर झारी से पानी चढ़ाता आता और विश्वनाथ, सनीचर, महावीर, अन्नपूर्णा और गणेश आदि की विधिपूर्वक बड़ी श्रद्धा से चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से पूजा करता। यह नियम बिना किसी विशेष बाधा के इस काशी-वास में प्रायः बराकर ही निबाहा गया।

बलिया के लिये बदली होने का समाचार पाकर माताजी बडे भाई सीताराम को साथ लेकर घर तलवन चली गई। पिताजी मुंशीराम और आत्माराम के साथ-जल मार्ग से बलिया को रवाना हुए। बलिया इस समय तो स्वतन्त्र ज़िला है, पर उस समय ज़िला गाजीपुर का एक हिस्सा था। इसलिये वहाँ के स्कूल में केवल चार दर्जे तक की पढ़ाई होती थी। पर स्कूल के मुख्याध्यापक श्री मुखर्जी-बाबू बड़े विद्या-व्यसनी थे। वे स्वयं ही श्री नानकचन्द जी के पास आये और मुंशीराम की परीक्षा लेकर उसको अपने स्कूल ले गये। बालक के अंग्रेज़ी के अभ्यास से सन्तुष्ट होकर एक बार एक अग्रेज-कमिश्नर ने उसको पारितोषिक दिया, दूसरी बार राजा शिवप्रसाद सी.एस.आई. इन्स्पेक्टर आफ़ स्कूल्स ने उसको एक दर्जे की विशेष तरक्क़ी दी। बलिया में पढ़ाई के अलावा कुश्ती लड़ने, गतका खेलने और लाठी चलाने की भी शिक्षा प्राप्त की। सैर का भी विशेष शौक़ पैदा हो गया।

रामायण पर श्रद्धा बढ़ाने वाली वहाँ की एक घटना का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। नानकचन्द जी नित्य नियमानुसार बलिया में भी रात को रामायण की कथा किया करते थे। कथा में पुलिस वालों तथा मुहल्ले वालों के अलावा मुक़दमो के सब आसामी भी उपस्थित हुआ करते थे। एक दिन यह प्रायश्चित्त की महिमा बखान रहे थे और कह रहे थे कि अपने दोष को स्वीकार करना ही

सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। आसामियो में से अकस्मात् एक विशालकाय हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति खड़ा हुआ और यह कहता हुआ उनके चरणो में लोट गया कि–

"स्रवन सुजस सुन आयो, प्रभु भजन भव भीर।
त्राहि-त्राहि आरत हरन, सरन सुखद रघुवीर ॥"

श्री नानकचन्द जी के आश्चर्य का पारावार न रहा। उन्होंने उसको उठा कर अपनी असमर्थता प्रकट की, तो उत्तर मिला कि "राम ते अधिक राम कर दासा।" नानकचन्द जी को हार मान कर सब कहानी सुननी पड़ी। आसामी ने चोरी तथा खून का सब दोष यहाँ तक स्वीकार किया कि 'इक़बाल' पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये। चरित्रनायक ने स्वय लिखा है कि "मुझ पर उस दृश्य का बड़ा प्रभाव पडा और अपने जीवन में कई बार उसका स्मरण आया।"

बलिया में मुंशीराम के चारों ओर का वातावरण कुछ अच्छा नहीं था। तहसीलदार, नायब-तहसीलदार, मुनसिफ़, सरिश्तेदार, दारोगा और हैड मुहर्रिर वग़ैरह प्राय: सभी वेश्यागामी तथा पतित चरित्र के थे। पर, पिताजी सब विषय-वासनाओं से मुक्त थे। इसलिये मुंशीराम पर उस वातावरण का कुछ असर नही हुआ। रामायण पर जो श्रद्धा थी, उसने भी इस पतित वातावरण से मुंशीराम को बचाये रखा।

4. नियमित शिक्षा और स्वतन्त्र-जीवन का प्रारम्भ

किसी विद्यालय विशेष में नियमित शिक्षा न होने पर भी पिताजी के साथ इधर-उधर घूमने में मुंशीराम ने बहुत कुछ सीख लिया था। हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी का भी विशेष अभ्यास कर लिया था। अब श्री नानकचन्द जी को बच्चों की पढ़ाई की विशेष चिन्ता हुई। अब वे इतने सयाने भी हो गए थे कि उनको विद्याध्ययन के लिये कहीं अकेला छोड़ा जा सकता था। कुछ विचार के बाद बनारस में ही छोड़ना तय किया। तीसरी बार बनारस आने पर वास्तविक विद्यार्थी-जीवन का श्रीगणेश हुआ। अब तक मुंशीराम का जीवन पिताजी की नौकरी के अधीन रहा था। इस विद्यार्थी-जीवन से स्वतन्त्र-जीवन का भी श्रीगणेश हुआ। बनारस का क्वीन्स कालेज उस समय संयुक्त प्रान्त में सर्वश्रेष्ठ विद्यालय समझा जाता था। उसकी आधारशिला सम्वत् 1914 के विप्लव से पहले ही रखी जा चुकी थी। इमारत, अध्यापक और शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से प्रान्त का दूसरा कोई भी विद्यालय उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इसीलिये विद्यार्थियो की योग्यता के लिये भी यह विद्यालय प्रान्त में एक ही था। पौष सम्वत् 1930 में कालेज की दूसरी कक्षा में विद्यार्थी मुंशीराम को सहज में प्रवेश मिल गया। सम्वत् 1934 के ज्येष्ठ-मास के अन्त तक कोई 4॥ वर्ष मुंशीराम ने बनारस में ही विद्यार्थी-अवस्था मे पूरे किये। बीच में 1933 में एक वर्ष रवेडी तालाब के 'जयनारायण कालेज' मे शिक्षा प्राप्त की, बाकी विद्यार्थी-जीवन उक्त कालेज मे ही बिताया। वर्ष के बीच की छुट्टियॉ बलिया आकर पिताजी के पास बिताई। छुट्टियो के बाद काशी आकर परीक्षा की तैयारी शुरू की। इट्रेन्स की परीक्षा थी, जो कि शिक्षा-विभाग द्वारा ही होती थी। परीक्षा के लिये पूरी तैयारी करने के बाद भी एक आकस्मिक घटना के कारण परीक्षा में सफलता नहीं मिली। पिताजी का पत्र आ चुका था कि परीक्षा होते ही तलवन माताजी के पास चले जाना, वहॉ विवाह का शगुन अर्थात् सगाई की रस्म अदा की जायगी। परीक्षा बृहस्पतिवार को समाप्त होनी थी और शुक्रवार

को ही तलवन के लिये विदा होने का कार्यक्रम बनाया जा चुका था। बृहस्पतिवार की शाम को, जब कि परीक्षा-भवन में बैठे हुए फ़ारसी का दूसरा पर्चा लिखने की तैयारी हो रही थी, सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हुक्म सुनाया कि अंगरेज़ी के पर्चे पहले ही निकल चुके थे, इसलिये सोमवार को अंगरेज़ी की परीक्षा फिर से होगी। चाहिये तो यह था कि सोमवार तक के लिये तलवन जाना स्थगित कर दिया जाता, पर तलवन में तारघर नहीं था और माता जी के प्रेम के सामने परीक्षा का महत्त्व ही क्या था? शुक्रवार की शाम को ही काशी से तलवन के लिये प्रस्थान कर दिया और रविवार के सवेरे फिल्लौर उतर कर दुपहर को तलवन पहुँच माता जी का प्रेमपूर्ण आशीर्वाद प्राप्त कर अपने को कृतार्थ किया।

अंगरेज़ी में अनुत्तीर्ण होना निश्चित था। घर से लौट कर काशी आने के बाद कालेज में जाने पर पुराने सब साथियों को ऊँची श्रेणी में पढते हुए देखा तो हृदय बहुत खिन्न हो गया। इण्ट्रेंस की पढाई की सब पुस्तकें पहिले ही रटी हुई थीं। उनको दोबारा पढ़ने में मन नहीं लगा। नई पुस्तकों की खोज में कबाड़ियों की दुकानें टटोलनी शुरू कीं। वहाँ से अगरेज़ी के पुराने उपन्यास बटोर कर पढ़ने शुरू किये। खिन्न हृदय और उदास मन पर उनका बहुत बुरा असर हुआ। स्कूल जाने में भी ढील होने लगी। अन्त मे स्कूल से नाम ही कट गया। पिताजी को इसका कुछ भी पता नहीं चला और इधर विद्यार्थी मुशीराम बे-लगाम हो आवारागर्दी मे दिन बिताने लगा। छुट्टी के दिन आये तो कबाडियो के यहाँ से उपन्यास, नाटक, जीवनी तथा मनोरंजक यात्रा की बहुत-सी किताबें बटोर कर विद्यार्थी मुशीराम पिताजी के पास फिर बलिया चला आया। अंगरेजी उपन्यासों का कुछ ऐसा चस्का लगा कि गरमी और पतंगों से बचने के लिये मुशीराम ने चन्द्रमा के प्रकाश में ही उनको पढना शुरू किया। पिताजी समझते थे कि बालक पढाई की तैयारी मे लगा रहता है। उनको क्या मालूम था कि बालक नैतिक-पतन की गहरी खाई के किनारे खडा हुआ दुर्व्यसनो का शिकार होने जा रहा है। छुट्टियाँ समाप्त करके काशी आकर किसी स्कूल में भर्ती होने का विचार किया। पर, स्कूल का निर्णय करने में ही अक्तूबर पूरा हो गया। इतने ही मे दशहरा और दिवाली के त्योहार आ गए। इन त्योहारों की मौज लूटने का पुराना चस्का फिर जाग उठा। इसलिये स्कूल मे भर्ती होने का विचार कार्य-रूप में परिणत नहीं हुआ। इन्हीं दिनों मे पिताजी किसी सरकारी काम पर बनारस आये और वह मुंशीराम के पास ही ठहरे। बेटे से पूछा कि स्कूल कब जाओगे? बालक ने असत्याचरण करते हुए भी पिताजी के प्रति असत्य भाषण कभी नहीं किया था। आज असत्य भाषण का भी पहिला

परीक्षण सफल हो गया। कह दिया कि 'स्कूल मे छुट्टी है।' शाम को सरकारी काम से लौटते हुए स्कूल से आते हुए लड़को से मालूम हुआ कि मुंशीराम का नाम स्कूल से कट चुका है। श्री नानकचन्द जी को सबसे अधिक लाड़ले, विश्वासपात्र और होनहार पुत्र के असत्य भाषण पर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने इतना ही कहा, "मैं तुम पर इतना विश्वास करूँ और तुम ऐसा अविश्वास करो! यदि दिल नहीं लगता तो मुझको क्यों न लिख दिया?" पिताजी इस पर भी दूसरे दिन स्कूल के हैडमास्टर से मिले और मुंशीराम का नाम विद्यालय में लिखा दिया। परीक्षा में केवल एक महीने का समय था। गणित, इतिहास, भूगोल सब सफ़ाचट हो चुके थे। परीक्षा मे बैठकर अनुत्तीर्ण होने की अपेक्षा स्कूल से अलग होना ही अच्छा समझा और स्कूल से फिर नाम कटवा लिया। इस प्रकार दूसरा वर्ष भी यों ही बीत गया।

सम्वत् 1933 में काशी आकर किसी विद्यालय में भरती होने की धुन सवार हुई। क्वीन्स कालेज मे जाते हुए लज्जा प्रतीत होती थी। लण्डन मिशन स्कूल भी पसन्द नहीं आया। जयनारायण कालेज, जो कि समीपस्थ तालाब के कारण रेवडी तालाब के स्कूल के नाम से मशहूर था, पसन्द किया गया। पौष मास में इसी विद्यालय में नाम लिखवाया गया। लगभग 30 विद्यार्थी इण्ट्रेस की श्रेणी में थे। कहना न होगा कि अंग्रेज़ी की योग्यता में मुशीराम की बराबरी कोई नही कर सकता था। इस कक्षा के दो भाग किये गये। 'क' विभाग के लिये मुशीराम के अलावा आठ विद्यार्थी और योग्य समझे गये। इस विद्यालय में भी अध्यापको का सत्सग बहुत अच्छा मिला। फारसी की कठिनाई को दूसरी भाषा उर्दू लेकर हल कर लिया गया। अंग्रेजी में विशेष मेहनत करने की ज़रूरत ही न थी। बाक़ी पढ़ाई भी प्रायः एक बार तो की ही हुई थी। इसलिये विद्यालय की पढ़ाई का बहुत-सा समय आवारागर्दी में बीतने लगा।

5. स्वतन्त्र जीवन के दुष्परिणाम

बुरी संगति के लिये आवश्यक सामग्री भी जुटनी शुरू हो गई। आस्तिकता को गहरी ठेस लगाने वाली एक साधारण-सी घटना इन्हीं दिनों में हो गई। सवेरे और शाम प्रति दिन विश्वनाथ का दर्शन नियम से होता था। पौष सम्वत् 1932 के अन्त में एक दिन शाम को 8 बजे विश्वनाथ के दर्शन के लिये जो गली के मोड़ पर पहुँचे, तो पहरे पर बैठे हुए पुलिस के सिपाही ने रोक दिया। कारण यह था कि रीवां की रानी दर्शन कर रही थीं। उस समय दूसरा कोई जा नहीं सकता था। सब जगत् के स्वामी के दरबार में राव-रंक का यह भेद देख कर मुंशीराम के कोमल हृदय पर ऐसी ठेस लगी कि विश्वनाथ पर से ही उसका विश्वास उठ गया। मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठने लगे। मन को समझाने की सब कोशिशें व्यर्थ साबित हुई। मूर्ति-पूजा पर से एकाएंक श्रद्धा जाती रही। काशी के दूसरे निवास-काल में लगभग एक वर्ष और अब लगभग डेढ़ वर्ष नियमपूर्वक जिस पूजा को निबाहा था, वह छूट गई। ईसाई-धर्म की ओर प्रवृत्ति हुई, पर तार्किक विद्यार्थी के संशय को कालेज के प्रिंसिपल ल्यूपोल्ट (जो पादरी भी थे) भी दूर न कर सके। प्रोटस्टेण्ट ईसाइयों से निराश होकर किसी गुरु की खोज में थे कि एक दिन रोमन कैथोलिक पादरी फादर लीफ्रू से मुलाकात हो गई। उनके विनयशील, शान्त, सहिष्णु और श्रद्धालु स्वभाव ने मुंशीराम को सहज में अपनी ओर खींच लिया। रोमन कैथोलिक गिर्जाघर में बप्तिस्मा लेने का भी निश्चय हो गया। पादरी साहब के यहाँ उसके लिये दिन नियत करने के लिये जाने पर एक और धटना ऐसी घटी कि वहाँ से भी मुँह फिर गया। पादरी साहब घर पर थे नहीं, परदा उठाते ही भीतर जो देखा तो एक दूसरे पादरी एक 'नन' के साथ बड़ी घृणित अवस्था में पडे हुए थे। इस प्रकार ईसाइयों से भी निराश हो मुशीराम का धर्म की दृष्टि से नास्तिकपन की ओर झुकाव हुआ। धर्म या मज़हब एक ढकोसला जान पड़ा और यह प्रतीत हुआ कि उसकी सृष्टि कुछ चालाक लोगों ने आँख

के अन्धे और गांठ के पूरों को फँसाने के लिये की हुई है। पर इस नास्तिकपन में भी प्रातःकाल का उठना, व्यायाम-कुश्ती, गंगास्नान और भ्रमण का नियम जारी रहा।

कालेज में प्रवेश पाने के समय विद्यार्थियों के जीवन में कुछ विशेषता आ ही जाती है। मुंशीराम ने कालेज प्रवेश करने के ठीक पहिले ही हुक्का गुड़गुड़ाना सीखा था और पन्द्रह ही दिन में इसमें पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली थी। मुंशीराम का निवास-स्थान हुक्केबाजों का अड्डा था। सब मित्रमण्डली के अलग-अलग नाम लिखे हुए हुक्के बैठक में पड़े रहते थे और शाम को जब दरबार लगता था, तब प्रायः सभी हुक्के गुड़गुड़ाये जाते थे। मित्रमण्डली भी अपने ढंग की एक ही थी। प्रिंस एडवर्ड के काशी आने पर इसी मण्डली के साथ छुट्टियाँ बिताने के लिये उन दिनों में घर जाने का विचार भी छोड़ दिया था। उस वर्ष की होली और बुढ़वामंगल के त्योहार भी इस मण्डली के साथ ही मनाये थे। होली गुण्डों के वेष में और बुढ़वामंगल खूब मेहनत से सजाई हुई शानदार किश्तियों पर गश्त करने में बीती। इसी मित्रमण्डली की संगति में भांग भी छनने लगी और उसका सेवन भी कुछ समय के लिये नियम-सा हो गया। रविवार को इसी मित्रमण्डली की बैठक में शतरंज का खेल, मुशायरा और उपन्यासों का पाठ होता था।

6. पतन का श्रीगणेश

बुराई से अच्छाई प्रगट होने की घटनायें साधारणतया बहुत सुनने में आती हैं। पर, अच्छाई से बुराई का पैदा होना असाधारण घटना है। ऐसी असाधारण घटना से ही हमारे चरित्रनायक के नैतिक-पतन का श्रीगणेश होता है। कालेज में पहिले वर्ष की छमाही के बाद की दो मास की छुट्टियाँ बलिया में बिता कर मुंशीराम ने काशी आने पर देखा, तो उसकी मित्रमण्डली का कोई भी साथी अभी नहीं लौटा था। कुछ खिन्न हृदय और आकस्मिक ज्वर से निर्बल हो विद्यार्थी मुंशीराम दशहरे के छुट्टियों से एक सप्ताह पहिले ही फिर बलिया चला गया और कुछ दिन वहाँ बिता कर फिर काशी वापिस आ गया। मित्रमण्डली के साथी तब भी घरों से नहीं लौटे थे। घर से लौटने के बाद तीसरे ही दिन की घटना है कि नित्य की भाँति सवेरे गंगा-तट पर अखाड़े में गये तो वहाँ सुनसान मिला। पूछा तो पता चला कि गुरुवार की छुट्टी थी। कुश्ती का समय टहलने में बिताने के विचार से राजघाट की ओर का मार्ग पकड़ा। मणिकर्णिका से होकर सेंधिया घाट पहुँचने पर एक चीख़ सुनाई दी। चीख़ घाट के नीचे बनी हुई गुफा की ओर से आई थी और थी किसी आपद्ग्रस्त महिला की। मुंशीराम ने तुरन्त वहाँ पहुँच कर देखा तो एक स्त्री पूरा ज़ोर लगा कर गुफा से निकलने की कोशिश कर रही थी। उसका सिर बाहिर था, भुजाएँ गुफ़ा के दरवाज़े पर और बाक़ी सब हिस्सा गुफा के भीतर। धड से पकड़े हुए कोई उसे भीतर घसीट रहा था। भीतर के कामान्ध पिशाच व्यक्ति की शक्ति का वह अबला क्या मुकाबला कर सकती थी? मुंशीराम ने उस परवश देवी को खींच कर बाहिर किया। उसकी उम्र सोलह वर्ष से अधिक नहीं थी। इतने ही में एक अधेड स्त्री वहाँ और आ गई। वह मुंशीराम के परिचित परिवार की ही थी। पीछे मालूम हुआ कि पति महाशय तो वकालत की परीक्षा में व्यग्र थे और उनकी भौजाई उनके दूसरे विवाह की स्त्री अपनी देवरानी को सन्तान दिलाने की आशा से सवेरे तीन बजे ही मिठाई और

पूरी का थाल लेकर वहाँ आ पहुँची थी। देवरानी को गुफा का द्वार दिखा आप दूर जा खड़ी हुई थी। अबला के कपड़े सब चीर-चीर हो गये थे, सब देह रगड़ से लहू-लुहान हो गया था, भय के मारे वह बाहिर आने पर भी काँप रही थी। मुंशीराम ने गले में डाली हुई अपनी बनात की चादर से उसका सब शरीर ढक दिया और दोनों देवियों को घर पहुँचा कर पति-देव को भविष्य के लिए चौकन्ना भी किया। यह परिवार सदा के लिये मुंशीराम का आभारी बन गया और वह देवी भाई-दूज पर मुंशीराम को टीका लगाने क्या आई, उसके प्रति भ्रातृभाव की पवित्रतम भावना को व्यक्त कर अपनी कृतज्ञता भी प्रकट कर गई। हिन्दू समाज को रसातल में पहुँचाने वाली इस अन्ध-श्रद्धा के सम्बन्ध में चरित्र नायक के ही कुछ शब्दों को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। उन्होंने लिखा है कि "घाट पर लौटा तो उस नंगे पिशाच को जूतों की मार पड़ रही थी और पुलिस के जमादार भी आ गए थे। एक भली देवी की इज़्ज़त का सवाल था। मेरे कहने पर उस पिशाच से नाक रगड़वा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नही लौटेगा, पुलिस वाले उसे राजघाट से पार पहुँचा आये। परन्तु हिन्दू समाज की विचित्र अन्धी श्रद्धा का मुझे उस समय पता लगा, जब सन् 1881 ई. के अगस्त मास में ग़ाज़ीपुर जाते हुए मैंने बनारस ठहर उसी दुष्ट पिशाच को घाट के मार्ग में नंगे बैठे और स्त्री-पुरुषों को उसकी उपस्थेन्द्रिय पर जल-पुष्पादि चढ़ाते देखा। प्रयागदत्त जमादार से जब पूछा तो उत्तर मिला, 'अरे बाबू' धरम का मामिला ठहरा। अंग्रेज हाकिमों कतरा जात बाटै।' खेद है कि हिन्दू-समाज में से अब तक भी इस पाप का मुँह काला नहीं हुआ है!"

पाठक, बिलकुल भी विश्वास नही करेंगे कि यह ही साहसपूर्ण, पवित्र और सात्विक घटना मुंशीराम के पथ-भ्रष्ट होने का कारण बनती है। अगरेज़ी उपन्यासो के प्रभाव से दूषित और नास्तिकपन की लहर में बे-लगाम छूटे हुए मन पर आत्मा को ऊँचा उठाने वाली इस पवित्रतम घटना ने उल्टा ही असर किया। मन की सरल भावनाओं और पवित्र कामनाओं ने कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लिया। एक देवी के जीवन की रक्षा करने के बाद मुंशीराम ने अपने को 'हीरो' (बहादुर) तथा 'नाइट' (वीर-रक्षक) और मन ही मन उस देवी को अपनी 'प्रिया' समझना शुरू कर दिया। इधर मामा की संगति से मद्यपान का भी व्यसन लग गया था और तिस पर वीर बनने की आकांक्षा समाई हुई थी। इसी बीच में एक घटना और हुई। दशहरे पर दशमी के स्नान की भीड़ थी। भोर समय था। भीड़ में घबराई हुई युवा स्त्री मुंशीराम के सामने से निकली। कोई दुष्ट उसके पीछे था।

दुष्ट को मुंशीराम ने ऐसा चपत रसीद किया कि वह दीवार के सहारे से गिरता-गिरता बचा। मुंशीराम उस स्त्री को लाकर अपने मकान पर छोड़ गये और बाद में उसके पति को भी भीड़ में से ढूँढ़ लाये। पति-पत्नी फिर आकर मुंशीराम के मकान में ही टिक गये। मकान बहुत बड़ा था। चरित्र नायक के ही शब्दों में इस घटना का लिखना अच्छा होगा। वे लिखते हैं, "मैं अपनी बैठक में चला गया और उन्होंने ऊपर आराम किया। दोपहर पीछे मैं बाहर चला गया।...6 बजे के लगभग घर लौट आया। उस समय प्रलोभन में फँस गया। हाँ! बरसों की कमाई एक घण्टे में डूब गई। उस रात मैंने भोजन नहीं किया। रात को व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रातः रामायण का फिर स्मरण आया।" "यदि अपने प्राचीन इतिहास पर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्री-जाति का रक्षाबन्ध भाई बनकर उसकी रक्षा का व्रत लेता। परन्तु मैंने अपनी सभ्यता को जंगलीपन और अपने साहित्य को मूर्खता का भण्डार समझ रखा था, फिर उससे मुझे सहायता कब मिल सकती थी?"

रेवड़ी तालाब के जयनारायण कालेज के स्कूली जीवन और फिर क्वीन्स कालेज के कालेजी-जीवन के साथी पशुपतिशरणसिंह, जो बाद में 'रायबहादर' और 'सी.आई.ई.' तथा अलवर में 'एसिस्टेण्ट पोलिटिकल अफ़सर' हुए, मुंशीराम के बड़े गाढ़े दोस्त थे। इनका दोस्ताना नाम था 'सिंहजी।' आपत्ति के समय मनुष्य पास के ही किसी सहारे को ढूँढता है। मुंशीराम के लिये वह पतन एक भयानक आपत्ति था। इस आपत्ति में 'सिंह जी' याद आ गये। उनका गाँव चार कोस था। सवेरे पैदल ही उनके गाँव को बिना अन्न-जल ग्रहण किये चल दिये। दोपहर को बाहर बजे वहाँ पहुँच कर मित्र को सब घटना ज्यों की त्यों कह सुनाई। अपने दोष को सच्चाई के साथ स्वीकार करके भविष्य मे उससे बचने का संकल्प करना ही सच्चा प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त की यह भावना अपराधी मुंशीराम के दोषी हृदय में पैदा हो चुकी थी। मित्र ने सान्त्वना दी और व्याकुल हृदय को पूरी तरह शांत किया।

पतन की कोई सीमा नहीं। उत्थान का मार्ग एक ही है, और पतन के हज़ारों ऐसे नैतिक-पतन की घटना चरित्र-नायक के जीवन में फिर नहीं घटी, किन्तु मद्य-मास के सेवन का व्यसन अगले कुछ वर्षो में बढ़ता चला गया। इस वर्ष की दिवाली पर मद्य-मांस के साथी जुए ने भी अपना रग आ जमाया। पर, जुए के पतित साथियों की गन्दी बोलचाल से इतना घृणा पैदा हुई कि श्रीगणेश के साथ ही उसकी इतिश्री भी हो गई।

7. मथुरा में दस दिन

काशी से विवाह के लिये तलवन जाते हुए मुंशीराम ने मथुरा में दस दिन पिताजी के पास बिताये। पिताजी मथुरा में स्थायी तौर पर आये थे और मथुरा से उनको बरेली की कोतवाली का चार्ज लेने का हुक्म भी आ चुका था। इसी से उनको पुत्र की शादी के लिये केवल दस दिन की छुट्टी मिली। मथुरा के दस दिन के जीवन में कोई विशेष घटना नहीं हुई। वहाँ की दो घटनाओं का वर्णन चरित्रनायक ने किया है। पहिली घटना मथुरा के चौबों की अपने जजमानों के यहाँ माल उड़ाने की है। उसका चरित्र-नायक के चरित्र के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। दूसरी घटना गुसाई जी की लीला की है। दक्षिण के एक डिपुटी कलेक्टर अपनी धर्मपत्नी, लड़के और लड़की के साथ काशी की तीर्थ-यात्रा के बाद ब्रजयात्रा के लिये मुंशीराम के साथ ही आये थे। लड़की 14-15 वर्ष की आयु की थी और अंग्रेज़ी अच्छी पढ़ी हुई थी। एक दिन गोपाल-मन्दिर की झाँकी थी। पॉच बजे शाम का समय था। मुंशीराम पुलिस के सफ़ेदपोश जमादार के साथ झाँकी देखने के लिये गया हुआ था। वह भीतर के महल की सैर कराने के लिये भी मुंशीराम को अन्दर ले गया। अभी पॉच ही मिनट हुए होंगे कि एक कमरे के भी से चीख़ सुनाई दी। कमरे का दरवाजा धक्का देकर खोला गया। भीतर पहुॅच कर देखा तो एक अबला कुमारी को गुसाई अपनी ओर खींच रहा था और वह उसके पापी पंजे से छुटकारा पाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास ही एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी। पापी ने अपना पाप छिपाते हुए कहा–''भगवान् के दर्शन से यह घबरा गई, मैं चुप कराता था।'' कुमारी ने कहा–''इसका विश्वास मत कीजिये। मैं इस के चरणस्पर्श कर रही थी। तब इसने मुझे पकड़ लिया और मैं चिल्लाई। मुझे मेरे पिता के पास ले चलो।'' मुंशीराम ने कन्या को पिता के पास पहुॅचाया। पिता उसको नीचे कहीं न देख कर ऊपर ढूँढ़ रहे थे। डिपुटी कलेक्टर को इस

घटना पर इतना खेद हुआ कि गुसाई का मकान छोड़ कर दूसरी जगह चले गये। मूर्ति पूजा और तीर्थ यात्रा से भी उनका दिल ऐसा हट गया कि अन्य सब तीर्थों पर जाने का विचार त्याग कर वे मथुरा से सीधे अपने घर ही लौट गये।

दूसरा-भाग

(क)

गृहस्थ

1. द्वितीय आश्रम में प्रवेश, 2. बरेली में अन्धकारमय जीवन, 3. इस बीच में कालेज की पढ़ाई, 4. दिव्य प्रकाश का दर्शन, 5. पतिव्रता पत्नी, 6. दो दिन की चाकरी, 7. फिर से विद्यार्थी जीवन, 8. स्वतन्त्र आजीविका, 9. वकालत की परीक्षा।

1. द्वितीय-आश्रम में प्रवेश

दूसरे भाइयों का विवाह जितनी छोटी अवस्था में हो गया था, उतनी छोटी अवस्था में मुंशीराम का नहीं हुआ। इसका कारण यही था कि पहिले जिस कन्या से विवाह करने का निश्चय हुआ था उसका दैवयोग से देहान्त हो गया। उसके बाद जालन्धर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्राम ने अपनी लडकी के साथ मुशीराम का सम्बन्ध करने का निश्चय किया और माता-पिता से यह वचन ले लिया कि 'मुंशीराम का कहीं और नाता नहीं किया जायेगा।' उनका यह विचार था कि वर-वधू की आयु मे पॉच वर्ष का अन्तर होना चाहिये। सगाई सम्वत् 1932 मे हो गई, विवाह सम्वत् 1934 मे हुआ। माताजी को लाडले बेटे की शादी का बडा शौक़ था। पर, उसको अपने हाथों सम्पन्न करना उनके भाग्य में नही बदा था। बलिया मे प्राणोत्सर्ग होने से दो घण्टे पहले माताजी ने, पिताजी का हाथ अपने हाथ में लेकर, अपनी अन्तिम इच्छा इन शब्दों में प्रकट की थी—"एक ही इच्छा मन मे रह गई। अपने मुन्शी का विवाह अपने हाथो से करती। आप भूलना मत। मेरे प्यारे बच्चे का विवाह उसी हौसले से करना, जैसा मैं करना चाहती थी। मै तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी, जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मै अपनी पुत्र-वधू सहित उसका ऐश्वर्य देखूँगी। अच्छा, भगवान् की यही इच्छा है तो यही सही।" माता जी की इस इच्छा के अनुसार विवाह पूरी तैयारी और धूमधाम के साथ किया गया। पिताजी को अधिक छुट्टी नही मिल सकी। वे विवाह से तीन ही दिन पहिले घर पहुँचे थे और विवाह के बाद तुरन्त ही वापिस लौट गये।

विवाह पौराणिक पद्धति से हुआ। नास्तिक होते हुए भी मुशीराम ने चुपके-से सब रस्मे अदा कीं। बुढ़िया पुराण के आगे माथा टेका। वधू के साथ गॉठ जोडे आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये पीर की कबर और देवमन्दिरो का भी चक्कर काटा। लोकाचार और शास्त्राचार के नाम से, जिसने जो कुछ भी करने को कहा, सब

किया गया।

इतनी धूमधाम से विवाह होने पर मुंशीराम को कुछ सन्तोष नहीं हुआ, अपितु निराशा ही हुई। मुंशीराम का दिल और दिमाग़ अंग्रेज़ी उपन्यासों के रंग में रँगा हुआ था। अपनी भावी पत्नी के सम्बन्ध में जिस कल्पना के घोड़े दौड़ाते हुए वह घर पहुँचा था, विवाह के बाद वह मृगतृष्णा ही साबित हुई। उपन्यासों की नायिकाओं के सब गुणों से सम्पन्न स्त्री के साथ आनन्दमय भावी जीवन बिताने के सुनहले विचार इन्द्रधनुष की तरह ऑखों के सामने चमक रहे थे, पर विवाह के बाद पता चला कि वह सब स्वप्नावस्था की सृष्टि थी।

चरित्रनायक ने इस सम्बन्ध मे लिखा है–"मैं विवाह के धूमधड़क्के से निवृत्त होकर बहुत निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी। परन्तु वह अभी बाल्यावस्था में ही थी। फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और इस विचार ने मुझे बहुत सन्तोष दिया। मैंने उसी समय बालविवाह की कुप्रथा के भयंकर परिणाम अनुभव किये थे और इसीलिये आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इनके संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख़्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता, तो काशी से ग्रेज्युएट बनकर मैं किसी अन्य ऊँची दशा में चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु सोलह वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता से आँखें खोल कर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता, जिसमें आगामी दो-ढाई वर्ष गिरा रहा।"

2. बरेली में अन्धकारमय जीवन

विवाह और विवाह के बाद डेढ वर्ष तलवन में बिता कर मुंशीराम की इच्छा शिक्षाध्ययन के लिये बनारस जाने की थी। पर, पिताजी का आदेश मिला कि बनारस न जाकर बरेली पहुँचा जाय। सम्वत् 1934 के आश्विन मास में बरेली जाना हुआ। बरेली का सामाजिक जीवन उस समय नैतिक दृष्टि से बहुत पतित था। रईसी का लक्षण कुछ विचित्र-सा ही था। दो घोड़ों वाली चौपहिया गाड़ी, घर में डाली हुई वेश्या और सिर पर किये हुए क़र्ज़ के बिना सेठ, साहूकार और जमींदार को भी 'रईस' का पद नहीं मिलता था। ऐसे वातावरण के प्रभाव से मुंशीराम का बचना कठिन क्या असम्भव ही था। मुंशीराम के चरित्र में उस समय सबसे बड़ी कमजोरी यही थी कि आस-पास के वातावरण से ऊपर उठना उसके लिये असम्भव था। "गंगा गये गंगादास और जमुनो गये जमुनादास" की लोकोक्ति उस पर ठीक बैठती थी। जब कि बनारस में रह कर गुण्डों का-सा वेष धारण करने में संकोच नहीं किया था, बलिया में लाठी-गतका के हाथ तुरन्त सीख लिये थे, मामा की सगति से शराब के व्यसन की शिक्षा ग्रहण की थी, जुआ भी एक ऐसे ही साथी की सगति का फल था और हुक्का गुडगुड़ाना भी ऐसे ही सीखा था, तब भला बरेली के सभ्य-समाज की रईसी का रंग मुंशीराम पर क्यों न चढ़ता? पिताजी बरेली शहर के कोतवाल क्या थे, राजा थे; और मुंशीराम युवराज। ऐसी स्थिति में रईसों के साथ मेल-मिलाप होने का रास्ता बिलकुल खुला था। इसी से सबसे पहिली दोस्ती राय छदम्मीलाल साहब (कायस्थ) से हुई, जो रईसी की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार डबल रईस कहे जा सकते थे और उनके यहाँ एक की जगह चार-पॉच फ़िटन गाड़ियॉ थीं, दो हाथी बॅधे रहते थे और एक के बजाय दो वेश्यायें उन्होंने अपने घर मे डाली हुई थीं। अन्य भी कई-एक साधारण रईसों से दोस्ताना हो गया था, पर राय छदम्मीलाल के बाद उल्लेखनीय नाम हकीम लल्ला का है। उनका मकान मुंशीराम के मकान के साथ ही लगा हुआ था। कमाल

के हकीम थे। एक बार मुशीराम को भी सख्त बीमारी से उन्होने बचाया था। हकीमी की बदौलत ही लल्लाजी के यहाँ बिना पैसा ख़र्च किये ही नाच-मुजरा हो जाता था और दक्षिणा में मिठाई के थालों की भेंट भी पहुँच जाती थी।

रायसाहब छदम्मीलाल की फ़िटन गाड़ी प्रतिदिन सवेरे हवाखोरी के लिए आ जाती। कोई सप्ताह नाच-रंग से ख़ाली न जाता। उस पर हुकूमत का नशा। बस, फिर कहना ही क्या था? इलाहाबाद के कालेज के एक वर्ष के जीवन को छोड़ कर बरेली का बाक़ी सब जीवन इसी अन्धकारमय अवस्था में बीता। इलाहाबाद में परीक्षा मे असफल हो जाने का परिणाम और भी बुरा हुआ। परीक्षा की असफलता के दुःख को 'ऐक्सा नम्बर वन' की बोतल के प्यालों से धोने की कोशिश की जाने लगी। रात को बोतल और गिलास मेज़ पर रख, वैसी ही पुस्तकें हाथ में लेकर, समय बिताना शुरू किया। एक बजे तक पूरी बोतल समाप्त हो जाती। पिताजी नित्य-कर्म से निवृत्त हो सवेरे पाँच बजे कोतवाली चले जाते। दिन का भोजन वहाँ ही करते। रात को आठ बजे घर आते और भोजन करके नौ बजे सो जाते। फिर सारी रात पर मुंशीराम का ही अधिकार रहता। पिताजी अब भी यही समझते रहे कि पुत्र कालेज की पढ़ाई में लगा रहता है। इधर रात को प्याले के अलावा रईसों की महफ़िलों में भी आना-जाना शुरू हुआ। सात मास तक यह क्रम बराबर जारी रहा। एक बार लाला भाइयों (कायस्थो) के यहाँ की शादी की महफ़िल में पियक्कडों की दुर्गति देखकर वैसी महफ़िलो से कुछ घृणा हुई। पर, शराब का नशा उस घृणा से भी नहीं टूटा। घर लौट कर उसी दिन खरीद कर लाई हुई शराब का जाम पिया। उसने अन्धा कर दिया। चरित्रनायक ने लिखा है—"मैं अपने जीवन में दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावट का संस्कार फिर जाग खड़ा हुआ। घण्टो बेहोश सा पड़ा रहा, परन्तु आत्मा में कोलाहल मचा हुआ था। प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त मे बैठकर अनुताप करता रहा। उस दिन शाम को ही लौट कर भोजन किया। दूसरे दिन से ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतों में जाना बन्द हुआ और फ़िलासफ़ी का स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ काल के लिये विदा हो गये।"

3. इस बीच में कालेज की पढ़ाई

नहीं मालूम क्यों मुंशीराम को कालेज की शिक्षा में यत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। बनारस की आकस्मिक असफलता की घटना पाठक पीछे पढ चुके हैं इस बीच में बरेली रहते हुए इलाहाबाद जाकर एफ़. ए. पास करने का जो यत्न किया, उसमें भी वैसा ही विघ्न आ उपस्थित हुआ। सफलता की चोटी पर से मुशीराम का पैर फिसल गया। पहले तो पिताजी ने मोहवश लाडले बेटे को पढने के लिए कहीं जाने न दिया, फिर बरेली की संगति में पड़कर लाडले बेटे का अपना ही दिल मचल गया। जब पढाई का समय आया तब बनारस जाकर निचली श्रेणी में भरती होने में लज्जा मालूम होने लगी। स्वय इलाहाबाद जाने का निश्चय किया। इलाहाबाद जाकर सम्वत् 1935 के पौष मास में म्योर सेण्ट्रल कालेज में नाम लिखवाया। यहाँ भी अध्यापकों की सगति अच्छी थी। मुशीराम को अध्यापको का प्रेम और कृपा प्राप्त करने मे अधिक समय नहीं लगा। मद्यपान का व्यसन एकदम छूट गया। विद्यार्थियो की सभाओ में होने वाले वाद-विवादों में विशेष भाग लेना शुरू किया। कालेज का जीवन सम-अवस्था में चलने लगा और सारा समय विद्या की चर्चा मे ही व्यतीत होने लगा। कालेज के इस जीवन का प्रभाव छुट्टियो मे बरेली आने पर भी कायम रहा। डेढ मास बरेली में बिताने पर भी मद्यप और नाच-रग के प्रेमी मित्रो की सगति से बचा रहना एक असाधारण घटना थी। परीक्षा पास आने पर उसके लिये सिरतोड कोशिश की जाने लगी। रात को तीन घण्टे से अधिक सोना नही होता था। स्वास्थ्य गिरने लगा। परीक्षा के तीन दिन तो निकल गये, पर रात को ज्वर ने आ दबाया। उसकी कुछ भी परवा न कर चौथे दिन भी परीक्षा-भवन को चल दिये। पर, परीक्षा-भवन में बीमारी ने ऐसा ज़ोर पकड़ा कि ऑखे बन्द हो गई। डाक्टर को बुलाया गया। ज्वर कम नहीं हुआ। ज्वर सरसाम के रूप मे परिणत हो गया। परिणाम यह हुआ कि अन्तिम प्रश्नपत्र रसायन का बिना किये ही रह गया। परीक्षा-फल मे प्रथम

तीन विषयों में 70 प्रतिशत अंक प्राप्त किये, न्याय में 50 में से 25 और रसायन में शून्य। रसायन और न्याय को मिलाकर पास होने के लिये आठ अंकों की कमी रह गई। यूनीवर्सिटी से लिखा पढ़ी करने का भी कुछ फल न हुआ। केवल आठ अंकों के लिए एफ़. ए. की परीक्षा में सफलता नहीं मिली।

फिर सात मास बरेली के अन्धकार में बिता कर एफ़. ए. की परीक्षा देने की सूझी। पर, वह किसी कालेज के द्वारा ही दी जा सकती थी। मुंशीराम के बनारस के सहपाठी और अन्यतम मित्र श्री रमाशंकर मिश्र एम. ए. सर सय्यद अहमद के अलीगढ़ के मुहम्मडन कालेज में गणिताध्यापक थे। उनको लिखने पर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मुशीराम को अपने पास बुला लिया। पर, वे भी नम्बर एक के पियक्कड़ और रंगीले युवक थे। संगति ने अपना रंग जमाया। शराब तो चलती ही थी, एक दिन मुजरा भी हो गया। अलीगढ़ ने प्रयाग के प्रभाव को बिलकुल मिटा दिया। यहाँ भी कालेज की पढ़ाई मुंशीराम की क़िस्मत में लिखी न थी। कालेज खुला और एक मास के लिए फिर बन्द हो गया, क्योंकि अलीगढ में हैज़ा फैल चला था। निराश मुंशीराम को बरेली लौटना पड़ा। बरेली का घोर अन्धकारमय जीवन इसी निराशा का दुष्परिणाम था।

4. दिव्य प्रकाश का दर्शन

ऐसी घोर अन्धकारमय पतित अवस्था से ऊपर उठकर मुंशीराम को महात्मा मुंशीराम और बाद में मृत्युंजय स्वामी श्रद्धानन्द बनना था, यह कौन जानता था? नास्तिक और इस प्रकार पतित होने पर भी मुंशीराम का जीवन बिलकुल ही ऊसर नहीं था। उस पर संगति का सहज में कैसा असर पडता था, पाठकों ने पीछे भली प्रकार देख लिया है। वर्तमान युग के निर्माता, विनष्टप्राय भारत की पुरातन आर्य संस्कृति के पुनरुद्धारक, अगाध पांडित्य एवं अलौकिक तार्किक शक्ति से सामाजिक एवं धार्मिक अन्धकार को विलुप्त करने की चेष्टा में सदा रत रहने वाले और अपने व्यक्तिगत प्रभाव से सैकड़ो-हजारों की कायापलट करने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती की सत्सगति का ही यह परिणाम था कि उनके पदचिह्नों पर चलते हुए अपने जीवन को सफल बना कर उसको उनके मिशन की ही पूर्ति मे लगा देने वालों में महात्मा मुंशीराम किंवा स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी का नाम अनन्त ताराओं में चन्द्रमा के समान चमक रहा है। इसके सम्बन्ध में चरित्रनायक ने स्वयं ही लिखा है—"ऋषिवर! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे इकतालीस वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पट पर अब तक, ज्यों की त्यों, अकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरणमात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है? परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने ससार मे प्रचलित कितने पापो को दग्ध कर दिया है? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूँ कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठा कर सच्चा जीवन लाभ करने के योगय बनाया?" पहिले ही दर्शन के बारे मे चरित्रनायक ने लिखा है—"उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई; परन्तु जब पादरी टी.जे. स्काट और दो

तीन अन्य यूरोपियनो को उत्सुकता से बैठे देखा, तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट भी वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन मे विचार किया—यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान दंग हो जायॅं। व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओ३म्' पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नही सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।"

यह सत्संग भी मुंशीराम को अनायास ही प्राप्त हो गया था। 14 श्रावण सम्वत् 1936 के दिन महर्षि दयानन्द बरेली पधारे थे। उनके पहुॅंचते ही पिताजी को हुक्म मिला कि सभा मे किसी प्रकार की गडबड़ न होने देने का सब प्रबन्ध करें। प्रबन्ध के लिए वे स्वयं ही गये। उन पर पहले दिन के व्याख्यान का इतना प्रभाव पड़ा कि रात को घर आते ही अपने नास्तिक पुत्र से उसके सुधरने की कुछ आशा रखते हुए कहा—"बेटा मुंशीराम' एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बडे विद्वान और योगीराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे सशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।" केवल सस्कृत जानने वाले साधु के मुख से बुद्धि की कोई बात सुनने की आशा न रखते हुए भी वहाॅं पहुॅंचने के बाद दस ही मिनट के व्याख्यान का नास्तिक हृदय पर असाधारण प्रभाव पडा। व्याख्यानों का सिलसिला जारी रहा और मुशीराम का हृदय महर्षि की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता चला गया जैसे कि भटके हुए जहाज़ का कप्तान प्रकाशस्तम्भ का प्रकाश पाकर बड़ी तेज़ी से अपने जहाज को उस ओर ले जा रहा हो। नमस्ते, पोप, पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी के बाद मूर्ति-पूजा और अवतारवाद के खण्डनात्मक व्याख्यान शुरू हुए। आस्तिक पिता तो इतने घबरा गये कि व्याख्यानों में जाना ही बन्द का दिया और नास्तिक पुत्र की श्रद्धा सूर्योदय के साथ खिलते हुए सूर्यमुखी की तरह खिल उठी। मुंशीराम दिन का भोजन करके दोपहर को ही महर्षि के निवास-स्थान, बेगम-बाग की कोठी, पर पहुॅंचकर भीतर जाने की प्रतीक्षा में ड्योढी पर बैठ रहता। 2॥ से 4 बजे तक शंका-समाधान होता था। लोग अपने सन्देह प्रगट करते और महर्षि उनका निराकरण करते थे। भीतर जाने की आज्ञा मिलने पर जो पहिला व्यक्ति महर्षि को प्रणाम करता, वह उनका वह शिष्य होता, जिसने निकट-भविष्य में ही उनके मिशन के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर अपने को अमर बना लिया। वह चुपके-से बैठा हुआ सब प्रश्नोत्तर सुनता रहता। वहाॅं से व्याख्यान सुनने के लिये सीधा टाउन-हाल पहुॅंच जाता। व्याख्यान के बाद भी तब तक वहाॅं खड़ा रहता, जब तक कि महर्षि वहाॅं से चल न देते। 25-26 और 27 अगस्त

को पुनर्जन्म, ईश्वरावतार और मनुष्य के पाप बिना फल भोगे क्षमा किये जाते है कि नहीं, इन विषयों पर पादरी स्काट के साथ शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थ में लेखक का काम करने वालों में उनका यह भावी शिष्य भी था। पर, दूसरी रात के शास्त्रार्थ के बाद सन्निपात-आक्रान्त हो जाने से वह तीसरे दिन के शास्त्रार्थ में शामिल न हो सका और न फिर महर्षि के दर्शन का लाभ ही प्राप्त कर सका। मुंशीराम की काया पलटन में महर्षि के इस सत्संग ने जादू का काम किया और यदि कहीं मुंशीराम को यह सत्संग प्राप्त न हुआ होता तो बरेली के अन्धकारमय जीवन से उसका उद्धार होना भी सम्भव न था। चरित्रनायक ने स्वय लिखा है–"इन दिनों में ऋषि-जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनायें मैंने देखीं, जिनमें से कुछेक का प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आँखों के सामने घूम रही हैं।"

यह सत्संग अधिक दिन नहीं निभा। मुंशीराम को बीच में ही ज्वर ने आ दबाया और महर्षि बरेली से शाहजहाँपुर चले गये। पर श्रद्धा का भाव मुंशीराम के हृदय में घर कर गया। नाच-तमाशों से भी कुछ विरक्ति हो गई और मद्यपान का व्यसन भी कुछ दब गया। पिताजी इसको संन्यासी के सत्संग का ही परिणाम समझते थे और मूर्ति-पूजा तथा अवतारवाद आदि के खण्डन से असन्तुष्ट होते हुए भी उस संन्यासी को अपने पुत्र के इस सुधार के लिये धन्यवाद दिया करते थे। उपजाऊ भूमि मे वे बीज इसी समय बखेरे गये थे, जो कि आगे चल कर उस उद्यान के रूप मे प्रगट हुए जिसकी शीतल छाया मे बैठ कर आत्म-सुधार करने का अनुपम लाभ हजारों व्यक्तियों को ही नही, सैकडों परिवारो को भी मिला।

5. पतिव्रता पत्नी

गहरे अन्धकार से ऊपर उठते हुए मुंशीराम को विशेष सहारा देने वाली दो पारिवारिक घटनायें थीं। बीमारी से उठने के बाद पिताजी ने मुंशीराम को अपनी धर्मपत्नी को बरेली ले आने के लिये घर भेजा। मुंशीराम घर से ससुराल (जालन्धर) जाकर अपनी धर्मपत्नी शिवदेवी को तलवन होते हुए बरेली लिवा लाये। शिवदेवी की आयु कुछ अधिक नहीं थी और शिक्षा का तो सर्वथा अभाव ही था। फिर भी हिन्दू नारी की पति-भक्ति की पवित्र-भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी।

एक दिन मुंशीराम साथी-संगियों की कंसुगति में पड़कर खूब पी गये। शराब ने अपना पूरा रंग जमाया। उसी नशे में दो मित्रों के भुलावे में पड़कर एक वेश्या के घर भी जा पहुँचे। उस समय तक केवल महफ़िलों में नाच-तमाशा देखा था, पर वेश्या के घर पर जाने का यह पहिला ही अवसर था। न मालूम भीतर क्या भाव पैदा हुए कि वहॉ अधिक देर नहीं ठहरे। 'नापाक' 'नापाक' कहते हुए नीचे उतर आये। घर पहुँचे, तब भी नशा नहीं उतरा था। बैठक में जाकर तकिये पर सिर देकर पड़ गये। नौकर ने जूते उतारे। नौकर के सहारे ही सीढ़ियों से ऊपर गये। बरामदे में पहुँचते ही उलटी होने लगी। पत्नी ने आकर सम्हाला, मुँह धुलाया और मैले कपडे उतारे। बिस्तर पर लिटा कर माथा और सिर दबाना शुरू किया। घृणा, उपेक्षा या तिरस्कार की वहॉ गन्ध भी नहीं थी। स्नेहमयी माता की ममता, सहोदरा बहिन का प्रेम, आदर्श पत्नी की भक्ति, स्वामिभक्त सेवक की सेवा और परोपकारी पुरुष की उदारता के सब भावों का उस व्यवहार में कुछ अभूतपूर्व मिश्रण था। न सोने वाले को भी ऐसे समय नीद आ जाय। मुंशीराम की पथराई ऑखें गहरी नींद में बन्द हो गई। रात के एक बजे नींद खुली तो शिवदेवी बैठी हुई पैर दबा रही थी। पानी माँगने पर देवी ने गरम दूध का भरा हुआ गिलास मुँह को लगा दिया। नशा दूर हुआ। उस समय तक बराबर जागने और भोजन न करने का कारण पूछने पर देवी ने कहा—'आपके भोजन किये बिना मै कैसे

खाती? अब इतनी देर में भोजन करने मे कुछ रुचि नहीं।' मुंशीराम ने अपने पतन की सब कहानी सुना कर क्षमा माँगी, तो देवी ने तुरन्त कहा–'आप मेरे स्वामी हो। यह सब सुनाकर मेरे सिर पाप क्यों चढ़ाते हो? मुझे तो माता का उपदेश यही है कि आप की नित्य सेवा करूँ।' चरित्र-नायक ने लिखा है–"उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन मेरे लिये जीवन ही बदल गया।"

दूसरी घटना शिवदेवी के उदार चरित्र पर और अधिक प्रकाश डालती है। शराब के पारसी व्यापारी का बिल इतना बढ़ गया कि तीन सौ रुपये मुंशीराम को देने हो गये। उसको तो किसी तरह कुछ दिन के लिये टाल दिया। पर, सिर पर एक चिन्ता सवार हो गई। शिवदेवी ने उसको भाँप लिया और भोजन के समय कारण जानने के लिये आग्रह किया। चिन्ता का सब कारण मालूम कर भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करने से पहिले ही देवी ने हाथ के कड़े उतार कर सेवा मे उपस्थित कर दिये। मुशीराम ने संकोच-भाव से कहा–"यह कैसे हो सकता है? तुमको आभूषित करने के स्थान में तुमको आभूषणो से रहित करने का पाप कैसे लूँ?" देवी ने तुरन्त दूसरी जोड़ी दिखा कर कहा–"एक जोड़ी पिताजी ने और दूसरी श्वसुर जी ने दी थी। इनमें से एक व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है। जब तन तक आप का है, तब इसके लेने में संकोच क्यों है? आपकी चिन्ता दूर करने को यह कोई महँगा सौदा नहीं।" कडे बेच कर बिल अदा किया गया। बाक़ी रुपये शिवदेवी की सन्दूक़ची मे ही रख दिये और यह सकल्प किया कि कमाने के बाद इस रकम को पूरा करके पहिले ये जोडी बनवाई जायगी। घटना साधारण है, किन्तु मुशीराम के जीवन को बदलने मे इस घटना का असाधारण हाथ है। स्त्री-जाति के प्रति मुंशीराम का दृष्टिकोण उपर्युक्त दोनों घटनाओ से बदल गया। अग्रेजी उपन्यासो की नायिकाओं के चचल-चरित्र का जो चित्र आँखो के सामने सदा घूमा करता था और उसी से अपनी स्त्री के सम्बन्ध में भी निराशा की जो हलकी-सी रेखा कभी-कभी सामने खिंच जाया करती थी, वह सदा के लिये दूर हो गई। गृहस्थ की समस्त कल्पना-सृष्टि का अन्त होकर वास्तविकता का कुछ ज्ञान हुआ। हवाई क़िले बाँधने छोड़ दिये। शिवदेवी को शिक्षिता एव गुणवती बनाने का यत्न किया जाने लगा।

6. दो दिन की चाकरी

कालेज की ऊँची पढ़ाई मुंशीराम के भाग्य में नहीं लिखी थी। पिताजी ने समझ लिया कि पुत्र कालेज की पढ़ाई के अयोग्य है। बडे भाई तलवन में जमीदारी और साहूकारी का सब काम सम्हालते थे। दूसरे और तीसरे भाई मिर्जापुर और हमीरपुर में थानेदार थे। चौथे पुत्र को भी पुलिस के महकमे में भर्ती कराने के लिये उस समय के कमिश्नर एडवर्ड्स के पास ले जाया गया। पिताजी उसके कृपापात्र थे और मुंशीराम की अंग्रेज़ी बातचीत से भी वह बहुत प्रसन्न हुआ। नायब तहसीलदार छुट्टी पर जा रहा था। इसलिये मुंशीराम को तीन मास के लिये नायब तहसीलदार नियुक्त कर उसका नाम तहसीलदारी की उम्मीदवारी के लिये भेज दिया। तहसीलदार मुनीरुद्दीन के पिता श्री नानकचन्द जी के पुराने स्नेही थे। इसलिये मुंशीराम को तहसीलदारी का काम वह बडे प्रेम और तत्परता से सिखाने लगा। एक मास बाद तहसीलदार के छुट्टी जाने पर उसका स्थानापन्न भी मुंशीराम को ही बनाया गया। पुत्र को इस प्रकार उन्नति करते देख पिता का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। पर, पुत्र के अन्तःकरण के बदलते हुए भावों को समझना उनके लिये कठिन था। तहसीलदारी के पन्द्रह दिनों मे कलक्टर और ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट से सीधा व्यवहार होने पर मुंशीराम को अनुभव हुआ कि लोग जिस नौकरी में इतना मान-सन्मान समझे हुए हैं, वह अपमान के ज़हर से भरा हुआ कॉच का प्याला है। तहसीलदार के छुट्टी से लौटने पर उससे अपने मन का सब भाव कह दिया। उसके समझाने बुझाने पर किसी तरह एक मास और पूरा किया, पर उसके बाद एक ऐसी घटना हुई कि उससे मुंशीराम का दिल नौकरी से बिलकुल ही हट गया। बरेली से आठ या दस मील पर सेना पड़ाव डालने वाली थी। रसद वगै़रह का सब प्रबन्ध नायब तहसीलदार के नाते मुंशीराम पर आ पड़ा। फ़ौज के गोरों ने अण्डे वाले के अण्डे बिना क़ीमत चुकाये लूट लिये। कर्नल के पास शिकायत ले जाकर मुंशीराम ने साफ़ ही कह दिया कि यदि अण्डे

वाले ग़रीब के दाम न चुकाये गये तो मैं सब दूकानदारों को लौटा दूँगा। कर्नल को ऐसे स्पष्टवादी काले आदमी से पहिली ही बार पाला पडा होगा। उसने आग-बबूला होकर कहा—"तुम ऐसा करोगे तो हानि उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताखी का मतलब क्या है?" इस पर मुंशीराम भी अपने को सम्हाल न सके और बोले—"मै अपने आदमियों को ले जा रहा हूँ। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हैं, करें।" कर्नल आगे बढ़ा। पर, वह था निहत्था और मुंशीराम के हाथ में था हण्टर। हण्टर सम्हाला और रक़ाब पर पैर रखते हुए अपने सब आदमियों को लौटने का हुक्म देकर घोडे को एड दी। इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वजों की निर्भयता, वीरता और स्पष्टवादिता सबकी सब विरासत में केवल मुंशीराम को ही मिली थी। जहॉ दो बडे भाई पुलिस की नौकरी में सांसारिक दृष्टि से भी सफल हुए, वहॉ मुंशीराम उनसे ऊँचे ओहदे पर नियुक्त होने पर भी तीन माह से अधिक पुलिस की चाकरी नहीं निभा सके। लौटने पर तहसीलदार को जब घटना सुनाई, तो उसके चेहरे का रंग एकदम बदल गया। रात को उक्त घटना की सब रिपोर्ट लिखी। उर्दू की प्रति तहसीलदार को देकर अंग्रेज़ी की प्रति लेकर कलक्टर के बगले पर पहुँचे। वहॉ कर्नल पहिले ही से उपस्थित था। कलक्टर ने देखते ही कर्नल-साहब को अपमानित करने का कारण पूछा और कर्तव्य-पालन से विमुख होने के लिये सज़ा देने की धमकी दी। मुशीराम ने रिपोर्ट पेश करते हुए कहा कि इसको पढने के बाद न्याय कीजिएगा। रिपोर्ट पढ़ने और कर्नल के साथ एकान्त में परामर्श करने के बाद कलक्टर ने मुशीराम को कर्नल से माफ़ी मॉगने के लिए कहा। मुशीराम को बैठने तक के लिए नहीं कहा गया। इस व्यवहार ने अपमान के गहरे घाव पर नमक छिडकने का काम किया। मानसिक अवस्था के उत्तेजित होने पर भी कुछ सम्हल कर मुंशीराम ने साहब को सलाम किया और तुरन्त कमरे से बाहर आकर तहसील का रास्ता पकडा। इधर कमिश्नर का सवार बुलाने आया हुआ था। कमिश्नर मुंशीराम को स्थिर नौकरी दिलाने की फ़िक्र में था और फ़िलहाल बाहिर की तहसील में खाली जगह पर भेजना चाहता था। कर्नल के साथ की सब घटना और कलक्टर का सब व्यवहार बता कर मुंशीराम ने नौकरी से सदा के लिये छुट्टी लेनी चाही। पर, कमिश्नर ने छुट्टी देने से इनकार किया और उक्त घटना मे मुंशीराम को बेदाग़ बचा दिया। नायब तहसीलदार के छुट्टी से लौटते ही उसको चार्ज सम्हलवा कर मुशीराम ने चाकरी से अपना पिण्ड छुड़ाया। पर, पुत्र को किसी न किसी काम में लगाने की चिन्ता पिताजी को बराबर बनी रही। पुलिस की नौकरी के

सिवा उनकी दृष्टि और किस काम पर जा सकती थी?

सम्वत् 1937 के प्रारम्भ में ही नानकचन्द जी की बदली ख़ुर्जा को हो गई, जहाँ कि उन्होंने सबडिवीज़नल पुलिस अफ़सर का काम सम्हाला। मुंशीराम भी धर्मपत्नी-सहित पिताजी के साथ ख़ुर्जा गये। पहिले के पुलिस इन्स्पेक्टर जनरल और तत्कालीन बोर्ड आफ़ रेवेन्यू के उच्च अफ़सर मि. सी. पी. कारमाइकेल नानकचन्द जी के पुराने सुपरिचित व्यक्ति थे। वह जब दौरे पर बुलन्दशहर आये तो नानकचन्द जी मुंशीराम को साथ लेकर उनके पास गये। उन्होंने मुंशीराम को 150 से 350 रुपये के ग्रेड में ले लेने का आश्वासन दिया और यह भी कहा कि चार बरस में मुंशीराम डिपुटी कलक्टर बन जायगा। मुंशीराम ने दो मास में इलाहाबाद पहुँचने की प्रतिज्ञा करके उस समय तो छुट्टी ली। पर, मुंशीराम का भाग्य-चक्र दूसरी ओर घूमने वाला था। पुलिस के महकमे की गन्दी और बदनाम नौकरी में अपना जीवन बरबाद करना उसके प्रारब्ध में नहीं लिखा था। सेशन-सिपुर्द किये गये ख़ून के एक मामले की पैरवी के लिये नानकचन्द जी को मेरठ जाना पड़ा और वहाँ अकस्मात् जालन्धर के वकील श्री डूंगरमल से मुलाक़ात हो गई। उनसे बातचीत करने पर नानकचन्द जी ने निश्चय कर लिया कि मुंशीराम से वकालत की परीक्षा पास कराई जाय। मेरठ से लौटते ही उन्होंने मुंशीराम के सामने अपना विचार प्रगट किया। अन्धे को क्या चाहिये? दो आँखें। मुंशीराम की प्रसन्नता का पारावार न रहा। चाकरी तथा कारमाइकेल-साहब के साथ की हुई प्रतिज्ञा से भी मुक्ति मिली और उसका दोष भी अपने सिर नहीं पड़ा। बड़े भाई घर से अलग होकर अपना स्वतन्त्र कारबार करने लग गये थे। इसलिए फ़िलहाल घर और जायदाद का प्रबन्ध करने के लिये मुंशीराम को पिताजी ने घर भेज दिया। साथ में यह भी ताकीद कर दी कि पौष सम्वत् 1937 में लाहौर में क़ानून का अध्ययन अवश्य शुरू कर दिया जाय। पाँच-छः महीने साहूकारी और ज़मींदारी में निकल गये। पढ़ने-लिखने का काम कुछ था नहीं। सारा दिन शतरज के खेल में बीतने लगा। अन्य व्यसन छूट जाने पर भी मद्य मांस का सेवन नहीं छूटा।

7. फिर से विद्यार्थी-जीवन

पिताजी के आदेशानुसार पौष सम्वत् 1937 के दूसरे सप्ताह मे क़ानून की परीक्षा की तैयारी करने के लिए मुंशीराम लाहौर चले गये। क़ानून की श्रेणी में भरती तो हो गये, पर परीक्षा के लिये आवश्यक तीन-चौथाई व्याख्यानों की संख्या पूरी नहीं हुई। उसमें पॉच की कमी रह गई। इसके लिए मुंशीराम इतने दोषी नहीं थे, जितना कि घर वाले थे। पहिले के दस पन्द्रह दिन मकान ढूँढ़ने में लग गये। कुछ ही दिन पढ़ाई करने के बाद अग्रेज़ी उपन्यासों तथा कथा-कहानियों के पढने का शौक़ फिर जाग उठा और थोडी आवारागर्दी ने भी आ घेरा। विद्यार्थी-जीवन शुरू करने के बाद भी घर के काम की सब जिम्मेवारी मुंशीराम पर थी। होली पर घर के काम का निरीक्षण करने आये तो चार-पॉच दिन अधिक लग जाना साधारण बात थी। आषाढ़ में बड़े भाई मूलराज की लडकी का विवाह आ गया। पिताजी की आज्ञा पर उसके प्रबन्ध के लिये छुट्टी लेकर तलवन जाना पड़ा। पढ़ाई के कुछ दिन ख़राब होने ही थे। मुशीराम को पिताजी ने भाई आत्माराम की पत्नी को उनके पास पहुॅचाने को आदेश दिया। भाई ग़ाजीपुर ज़िले मे किसी थाने में थानेदार थे। बनारस, बरेली और खुर्जा आदि मे पुराने मित्रों से मिले बिना कैसे रहा जा सकता था? लम्बी यात्रा मे इसी से दुगना समय लग गया। पिताजी पेंशन के लिये दरख़्वास्त दे चुके थे। इसलिये खुर्जा से लौटते हुए पिताजी ने बहुत-सा सामान घर पहॅुचाने के लिये साथ में कर दिया। इस यात्रा से व्याख्यानों की संख्या और भी कम हो गई। इस बार घर से लाहौर जाते हुए मुशीराम शिवदेवी को भी साथ ले गये। पढ़ाई का काम नियमपूर्वक चलने लगा। परीक्षा में महीना भर रहा होगा कि प्रोफ़ेसर छुट्टी पर चले गये। उनके स्थान पर कोई दूसरा प्रोफेसर नहीं आया। व्याख्यानों की कमी का पूरा होना असम्भव हो गया। परीक्षा की सब तैयारी करी-कराई रह गई। ऑखों के सामने नाचती हुई सफलता निराशा में परिणत हो गई। वकील बनने की अभिलाषा मन की मन में रह गई। पर,

इस पर भी हिम्मत नही हारी। पौष 1938 में फिर क़ानून की श्रेणी में प्रविष्ट होकर नियमपूर्वक व्याख्यानो मे शामिल होना शुरू किया। उपस्थिति 80 प्रति सैकड़ा कर लेने के बाद घर में ही तैयारी करने के विचार से मुंशीराम घर चले आये। तलवन मे शिक्षित मण्डली का अभाव था। इसलिये जालन्धर अधिक पस्न्द आया। पर, जालन्धर की संगति सत्संगति साबित न होकर कुसगति ही साबित हुई। ससुराल में मांस-भक्षण का बहुत अधिक प्रचार था और मद्यपान सभ्यता का पहिला लक्षण माना जाता था। मुंशीराम सरीखे व्यक्ति का इस प्रलोभन से बचना सम्भव नही था। जालन्धर का सब समय प्रायः खाने-पीने और मौज उड़ाने में ही बीता। यह अनुभव होने पर कि जालन्धर में परीक्षा की तैयारी होना सम्भव नहीं, मुंशीराम फिर लाहौर चले गये। यहाँ जीवन कुछ सुधरा, मद्यपान का व्यसन भी कुछ दबा और आर्यसमाज एवं ब्राह्मसमाज के सत्संगों में भी आना-जाना शुरू किया। पर, परीक्षा की तयारी में मन नही लगा। परीक्षा मे उत्तीर्ण होने की सम्भावना न होते हुए भी परीक्षा में बैठ गये। अनुत्तीर्ण होना निश्चित था। पिताजी को इस समाचार का तब पता लगा, जब वे छमाही की पेंशन लेने जालन्धर आये। पुत्र को उदास देख अपने साथ ही तलवन ले गये। इसी समय मुंशीराम के प्रथम सन्तान हुई, जिसका नाम वेदकुमारी रखा गया। तलवन में तीन मास गृहस्थ के आनन्द मे बीते। प्रथम सन्तान के लाड-प्यार ने सांसारिक चिन्ता और परीक्षा की असफलता से पैदा हुई सब निराशा को एक बार तो भुला ही दिया। पर, इस प्रकार सांसारिक चिन्ताओं से सदा के लिये किसको छुट्टी मिली है? संसार के द्वन्द्वों से ससार मे रहते हुए किसने छुटकारा पाया है? मुंशीराम का यह चिन्ता-रहित आनन्दमय गृहस्थ-जीवन अधिक दिन नहीं निभ सका।

भाई आत्माराम भी नौकरी छोड़ कर घर चले आये। पिताजी के साथ दो परिवार रहने लगे। शिवदेवी जी की आज़ादी मे विघ्न पडने लगा। इससे वे तो न घबराई, पर मुशीराम घबरा उठे और स्वतन्त्र-जीवन बिताने के लिए स्वतन्त्र आजीविका का उपाय खोज निकालने मे चिन्तित रहने लगे। इस चिन्ता को दबाने के लिये दूसरा कोई उपाय न सूझा, तो लगी शराब उड़ने। पर, उसको दबाने या दूर करने की औषधि शराब नहीं थी। फिर मुशीराम थे भी ऐसे पिय्यकड कि तेज से तेज़ और अधिक से अधिक पी जाने पर भी दूसरों की अपेक्षा उनको बहुत कम नशा होता था। इससे एक लाभ भी था। वह यह कि अधिक पी जाने पर भी मुशीराम आपे से बाहर न होते थे, दिमाग को काबू मे रख कर नशे के बाद की बुराई से बचे रह सकते थे। पर इस अति के दुष्परिणाम से मन और

आत्मा का बेदाग बना रहना सम्भव नहीं था। शराब की सहायता से यदि स्वतन्त्र आजीविका की खोज का सवाल हल हो सकता तो दुनिया में बेकारी की समस्या इतना जटिल रूप धारण न कर पाती। अस्तु, तीन मास इसी उधेड़-बुन मे शराब के साथ निकल गये। नौकरी और परीक्षा को मन की तुला पर तोलते तो कभी नौकरी का पलडा झुकता दीख पड़ता और कभी परीक्षा का। कभी कारमाइकेल-साहब की दिलाई हुई आशा सामने झूमने लगती, तो कभी वकीलों के स्वतन्त्र जीवन का सुनहरा चित्र सामने आ खड़ा होता। परीक्षा देने के विचार ने विजय प्राप्त की और रात-दिन एक करके परीक्षा की तैयारी की गई। पर, नौकरी का प्रलोभन सामने बना ही रहा। शिवदेवी से अनुमति लेकर एक बार नौकरी करने का विचार भी दृढ़ कर लिया। घर वालों को परीक्षा देने की बात कह कर और मन मे नौकरी करने की ठान कर मुशीराम ने लाहौर जाने का निश्चय किया। लाहौर जाते हुए मन फिर बदला। बरेली की अपमानास्पद नौकरी के स्वतन्त्र (!) जीवन की याद आते ही नौकरी से मुँह फिर गया। परीक्षा देने का निश्चय किया। लाहौर पहुँचने पर मुख्तारी की परीक्षा में बैठने वाले एक और मित्र मिल गये। उनके साथ मिल कर परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी और भोजन आदि भी उनके साथ ही होने लगा। राग-रंग और गुलछर्रे सब भूल गये। दिन-रात सबका सब समय परीक्षा की तैयारी की भेट होने लगा। इस परीक्षा का वही परिणाम हुआ, जो होना चाहिये था। परीक्षा मे सफलता प्राप्त हुई। पुत्र की इस सफलता पर पिताजी के आनन्द की सीमा न रही। तलवन मे आनन्दोत्सव मनाया गया। ठाकुरो का शृगार किया गया, ब्रह्मभोज हुआ और सम्बन्धियो के आग्रह पर वेश्या का नाच भी।

मुशीराम की कायापलट करने वाले महर्षि दयानन्द का देहान्त उसी वर्ष (13 कार्तिक सम्वत् 1940 को) हुआ, जिसमें मुशीराम ने क़ानून (मुख़्तारी) की परीक्षा मे सफलता प्राप्त करने के बाद जालन्धर में कानूनी पेशे मे पैर रखा था। जालन्धर मे श्री शिवनारायण जी वकील के यहाँ महर्षि के देहावसान के अवसर पर जो शोक सभा हुई, वह मुशीराम की ही प्रेरणा का परिणाम था। मुशीराम के अन्तःकरण मे पैदा हुई इस प्रेरणा को बरेली में महर्षि के साथ हुए सत्सग का ही सुफल समझना चाहिये।

8. स्वतन्त्र आजीविका

स्वतन्त्र आजीविका की चिन्ता मुंशीराम को देर से सता रही थी। मुख़्तारी की परीक्षा में पास होने से स्वतन्त्र आजीविका का प्रश्न हल हो गया। जालन्धर के वकीलों में नाम दर्ज हो गया। श्री बालकराम जी (मुंशीराम जी के बडे साले) ने मौलाबख़्श नाम के चलते-पुरजे बीस बरस के एक युवक को मुन्शी रख दिया। उसके साथ यह शर्त हो गई कि अच्छा काम दिलाने पर महीने के बाद उसको स्थिर किया जायेगा। वह एक फ़ौजदारी मुक़दमा ले आया, जिसकी पेशी फ़िल्लौर में तहसीलदार के यहाँ होनी थी। इस मुक़द्दमे के लिए मुंशीराम जी को फ़िल्लौर जाना पड़ा। वहाँ जाकर पता चला कि तहसीलदार की कचहरी शाम को लगती है। तहसीलदार सय्यद आबिदहुसैन मुशीरामजी के पिताजी को अपना बुज़ुर्ग मानते थे, क्योंकि उनके पिता सय्यद हादीहसन इनके पिता के साथ बरेली मे डिप्टी कलक्टर रह चुके थे। मुंशीराम जी उनके ही यहाँ ठहरे थे। दिन के समय का भी सदुपयोग हो गया। मुसफ़ी के दो मुक़दमे हाथ आ गये, जिनमे 24 रुपये की आमदनी हो गई। कुछ इस सफलता से और कुछ तहसीलदार साहब की सलाह से फ़िल्लौर में ही वकालत करने का निश्चय किया गया। घोडागाड़ी, बरतन, नौकर और सब जरूरी सामान भी तलवन से आ गया। फ़िल्लौर में यदि कोई अच्छी, उन्नत एवं शिक्षित संगति नहीं थी, तो कोई कुसंगति भी नहीं थी। इसलिये आदतें बहुत सुधर गई। बहुत कम ख़र्च मे काम चलने लगा। पहले ही महीने में खर्च काट कर बचत के 75 रुपये पिताजी के चरणों में भेंट किये और दूसरे में 125। पिताजी को इससे बहुत सन्तोष हुआ। उन्होंने पुत्र को सपरिवार फ़िल्लौर मे स्वतन्त्र रूप में रहने की आज्ञा दे दी। परिवार सहित फ़िल्लौर आने की तैयारी मे थे कि भाई मूलराज पर मेरठ में मुक़दमा चलने और नौकरी से हटा कर पुलिस लाइन्स में लाए जाने का समाचार आया। साथ में ही पिताजी को किसी पुराने मुक़दमे में साक्षी देने जाने का सम्मन भागलपुर (बिहार) से मिला। पिताजी का आदेश

हुआ कि उनके साथ मेरठ जाना होगा। मुंशीराम अकेले ही फ़िल्लौर गये। हाथ में लिये हुए मुक़दमे निबटाए और सामान सब तलवन भेज दिया। पिताजी एक दिन मेरठ ठहर भागलपुर चले गये और वहाँ से बीस दिन में लौटे। मुंशीराम मेरठ में मुक़दमे की तैयारी में लग गए। दो-ढाई मास इस मुक़दमे में बीत गये। मूलराज मुक़दमे से बेदाग़ बरी हो गये और अपनी नौकरी में लग गये। पर, पिताजी की सम्मति यही हुई कि उनको नौकरी छोड़ कर घर चले आना चाहिए। एक मास बाद मूलराज नौकरी छोड़कर घर आ गये। घर आकर मकानों में अपना हिस्सा अलग लेकर उन्होंने अपने लिये नया मकान बनवाना शुरू कर दिया।

मेरठ से लौटकर श्रावण (जुलाई) में जालन्धर आकर वहीं वकालत करने का निश्चय किया। दूकान ठीक करते न-करते छुट्टियाँ आ गई। छुट्टियों के बाद कार्तिक से जालन्धर में ही मुख़्तारी शुरू की। काम अच्छा चल निकला। आमदनी भी अधिक होने लगी। सिर पर किसी का नियन्त्रण नहीं था। फ़िल्लौर में दिये जाने वाले आमदनी के हिसाब का बन्धन भी टूट चुका था। शिवदेवी जी पुत्री सहित मायके रहती थीं, इसलिए भी पूरी स्वच्छन्दता थी। स्वच्छन्दता के इन दिनों मे फिर शराब का दौरा शुरू हुआ और लगी पूरी की पूरी बोतल चढ़ने। दिमाग पर इसका बुरा असर हुआ। आध घण्टा से अधिक पढ़ना लिखना और पॉच मिनिट से अधिक किसी एक विषय पर मन स्थिर नहीं होता था। इस पर भी मास-मदिरा का व्यसन कुछ कम नहीं हुआ। वह बढता ही गया। मित्रों की दावते भी इसका प्रधान कारण थीं। मुंशीराम जी को पौष सम्वत् 1941 (दिसम्बर सन् 1884) मे जब यह पता चला कि एक वर्ष बाद से वकालत पास करने के लिये बी.ए. पास करने का प्रतिबन्ध लगने वाला है, तब उन्होंने लाहौर जाकर वकालत पास करने का निश्चय किया। वकालत पास करने की आवश्यकता इसलिये भी प्रतीत हुई कि मुख्तार हर एक मुक़दमे में पैरवी नहीं कर सकता था। अदालत उसको जिस मामले मे चाहे पैरवी करने से रोक सकती थी। बडे दिनों से पहले ही मुख्तारी की दुकान उठाकर लाहौर जाने का विचार ठीक कर लिया गया। पर, मित्रो की दावते बुरी तरह पीछे लग गई। प्रत्येक शाम को किसी न किसी मित्र के यहॉ मुर्गों के गले काटे जाते, अण्डे भूने जाते और प्याले के दौर लगते। नित्य दिन को लाहोर चलने की तैयारी करते और नित्य ही सायंकाल वह की-कराई तैयारी प्याले की लहर में बह जाती। यह अति भी मुंशीराम लिए लाभदायक ही साबित हुई और उसने मदिरा से सदा के लिये छुट्टी दिला दी।

एक दिन शाम को एक बड़े वकील के यहॉ निमन्त्रण था। यहॉ शराब का

खूब खुला दौर चला। भोजन के बाद और सबने अपने अपने घर की राह पकड़ी। पर, एक मुख़्तार साथी पीछे मुंशीराम जी के साथ रह गए। ये नशे में चूर थे। बाहिर पैर रखते ही लगे लड़खडाने और अनाप-शनाप बकने। मुंशीराम जी उसको सहारा देते हुए उसके घर ले चले। वह सहारा छुडा कर गली में एक घर में घुस गया। मुंशीराम भी पीछे पहुँचे तो देखा वह वेश्या कर घर था। किसी प्रकार उसको वहॉ से धकेल लाये और लाकर घर पहुँचा दिया। जब अपने यहाँ पहुँचे तो आपके मेहमानदार मित्र, जिनके यहॉ आप ठहरे हुए थे, बोतल खोले बैठे थे। रात के आठ ही बजे थे। फिर रंग जम गया। पहली बोतल समाप्त हुई कि दूसरी खुल गई। दूसरी बोतल का एक ही एक 'पैग' चढ़ा था कि मित्र आपे से बाहर हो गए। उनको सोने के लिए तैयार कर कमरे में भेजा और इधर एक प्याला चढ़ा कर दूसरा भरा ही था कि भीतर से एक दर्द-भरी चीख सुन पड़ी। मुंशीराम किसी आकस्मिक दुर्घटना की कल्पना कर भीतर घुसे तो देखा, उनके वह मित्र राक्षस का रूप धारण कर एक युवती स्त्री को अपने हाथो में दबोचे हुए उस पर पाशविक आक्रमण करने की तैयारी में थे। स्त्री बुरी तरह छटपटा रही थी। मतवाले मित्र के इस घृणित व्यवहार के बीभत्स दृश्य ने मुंशीराम के अन्तःचक्षु खोल दिये। उस नर-पशु से उस देवी की रक्षा क्या की, मदिरा के व्यसन से सदा के लिए अपने को ही बचा लिया। उस दिन प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि मदिरापान मनुष्य को किस गढ़े मे लं जा गिराता है। मन ही मन अनेकों संकल्प विकल्प पैदा हुए। बनारस का राजरानी की रक्षा का पवित्र दृश्य और सच्ची हिन्दू पत्नी शिवदेवी की अलौकिक सेवा का बरेली का भव्य चित्र एक-एक करके ऑखो के सामने आ गए। पिछला सारा ही जीवन एक बार सिनेमा के चित्रों की तरह सामने नाचने लगा। उत्थान और पतन की, दृढ़ता और निर्बलता की, सब घटनाये स्मरण हो आई। मदिरा से जी फिर गया। पर, सामने पड़ी हुई शराब की बोतल को फेंकने की हिम्मत न हुई। ग़रीब भिक्षुक मैले कुचैले कपडे फट जाने पर भी बदन से नहीं उतार सकता। वही अवस्था मुंशीराम की भी हुई। सोचा कि इस बोतल को तो पूरा कर दिया जाये। उसके बाद सदा के लिए उससे मुक्ति प्राप्त कर ली जायगी। यह सोचकर बड़ा गिलास भरा ही था कि आत्मा में फिर असाधारण क्रान्ति पैदा हुई। इस बार उसको दबाना कठिन हो गया। सड़क की ओर दूसरे मकान की दीवार पर गिलास दे मारा और साथ में बोतल भी। मन की दुर्बलता पर आत्मा की दृढ़ता ने विजय प्राप्त की। वर्षो का व्यसन जो छूट-छूट कर फिर फिर आ लगा था, एक ही क्षण में दूर हो गया। मानसिक अवस्था इतनी बदल

गई कि दूसरे दिन सवेरे निवृत्त हो सीधे स्टेशन चल दिए। लाहौर के लिए गाड़ी दस बजे छूटती थी। पर, आप लगभग सात बजे ही स्टेशन जा पहुँचे। मित्र मनाने आए, पर उनको आन्तरिक परिवर्तन का क्या पता था? शाम को लाहौर पहुँचे और सीधे रहमतखाँ के अहाते में चले गए, जहाँ कि स्वर्गीय रायज़ादा भक्तराम ने आपके लिए एक कमरा ठीक कर रखा था। कमरे मे सब सामान ठीक करने के बाद भोजन किया और कोई आधा घण्टा पुस्तकावलोकन कर सो गये। दूसरे दिन सवेरे से ही लाहौर में नये जन्म का सूत्रपात हुआ।

9. वकालत की परीक्षा

नये जन्म की कथा शुरू करने से पहले वकालत की परीक्षा की कहानी पूरी कर देनी चाहिए। लाहौर मे पहले ही दिन से 'लॉ क्लास' में जाना शुरू कर दिया और रात को भी क़ानूनी पुस्तकों का अभ्यास नियमपूर्वक किया जाने लगा। लॉ-कालेज उस समय अलग नही था। सरकारी कालेज के ही एक कमरे में डिस्ट्रिक्ट जज मि. ई. डब्ल्यू. पारकर वकालत-परीक्षा के उम्मीदवारों को क़ानून-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करते थे। मुंशीरामजी को मि. पारकर का कृपापात्र बनने में अधिक समय नही लगा। अंग्रेजी धर्मशास्त्र का ग्रन्थ हालैण्ड्स जूरिस्प्रूडेंस बडा कठिन था। उसके सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रश्नो पर मि. पारकर भी चकरा जाते थे। एक दिन उनकी अनुमति से उसके सम्बन्ध मे की गई एक विद्यार्थी की शंका का मुशीराम जी ने समाधान कर दिया। बात यह थी कि मुंशीराम जी विद्या-व्यसनी तो थे ही। किसी भी विषय में बीच में लटके रहना उनको पसन्द नहीं था। कानून का उन्होने और भी गहरा अध्ययन इसलिये किया था कि उनके मन में लाहौर के चीफ कोर्ट का जज बनने की महत्वाकाक्षा समा गई थी। इसलिये परीक्षा के लिए नियत पाठविधि से कही अधिक क़ानून की पुस्तके पढ ली थीं। मि. पारकर उनकी योग्यता पर इतने मुग्ध हुए कि विद्यार्थियो की वाग्वर्द्धिनी-सभा स्थापित करके उनको उसका प्रधान बना दिया। सहपाठियो पर भी उनकी योग्यता की इतनी धाक जम गई कि वे शाम को घूमने जाने के समय उनको घेरे रहते और वे गोलबाग मे बैठ कर उनको क़ानून पर व्याख्यान दिया करते। स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि पुस्तकों की सहायता के बिना ही यह सब अभ्यास मौखिक ही होता था।

सम्वत् 1942 की छुट्टियाँ जालन्धर और तलवन बिताने के बाद लाहौर लौटने पर परीक्षा की तैयारी बडे जोर-शोर से आरम्भ कर दी गई। मार्गशीर्ष के अन्त, दिसम्बर के मध्य, मे परीक्षा होने को थी। परीक्षा से महीनाभर पहिले मलेरिया ज्वर का भयकर आक्रमण हुआ और मार्गशीर्ष के मध्य, नवम्बर के अन्तिम दिनों,

में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव का भी पूरा आनन्द लूटा। सब साथी तो परीक्षा-भवन में पहुँचने तक तोता-रटन्त लगाते रहे, किन्तु मुंशीराम ने अपने पुराने अभ्यास के अनुसार परीक्षा से दो दिन पहले सब पुस्तकों को छुट्टी दे दी। परीक्षा इस आसानी से दी कि तीन-तीन घण्टों के प्रायः सभी पर्चे डेढ़-डेढ़ घण्टे में कर आये। केवल राज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न-पत्र में ढाई घण्टे लगे, क्योंकि वह कुछ लम्बा था। सब पर्चों में पास होकर और दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक अंक लेकर भी फ़ौजदारी क़ानून की मौखिक परीक्षा में केवल दो अंकों के लिये अनुत्तीर्ण होना पड़ा। वह भी इसलिये कि क़ानून की अधिक योग्यता के ज़ोर पर आप परीक्षक-महाशय श्री योगेन्द्रनाथ वसु से ही उलझ पड़े। पहिले ही प्रश्न पर उनके साथ कुछ बहस हो गई। वे कुछ खिसिया-से गये और 50 मे से 23 अंक देकर केवल दो अंकों के लिये सारी योग्यता पर पानी फेर दिया। इधर तो फ़ौज़दारी-क़ानून की परीक्षा में पास होने में दो अंकों की कमी रही, उधर दीवानी-क़ानून की मौखिक परीक्षा में 50 मे से 45 अक प्राप्त हुए और उस वर्ष क़ानून की परीक्षा मे सर्वप्रथम ठहरने वाले महाशय से भी आपके पूर्णांक लगभग 50 अधिक थे। इतनी योग्यता पर भी केवल दो अंको के लिये अनुत्तीर्ण होना पड़ा।

मुंशीराम जी की ही तरह अनुत्तीर्ण हुए परीक्षार्थी उनके मकान पर एकत्र हुए। सब मि. कार स्टीवन साहब के बँगले पर गये। आप मि. पारकर की जगह आये थे और पिछले दिनों मे आप ही उनकी जगह क़ानून की क्लास लेते थे। साहब ने मुंशीराम को अलग ले जाकर कहा कि सबके साथ कुछ न हो सकेगा। अकेले प्रार्थना-पत्र दोगे तो मैं सिफ़ारिश कर दूँगा। मुंशीराम जी को अकेले प्रार्थना-पत्र देना उचित प्रतीत नही हुआ। इधर कई-एक अनुत्तीर्ण साथियों की मुरझाई हुई आशा फिर लहलहा उठी और वे उत्तीर्ण होकर वकील-साहब भी बन गये। बात यह थी कि पंजाब यूनिवर्सिटी के उस समय के रजिस्ट्रार मि. लारपेण्ट ने रिश्वत लेकर अनुत्तीर्ण लोगों को भी उत्तीर्ण करना शुरू कर दिया था। मुंशीराम जी के पास भी इस प्रकार उत्तीर्ण होने का प्रस्ताव आया। उनसे कहा गया कि दूसरों ने पाँच-पाँच सौ दिया है, आप दो-ढाई सौ ही दे दें तो काम बन जाय। ऐसा करने से स्पष्ट इनकार करते हुए आपने रजिस्ट्रार साहब को पत्र लिखा कि यदि वे अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों को इस प्रकार उत्तीर्ण करेंगे तो समाचार-पत्रों में उनकी खबर ली जायगी। परिणाम यह हुआ कि उलटे मुंशीराम जी को ही घूस दी गई। घूस देने वालों के साथ मुंशीराम जी को बिना कुछ लिये-दिये ही उत्तीर्ण कर दिया गया। यह है अनुत्तीर्ण होकर भी उत्तीर्ण होने की घटना, जिससे मुंशीराम जी के सत्य-प्रेम, स्पष्टवादिता और दृढ़ता का ही परिचय मिलता है।

(ख)

नये जीवन का सूत्रपात

1. आर्यसमाज में प्रवेश, 2 दृढ़ आर्य बनने की तैयारी, 3 मांस-भक्षण का त्याग, 4. जालन्धर आर्यसमाज में पहिला भाषण, 5. धर्म-सकट, 6. पिताजी के विचारो मे परिवर्तन, 7. मुख्तारी की दुकानदारी, 8. पिताजी की बीमारी और देहावसान, 9. वकालत की अन्तिम परीक्षा और उसका अनुभव।

1. आर्यसमाज में प्रवेश

वकालत की परीक्षा देने के लिए जालन्धर से लाहौर के लिये विदा होने की अन्तिम रात की घटना ने मुंशीराम जी के जीवन में जिस परिवर्तन का सूत्रपात किया था, उसने लाहौर पहुँचते ही ख़ूब गहरा रंग पकड़ा। मुंशीराम जी का उस समय का जीवन उस स्वच्छ जल के समान था, जिसका अपना कोई रंग नहीं, किन्तु दूसरे रंग उसके रंग को तुरन्त बदल देते हैं। अच्छी या बुरी संगति का प्रभाव मुंशीराम जी के जीवन पर भी कुछ ऐसा ही पड़ता था कि वे उससे तुरन्त प्रभावित हो जाते थे। बाल्यकाल की सोई हुई आस्तिकता फिर जाग उठी। गरमी में मुरझाए हुए पौधे वर्षा-ऋतु का जल पाकर लहलहाने लगे। कुल-परम्परागत श्रद्धा ने युवावस्था की नास्तिकता पर विजय प्राप्त करने की तैयारी की। लाहौर पहुँचने के तीसरे ही दिन रविवार था। प्रातः आर्यसमाज और सायंकाल ब्राह्मसमाज के अधिवेशनो मे सम्मिलित होने के लिये गए। ब्राह्म-मन्दिर में शिवनाथ जी शास्त्री का व्याख्यान था। उनकी शान्त मूर्ति और प्रेम रस मे सने हुए, हृदय की गहराई तक पहुँचने वाले, श्रद्धापूर्ण शब्दो ने मुंशीराम जी को अपनी ओर खींच लिया। ब्राह्मसमाज के सम्बन्ध में जितनी भी पुस्तकें उस समय वहाँ मिलीं, सब उन्होने खरीद ली। रात को घर पहुँच कर एक छोटी सी पुस्तक सोने से पहले ही समाप्त कर ली। पाँच छः दिन खूब मन लगा कर सब पुस्तकें पढ़ी। नव-विधान-समाज के उस समय के प्रधान लाला काशीराम ने पुनर्जन्म के विरुद्ध अपनी लिखी हुई पुस्तक दी, उसको पढने से मन मे कुछ सन्देह पैदा हो गये। शंका-समाधान के लिए आप उनके घर गये। वे मिले नही। दूसरे दिन सवेरे ही उनको घर पर जा घेरा। उन्होंने बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रतापचन्द्र मजुमदार की पुस्तको को पढ़ने का परामर्श दिया। पर, उनको क्या मालूम था कि जिज्ञासु उनको पहले ही पढ़ चुका है। इस पर वे कुछ बातचीत करने को विवश हुए। बातचीत से जिज्ञासु को कुछ सन्तोष न होकर पुनर्जन्म और कर्मफल के सम्बन्ध में मन का

सन्देह और अधिक दृढ हो गया। इस सन्देह से बरेली में पादरी स्काट के साथ महर्षि दयानन्द के इस सम्बन्ध मे हुए शास्त्रार्थ का स्मरण हो आया और सहसा यह विचार पैदा हुआ कि 'सत्यार्थप्रकाश' मे सम्भवतः इसका समाधान मिल जाय। वहॉ से सीधे बच्छोवाली आर्यसमाज-मन्दिर मे 'सत्यार्थप्रकाश' ख़रीदने गए। पुस्तक-भण्डार उस समय बन्द था। चपरासी से मालूम हुआ कि पुस्तकाध्यक्ष लाला केशवराम के आने पर पुस्तक मिलेगी। उनके घर का पता लेकर दो घण्टे भटकने के बाद उनके घर पहुॅचे तो वे नौकरी पर बड़े तार-घर चले गये थे। बड़े तार-घर गये तो दोपहर की छुट्टी में जलपान के लिए वे घर आ गये थे। फिर घर आये तो पता चला कि वे तार-घर लौट गए हैं और डेढ घण्टा बाद वापिस आयेंगे। डेढ घण्टा वहॉ ही बिताने के बाद जैसे ही बाबू केशवराम घर जाते हुए दिखाई दिये कि उनके पीछे हो लिए और उनको घर पर जा घेरा। उनसे कहा कि—"महाशय जी! मुझ को सत्यर्थप्रकाश खरीदना है।" उन्होंने उत्तर दिया—"निवृत्त होकर कुछ खा लूॅ तो आपके साथ चलता हूॅ।" मुंशीराम जी ने अपना सारे दिन का हाल सुनाते हुए कहा कि "अच्छा, मैं बाहर ठहरता हूॅ।" केशव जी समझ गये कि जिज्ञासु के हृदय मे श्रद्धा का कोई अद्‌भुत भाव अन्तर्हित है। वे बोले—"चलिये, महाशय! पहिले आपको पुस्तक दे दूॅ। आपको पुस्तक दिये बिना मुझको सन्तोष न होगा।" समाज-मन्दिर जाकर केशव जी को क़ीमत देकर 'सत्यार्थप्रकाश' लिया। हृदय में इतनी प्रसन्नता थी जैसे कि कुबेर का अक्षय कोष ही हाथ लग गया हो। अन्धे को दो ऑखें मिल गई हों। सवेरे के भोजन मे मुंशीराम जी को अनुपस्थित देख कर साथियों को थोडा आश्चर्य हुआ। शाम को भी वे तब घर पहुॅचे, जब कि भोजन परोसा जा रहा था। सवेरे के भूखे मुंशीराम जी ने बड़े सन्तोष के साथ भोजन किया। भोजन के बाद घूमने न जाकर बत्ती जलाकर 'सत्यार्थप्रकाश' के साथ तन्मय हो गए। सोने से पहले भूमिका और पहला समुल्लास पूरा कर लिया। 'सत्यार्थप्रकाश' का स्वाध्याय धर्म-विषयक गहरे अनुशीलन के बाद शुरू किया गया था और नास्तिकपन को विदा देकर आस्तिक बुद्धि से ही उसको हाथ में लिया था।

आर्यसमाज के शुक्ल पक्ष के ये आरम्भिक दिन थे। आर्य भाई अपनी मण्डली में नये लोगो को शामिल करने के लिये विशेष यत्नशील रहते थे। मुशीराम के मित्रों को उनको आर्यसमाजी बनाने की विशेष चिन्ता थी। भाई सुन्दरदास जी ऐसे मित्रों में अन्यतम थे। वह एक रविवार को बडे सवेरे ही उनके डेरे पर आ पहुॅचे। सम्वत् 1941 माघ मास का वह शुभ रविवार था। मुंशीराम जी सामने

'सत्यार्थप्रकाश' का आठवाँ समुल्लास खोले हुए किसी विचार-विशेष में मग्न थे। उन्होंने आते ही पूछा—"कहिये किस चिन्ता में हैं? कुछ निश्चय किया या नही?" मुशीराम ने उत्तर दिया—"हाँ, पुनर्जन्म के सिद्धांत ने फ़ैसला कर दिया। आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सभासद् बन सकता हूँ।" भाई सुन्दरदास जी का चेहरा खिल उठा। किसान ने बड़े सवेरे ही खेत में जाकर देखा कि उसकी बड़ी मेहनत फल ला रही है। ख़ून-पसीना एक करके तैयार किये हुए खेत में बखेरे गये बीजों के अंकुर फूट आये है। उस किसान की प्रसन्नता भाई सुन्दरदास जी के चेहरे पर खिल रही थी। वे मुंशीराम जी के डेरे पर ही जम गये। वही स्नान आदि नित्य-कर्मो से निवृत्त हो मुंशीराम जी को साथ लेकर आर्यसमाज-बच्छोवाली पहुँचे। वही दोनों मुसलमान रबाबी सारंगी के आलाप और तबले की थाप के साथ बड़ी ही समयोचित तान तोड रहे थे, जो प्रायः प्रति सप्ताह आर्य-मन्दिर और ब्राह्म-मन्दिर में बिहारीलाल की संगीतमाला और नानक तथा कबीर के भजन गाया करते थे। उस समय गाये जाने वाले समयोचित शब्द मुंशीराम जी की मानसिक अवस्था के कितने अनुकूल थे? वे गा रहे थे—

"उत्तर गया मेरे मन दा ससा, जद तेरा दर्शन पायो।"

न केवल लाहौर आर्यसमाज के प्राणदाता, किन्तु समस्त प्रांत की समाजों मे जीवन डालने वाली जिस जीवन-धारा का प्रवाह लाहौर से प्रवाहित होता था उसके भी कई अशों मे उस समय के उद्गम स्थान, लाला साईदास जी के कान मे धीरे से भाई सुन्दरदास जी ने अपनी सफलता की बात कह सुनाई। लाला जी ने दो-तीन बार जोर से इशारा करके मुशीराम जी को अपने पास बुला लिया और उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया। भाई दित्तसिह उस समय लाहौर-समाज के सुप्रसिद्ध व्याख्याता थे और प्रति रविवार को प्रायः उनका ही भाषण हुआ करता था। भाई जवाहिरसिंह जी उस समय मन्त्री थे। दोनों के साथ मुशीराम जी का सम्वत् 1938 का तब का परिचय था, जब कि वे लाहौर में मुख़्तारी की परीक्षा देने आये थे। उस समय मुंशीराम जी ने भाटी दरवाजे के भीतर एक मकान किराये पर लिया हुआ था। उसके पास ही चौबारे पर 'सर्वहितकारिणी-सभा' जमा करती थी। उसके अधिवेशनों में मुशीराम जी का भाई दित्तसिह और भाई जवाहरसिंह से परिचय हुआ था। अपने पुराने साथी को अपनी बिरादरी में शामिल होते देख कर उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। भाई दित्तसिंह जी ने अपने भाषण की समाप्ति में मुंशीराम जी के समाज में प्रविष्ट होने का समाचार कहते हुए उनके साथ अपने पुराने परिचय का भी उल्लेख किया।

उनके बाद भाई जवाहिरसिंह जी उठे। उन्होंने मुशीराम जी के आर्यसमाज में प्रवेश करने पर हर्ष प्रगट करते हुए यह भी कहा कि वे भी अपने कुछ विचार प्रगट करेंगे।

मुंशीराम के लिये ऐसी उपस्थिति मे कुछ बोलने का यह पहिला ही अवसर था। हिचकते हुए-से खड़े हुए और जब बोलने लगे तब 20-25 मिनट बोल गये। वह भाषण नहीं था, अन्तरात्मा में पैदा हुए सात्विक भावों का प्रकाश था। उन भावों का सारांश यह था कि "हम सबके कर्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहियें। जो वैदिक-धर्म के एक-एक सिद्धांत के अनुकूल अपना जीवन नहीं ढाल लेगा, उसको उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिये। भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता। इस पवित्र कार्य के लिये स्वार्थत्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।" लाला साईदास जी ने घर पहुँच कर अपने अन्य आर्यसमाजी मित्रों से कहा–"आर्य समाज में यह नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आई है। देखें, यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" स्वर्गीय लाला साईदास जी की यह सन्दिग्ध भविष्यवाणी पूरी होती है या नहीं, इसका निर्णय पाठक अगले पृष्ठों को पढ़ने के बाद करेंगे तो अच्छा होगा।

2. दृढ़ आर्य बनने की तैयारी

आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद से ही मुंशीराम जी अपने जीवन को उसके एक-एक सिद्धान्त के अनुकूल ढालने में लग गये। इसके लिये कुछ सामयिक कारण भी थे। रहमतख़ाँ के अहाते में तीन-तीन कमरों वाले दो मकान किराये पर लिये हुए थे, जिनमें मुंशीराम के साथ जालन्धर के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय रायजादा भगतराम, होशियारपुर आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रधान रामचन्द्र जी, पजाब-प्रादेशिक-सभा के प्रधान श्री फ़कीरचन्द्र जी और भाई सुखदयालु जी रहा करते थे। ये सब गवर्नमेण्ट कालेज में पढते थे और थे सब आर्यसमाजी। सबका भोजन इकट्ठा ही होता था। मुंशीराम जी के आर्यसमाज में दीक्षा लेने के बाद समाज-मन्दिर से सब इकट्ठे ही डेरे पर आये। मुंशीराम जी ने आर्यसमाज में जो भाव प्रकट किये थे, उनका सब साथियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। भोजन के समय सबने यह निश्चय किया कि सप्ताह में कम से कम एक बार शहर के किसी एक भाग मे बिना विज्ञापन दिये वैदिक-धर्म का प्रचार किया करेंगे। वर्षभर तक इस निश्चय को सच्चाई के साथ निबाहा भी गया। उधर जालन्धर मे जैसे ही मुंशीराम जी के आर्यसमाजी बनने का समाचार पहुँचा, आर्य भाइयों में नवजीवन का संचार हो गया। कन्या-महाविद्यालय जालन्धर के सम्बन्ध से सुप्रसिद्धि पाये हुए श्री देवराज जी ने मुंशीराम जी को लिखा कि वे जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान-पद उनको सौंप कर स्वयं मन्त्री हो गये हैं। प्रचार की इस धुन और प्रधान-पद की इस भारी जिम्मेवारी ने मुंशीराम जी को दृढ़ आर्य बनने की तैयारी में लगा दिया। 'सत्यार्थप्रकाश' का नियमपूर्वक पठन तथा मनन होने गला। नवें समुल्लास के स्वाध्याय तक विचार बहुत स्पष्ट होते चले गये और बहुत से संशय भी मिट गये। पर, दसवें समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य के प्रकरण के स्वाध्याय से जीवन में एक आन्दोलन उठ खडा हुआ, जिसने मांस-भक्षण के व्यसन से भी मुक्ति दिला दी।

3. मास-भक्षण का त्याग

मदिरा-त्याग के समान ही मांस-भक्षण के त्याग का सम्बन्ध भी एक घटना के साथ है। ऐसी घटनाएँ पहिले भी कई बार उनके सामने से गुजरी होंगी। पर, इससे पहिले उसके अनुकूल भूमि तैयार नहीं हुई थी। 'सत्यार्थप्रकाश' के दसवे समुल्लास के स्वाध्याय से चित्त में जो चंचलता पैदा हुई, उस पर इस घटना ने अपना वह असर पैदा किया कि मुंशीराम जी के जीवन में अलौकिक परिवर्तन हो गया। उसने न केवल उनके जीवन को पवित्र बनाया किन्तु समस्त आर्यसमाज में पवित्रता की एक वेगवती लहर पैदा कर दी। होली के चार पॉच दिन पहिले, सवेरे पाँच बजे, घूमने से लौटते हुए ज्यों ही अनारकली पहुँचे कि सामने से एक मनुष्य सिर पर मांस का टोकरा उठाये हुए दौड़ा चला आ रहा था। भेड़-बकरियो की कटी हुई टांगें टोकरे के बाहर लटकी हुई थीं। मांस-भक्षण के अभ्यासी मुशीरामजी का दिल उस भीषण दृश्य को देखकर दहल गया। चित्त में एक भारी चिन्ता पैदा हो गई। मध्यान्ह-समय 'सत्यार्थप्रकाश' का भक्ष्याभक्ष्य का प्रकरण फिर पढा तो मांस-भक्षण के सब दोष सहसा हृदय में बैठ गये। शाम को भोजन के लिये सब साथियो के साथ ही बैठे। सदा की भॉति मास का कटोरा भी सामने रखा गया। मानसिक क्रान्ति ने इतना उग्र रूप धारण किया कि कटोरा सामने आते ही उसको उठाया और सामने की दीवार मे दे मारा। शराब के गिलास और बोतल के समान वह भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। साथी समझे कि रसोइये से कुछ भूल हो गई है। उनको क्या मालूम था कि आज तक की हुई भारी भूल का वह पश्चात्ताप और प्रक्षालन था? वे लगे रसोइये को भला-बुरा सुनाने। मुशीराम जी ने उनको रोक कर कहा—"रसोइये बेचारे को कुछ मत कहो। एक आर्य के मत में मास-भक्षण भी महापाप है। मै मांस का अपनी थाली में रखा जाना सह नहीं सकता।" साथी इतना कहकर चुप हो रहे कि कटोरा टुकड़े-टुकड़े करने से तो उसको उठवा देना अच्छा था। पर, वे यह नहीं जानते थे कि होनहार मनुष्य

के जीवन मे आकस्मिक परिवर्तन कुछ उग्रता से ही हुआ करता है। उसके सामने सांसारिक हानि-लाभ का हिसाब कुछ अर्थ नहीं रखता। प्राकृतिक झझावात के समान ही क्रान्ति का खेल है, जो सामने दीखने वाली सृष्टि को पलभर में ही मिट्टी में मिला कर उसके ढेर पर नयी सृष्टि रच डालता है। कुछ ही समय बाद महात्मा के रूप में प्रगट होने वाली अन्तरात्मा मे हुई उस क्रान्ति के सन्मुख उस कटोरे की क़ीमत ही क्या थी? बचपन के पड़े हुए निन्दनीय अभ्यास तथा गर्हित सस्कारो की बेड़ियों को काटने और ऐसी बुराई को तिलांजलि देने में शान्ति के लिए गुजाइश ही कहाँ थी? दूसरे साथियों पर भी मुंशीराम जी के इस व्यवहार का अच्छा प्रभाव पड़ा। निरामिष-भोजियो की सख्या बढती चली गई। इसके बाद मास-भक्षण का व्यसन यहाँ तक छूट गया कि मांसाहारियों की पंक्ति और उनके चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा। मुंशीराम जी के जीवन में यह परिवर्तन अपने पुराने अभ्यास पर ऐसी विजय थी, जिसने अपने चलकर समस्त आर्य-जगत् पर ही अपनी छाप लगा दी।

4. जालन्धर आर्यसमाज में पहिला भाषण

आर्यसमाजी बनने के बाद से जालन्धर के आर्य भाई मुंशीराम जी से मिलने के लिये बहुत उत्सुक थे। इसलिये देवराज ने होली पर आने का निमन्त्रण पहिले ही दे दिया था। होली से एक दिन पहिले आप वहाँ पहुँच गये। स्थानीय आर्यसमाजियों ने यह दिखाने के लिये कि पढ़े-लिखे और समझदार लोग भी किस प्रकार आर्यसमाज द्वारा प्रभावित होते हैं—आपका व्याख्यान कराया। एक वर्ष मुख़्तारी करके आप जालन्धर में अच्छा नाम पैदा कर चुके थे। पढ़े-लिखों में आप का अच्छा मान था। व्याख्यान में शहर के वकील तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग भी अच्छी संख्या में उपस्थित हुए। व्याख्यान का विषय था—"बाल विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य का महत्त्व।" व्याख्यान बड़ी सफलता के साथ समाप्त हुआ।

व्याख्यान के बाद मुंशीराम जी फिर वकालत की परीक्षा की तैयारी के लिये लाहौर लौट गये। सवा या डेढ मास लाहौर में बिता कर आप ज्येष्ठ मास में जालन्धर होते हुए तलवन आ गये। इस मास-डेढ़ मास में लाहौर में भाई सुन्दरदास, महाशय रामचन्द्र और लाला मुकुन्दलाल जी के साथ मिल कर खूब धर्म-प्रचार किया। प्रति दिन किसी-न-किसी चौरस्ते पर जा पहुँचते और वहाँ खड़े होकर व्याख्यान देने लग जाते। इन्हीं दिनों में साधु आत्माराम और चौधरी नवलसिह भी अपने ढंग से शहर मे आर्यसमाज का प्रचार करते थे। इस प्रचार का अंगरेज़ी-शिक्षा-शून्य साधारण जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। धर्म-प्रचार के इसी विचार, लगन तथा उत्साह के साथ आप जालन्धर में छुट्टियाँ बिताने आये थे और अभी वहाँ आपके दो तीन ही व्याख्यान हुए थे कि पिताजी की बीमारी का समाचार पाकर आपको तलवन जाना पडा। पिताजी को अर्धांग की शिकायत थी। मुंशीराम जी ने लग कर योग्य वैद्यो से पिताजी का औषधोपचार कराया। शारीरिक अवस्था कुछ अच्छी हो जाने पर भी आँखों की दृष्टि बहुत क्षीण हो गई। सारी छुट्टियाँ पिताजी के औषधोपचार मे तलवन में ही बितानी पडीं। स्वाध्याय

के लिये भी इस समय का अच्छा उपयोग किया। सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय, पंचमहायज्ञविधि को एक एक बार फिर से पूरा पढ़ कर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका भी आधी समाप्त कर ली। गॉव के देहाती मदरसे का अध्यापक काशीराम आप को स्वाध्याय के लिये साथी भी अच्छा मिल गया। वह संस्कृत जानता था और पिताजी को उनकी इच्छा के अनुकूल धर्मग्रन्थ सुनाया करता था। मुशीराम जी के साथ किये गये स्वाध्याय से उसने आर्यसमाज के मन्तव्यों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी काशीराम ने पीछे मुंशीराम जी के पिताजी में भी आर्य मन्तव्यों के लिए प्रेम पैदा कर दिया और पिता-पुत्र में पैदा होने वाले धार्मिक संघर्ष को इस प्रकार टाल दिया।

5. धर्म-संकट

एक परिवार मे भिन्न-भिन्न धार्मिक मन्तव्य मानने वाले पिता-पुत्र या भाई-भाई की आपस में सहज में नहीं पट सकती। आपस की विचार-भिन्नता से पैदा होने वाला धार्मिक सघर्ष टालना प्रायः असम्भव हो जाता है। मुंशीराम जी के पिता पुराने-ढंग के दृढ़ सनातनी विचारों के थे। पौराणिक कर्मकांड का वे यथासम्भव विधिपूर्वक अनुष्ठान करते थे। अपनी ही लागत से बनवाया हुआ उनका ठाकुरजी का मन्दिर गॉवभर में प्रसिद्ध था। उस में वे नियमपूर्वक प्रतिदिन ठाकुर जी की सेवा किया करते थे। मुशीराम जी दृढ आर्य ही नहीं, किन्तु एक प्रतिष्ठित समाज के प्रधान थे और आर्य-धर्म के प्रचार की लगन भी उनके दिल में समा चुकी थी। ऐसी अवस्था में पिताजी के साथ संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। वे यत्लपूर्वक धर्म-संकट के ऐसे अवसर को टालते रहे। पर, ज्येष्ठ की निर्जला के दिन उसको टालना असम्भव हो गया। पहली धार्मिक परीक्षा का अवसर सिर पर आ ही पहुँचा। पिताजी ने बैठक मे आकर घर-भर के लिये अलग-अलग सकल्प पढ़ने की व्यवस्था की। सबके लिए अलग-अलग आसन बिछाये गये और उनके सामने पानी से भरे हुए झज्झर और उनके ढक्कन पर ख़रबूजा, मीठा तथा दक्षिणा वगैरह रखी गई। मुशीराम जी अपनी बैठक मे पुस्तक लेकर स्वाध्याय में मग्न हो गए। समझा था कि ऑख मूँद लेने से बला टल जायगी। पर, पिताजी का दूत आने पर जाना पड़ा। सब भाई-भतीजे संकल्प पढ चुके थे। केवल मुशीराम जी का आसन खाली पड़ा था। सनातनी पिता और आर्यसमाजी पुत्र में निम्नलिखित बातचीत हुई—

पिताजी—"आओ मुंशीराम! तुम कहॉ थे? हमने तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा करके सबसे सकल्प पढा दिया है। तुम भी संकल्प पढ़ लो तो मै भी संकल्प पढ़ कर निवृत्त हो जाऊँ।"

मुंशीराम जी पर पिताजी का सब पुत्रों से अधिक प्रेम था। उन पर वे दूसरों की अपेक्षा विश्वास भी अधिक करते थे। सम्भवतः इसी से मुशीराम जी को सहसा

कुछ स्पष्ट कहने का साहस न हुआ। उन्होंने कुछ टालते हुए से कहा—"पिताजी! सकल्प का सम्बन्ध तो दिल के साथ है। जब आपने सकल्प किया है तो आपका दान है। आप चाहे जिसे दे दें। इसी से मैंने आना आवश्यक नहीं समझा।"

पिताजी ने कहा—"क्या मेरा धन तुम्हारा नहीं? फिर उसमे से दान देने का तुमको अधिकार क्यों नहीं? क्या दिल का संकल्प बाहिर निकालना पाप है? तुम अपने मन की बात ठीक-ठीक क्यों नहीं कहते?" थोड़ा रुककर पिताजी ने साफ़ शब्दों मे ही पूछा—"क्या तुम एकादशी और ब्राह्मणपूजा पर विश्वास नही रखते? स्पष्ट कहो, क्या बात है?"

पहले तो पिताजी इतना ही समझे हुए थे कि पुत्र नास्तिक न रहकर आस्तिक बन गया है। पर, पीछे जब जालन्धर के व्याख्यानो की बातें कानों पर आई तो पता चला कि पुत्र के आस्तिक बनने का अर्थ क्या है? इसी से पिताजी ने राय शालिग्राम जी को जालन्धर लिखा था कि देवराज और मुशीराम को अपने देवी-देवताओं की निन्दा करने से रोकना चाहिये। बीमारी में पुत्र की अनवरत सेवा ने इन सब बातो को भुला-सा दिया था। पर, सकल्प पढ़ने के सम्बन्ध में की गई आनाकानी से वे सब बाते याद आ गई। इसी से उन्होने मुंशीराम जी से साफ़ शब्दों मे उनका अभिप्राय जानने के लिये कुछ साफ़ शब्दो का ही प्रयोग किया। स्पष्ट प्रश्न का उत्तर भी उनको कुछ स्पष्ट ही देना पड़ा। उन्होने कहा—"ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूरा विश्वास है, किन्तु जिनको आप दान देना चाहते है, वे मेरी दृष्टि मे ब्राह्मण नहीं हैं और एकादशी के दिन को भी मैं कुछ विशेष नही समझता।"

पुत्र के इन स्पष्ट शब्दों ने पिताजी को आश्चर्य मे डाल दिया। उनको ऐसे सीधे जवाब की कुछ कल्पना भी न होगी। थोड़ी देर के बाद पिताजी लम्बा सॉस लेते हुए बोले—"मैने तो बडी-बड़ी आशाये बॉध कर तुमको ऊँची सरकारी नौकरी से हटा कर वकालत की ओर डाला था। मुझको तुमसे बडी सेवा की आशा थी। क्या उन सबका मुझको यही फल मिलना था? अच्छा, जाओ!"

मुशीराम क्षणभर भी वहाँ खड़े नही रहे और चुपचाप नीचे उतर आये। निर्जला एकादशी का सकल्प पढने का धार्मिक सकट तो टल गया, किन्तु उससे भी अधिक विकट मानसिक संकट दिनभर छाया रहा। दो-तीन दिन पिताजी के दर्शन भी नहीं किये। फिर उन्होंने ही अंग्रेज़ी मे किसी मित्र को पत्र लिखने के लिये बुलाया। धीरे-धीरे वह मानसिक संकट भी दूर हो गया। पर, शीघ्र ही एक दूसरा धर्म-संकट आ उपस्थित हुआ।

छुट्टियों के दो मास बिताने के बाद लाहौर जाने का दिन आया। मन्दिर के ऊपर की बड़ी ड्योढ़ी में पिताजी तकिया लगाये हुए बैठे थे। मुंशीराम जी सब तैयारी करने के बाद पिताजी से विदा माँगने गये। वहाँ पहुँचकर पैरों में सिर रखकर प्रणाम किया। पिताजी का आशीर्वाद लेकर ज्यों ही चलने को हुए कि पिताजी के आदेशानुसार नौकर एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रख कर ले आया। पिताजी ने कहा—"जाओ बेटा! ठाकुर जी को माथा टेक कर विदा होओ। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भगवान् के सेवक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें।" इतना सुनना था कि मुंशीराम जी सुन्न रह गये। काटो तो ख़ून नहीं। बोलते भी तो क्या बोलते? ऐसा आदेश था, जिसका पालन करना मुंशीराम जी के लिये स्पष्ट ही आत्महत्या थी। सरल-स्वभाव पिताजी पुत्र के अन्तःकरण की अवस्था का ठीक अनुमान नहीं लगा सके। उन्होंने समझा कि उदार पुत्र देवता के लिये आठ आने की भेंट कम समझता है। नौकर से अठन्नी की जगह थाली में एक रुपया रखवा कर पिताजी ने फिर पुत्र से कहा—"लो बेटा! अब ठीक हो गया। देर होती है। ठाकुर जी को माथा टेक कर सवार हो जाओ।" इस पर मुंशीराम के लिए चुप रहना कठिन हो गया। संकोच का बाँध तोड़ कर अपने पर कुछ जब्र-सा करते हुए उन्होंने कहा—"पिताजी! यह बात नहीं है, किन्तु, मैं अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ? हाँ, सांसारिक व्यवहार में जो आज्ञा आप दें, उसके पालन के लिये मैं हाज़िर हूँ।"

मुंशीराम जी का इतना कहना था कि पिताजी के चेहरे का रग एकदम बदल गया। उन्होंने कुछ क्रोध भरे शब्दो में कहा—"क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु-पत्थर समझते हो?"

मुंशीराम जी के हृदय की उस समय की आन्तरिक अवस्था का अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं है। उनके हृदय मे घोर संग्राम मच गया। लोगो की दृष्टि मे उस समय मुंशीराम जी ने बड़ी धृष्टता का परिचय दिया, किन्तु यही समय था, जब उनको अपने पूरे आत्मिक बल से काम लेना चाहिये था। अपने को सम्हालते हुए उन्होंने कहा—"परमात्मा के बाद अपने लिये मै आपको ही समझता हूँ। क्या पिताजी! आप यह चाहते हैं कि आपकी सन्तान मक्कार हो?" पिताजी का क्रोध शान्त हुआ। वे कुछ द्विविधा में पड़ गये और बोले—"कौन अपनी सन्तान को मक्कार देखना चाहता है?" मुंशीराम ने फिर बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—"तब मेरे लिये तो ये मूर्तियाँ इससे बढ कर कुछ नहीं। यदि मै उनके आगे भेंट धर कर माथा नवाऊँगा, तो यह मक्कारी होगी।" ये शब्द क्या थे, पिताजी के हृदय

को उन्होंने तीर से वेध दिया। वे कुछ उद्वेग के साथ बोले—"हा! मुझको विश्वास नहीं कि मरने पर मुझे कोई पानी देने वाला भी रहेगा। अच्छा भगवन्! जो तेरी इच्छा!" जिस पुत्र को पिता का सबसे अधिक प्रेम प्राप्त करने का गौरव था और जिसके प्रति पिता ने अविश्वास को कभी सन्देह में भी प्रगट नहीं किया था, उसके लिये सिद्धान्त-भेद होते हुए भी पिताजी की उद्वेग, अविश्वास और सन्देह की यह बात सहन करना कठिन था। उसकी अवस्था ऐसी हो गई कि मानो धरती में गड़ गया हो। पैर वहॉं के वहॉं ही रह गये। मुँह से एक भी शब्द नहीं निकला। पिताजी भी कुछ नहीं बोले। दस मिनट तक खिंचे हुए चित्र का-सा दृश्य वहॉं बना रहा। फिर पिताजी धीरे से बोले—"अच्छा, अब आओ; नहीं तो देर होगी।" मुशीराम जी चुपचाप प्रणाम कर नीचे उतर आये।

सवारी (मझोली) में सवार होने तक कई तरह के संकल्प-विकल्प मुंशीराम जी ने मन में उठते रहे। सबसे मुख्य प्रश्न यह था कि—"जब मैं पिताजी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं, उनके लिये स्वर्ग या मोक्ष का साधन नहीं बन सकता, तब मुझको उनके पैदा किये धन के उपभोग करने का क्या अधिकार है?" यह विचार मन में आते ही ख़र्च के लिये दिये हुए पचास रुपये एक पत्र के साथ एक सम्बन्धी को पिताजी को दूसरे दिन सवेरे दे देने के लिये दे दिये। पत्र में लिखा था—"आपके मन्तव्यों के विरुद्ध मत रखने से मुझको कोई अधिकार नहीं कि सुपात्रों के भाग में से कुछ लूँ। जीवन शेष है तो आपके चरणों में मैं अपनी भेंट रखूँगा ही।" उस सम्बन्धी ने वह पत्र और रुपये उसी समय पिताजी के पास पहुँचा दिये। पिताजी ने उसी को घोडी पर पीछे दौडाया और साथ में यह भी कहलाया कि—"तुम प्रतिज्ञा करके गये हो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओ से मुख नहीं मोड़ोगे। यह मेरी सांसारिक आज्ञा है कि ये रुपये ले जाओ और व्यय के लिये बराबर मुझसे ही रुपये मँगाते रहो।" पिता के इस सन्देश से द्विविधा में पडी हुई आत्मा को बडी शान्ति मिली।

जालन्धर में आर्यसमाज के रविवार के साप्ताहिक अधिवेशन मे सम्मिलित हो मुशीराम जी वकालत की परीक्षा की तैयारी के लिये सम्वत् 1942 के आश्विन के मध्य मे लाहौर पहुँच गये। परीक्षा से मुक्त हो पौष मास के प्रथम सप्ताह मे जालन्धर आ गये। पिताजी का पत्र आ गया था कि वे उनके जालन्धर आने पर पेंशन लेने वहॉं आयेंगे और वहॉं से साथ ही उनको तलवन ले जायेंगे।

6. पिताजी के विचारों में परिवर्तन

दृढ़ पुत्र का सत्याचरण वृद्ध पिता पर भी प्रभाव डाले बिना नही रहता। इस सचाई की साक्षी मुंशीराम जी और उनके पिताजी के जीवन से मिलती है। जिस दिन मुंशीराम जी जालन्धर आये थे, उसी दिन पिताजी को भी वहॉ पहुँचना था। दिनभर पिताजी की प्रतीक्षा करने के बाद शाम को नौकर को उनको देखने के लिये रास्ते में बिठा कर मुंशीराम जी स्वयं आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये चले गये। ईश्वर-प्रार्थना के बाद आपका ही प्रवचन (भाषण) हुआ। प्रवचन समाप्त करके आप वेदी के नीचे उतरे ही थे कि नौकर ने पिताजी के आने की सूचना दी। मुंशीराम जी उसी समय उठ कर भागे, रेलवे फाटक के पास पिताजी के दर्शन किये और उनके चरणो का स्पर्श किया। सहसा पिताजी ने पूछा—"क्या समाज का अधिवेशन समाप्त हो गया?" पिताजी की समाज की ओर इतनी अनुरक्ति देख कर मुंशीराम जी को थोड़ा आश्चर्य हुआ और सकोच से उत्तर दिया—"केवल भजन और शान्तिपाठ बाक़ी था। आपका आना सुन कर मै भाग आया।" पिताजी ने प्रेमभरे शब्दो में कहा—"जल्दी क्या थी? समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिये था।" ये शब्द और भी अधिक विस्मय पैदा करने वाले थे। कहॉ तो तलवन मे प्रकट किया गया रोष और कहॉ यह उदारतामय प्रेम।

दूसरे दिन तलवन जाने पर पिताजी के धार्मिक विचारो में पैदा हुए इस परिवर्तन का कारण समझ में आया। मुशीराम जी के स्वाध्याय के तलवन के साथी, वहॉ के देहाती मदरसे के अध्यापक और सस्कृत का कुछ अभ्यास होने से नित्य-प्रति पिताजी को धर्म-ग्रन्थ पढ़ कर सुनाने वाले श्री काशीराम जी के ही कारण पिताजी के धार्मिक विचारों मे यह परिवर्तन हुआ था। तलवन से लाहौर जाते हुए मुंशीराम जी अपना 'सत्यार्थप्रकाश' और 'पंचमहायज्ञविधि' पिताजी के कमरे मे भूल गये थे। पिताजी ने काशीराम जी से उन पुस्तको को सुनने की इच्छा प्रकट की।

ज्यो ही पण्डित जी पुस्तक पढ़ने को तैयार हुए कि पिताजी ने कहा—"पण्डित जी! पहले इनकी देखभाल कर लो, तब सुनाना। हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ नहीं सुनना चाहते।" पण्डित जी ने बुद्धिमानी से काम लिया और सबसे पहिले 'पंचमहायज्ञविधि' में से ब्रह्मयज्ञ का प्रकरण अर्थ सहित सुनाया। इस पर उन पुस्तको के प्रति पिताजी की कुछ श्रद्धा पैदा हुई। फिर 'सत्यार्थप्रकाश' का पहिला समुल्लास का पाठ शुरू हुआ। इसका उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे पण्डित जी से एक दिन बोले—"पण्डित जी! हम तो अविद्या में ही पडे रहे। हमारी मुक्ति कैसे होगी? हमने तो आज तक निरर्थक ही क्रियाएँ कीं। अब से वैदिक सन्ध्या करेंगे।" पिताजी ने सन्ध्या के मन्त्र भी अर्थो के साथ याद किये और पचायतन, पॉचों देवताओ की मूर्तियों की पूजा के साथ-साथ वैदिक सन्ध्या भी नियमपूर्वक करने लग गये।

पिताजी के इन धार्मिक विचारों में हुए परिवर्तन का मुशीराम जी को विशेष फल यह मिला कि उनके प्रति पिताजी का प्रेम पहिले से भी अधिक हो गया। तलवन में प्रकट की गई अप्रसन्नता का ब्याज सहित बदला मिल गया।

7. मुख़्तारी की दुकानदारी

मि. लारपैण्ट को गीदड़भभकी दिखा कर क़ानून की पहली परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर उत्तीर्ण होने के बाद सम्वत् 1942 के अन्त में जालन्धर आकर मुंशीराम जी ने फिर मुख़्तारी की दुकान खोली। आर्यसमाज के काम में भी इस समय बड़ा हिस्सा लेना शुरू कर दिया। वकील के पास जो सामान और उसकी दुकान में जो आकर्षण चाहिये, वह सब अनायास ही इकट्ठा हो गया। पिताजी की कृपा से घोड़ा-गाड़ी, कुरसी-मेज़ आदि सब सामान मिल गया। क़ानूनी पुस्तकें तो अधिक नहीं थी, किन्तु दूसरी पुस्तकों की कुछ भी कमी नहीं थी। ऋग्वेद और यजुर्वेद का ऋषि दयानन्द कृत भाष्य आने पर तो सोने पर सुहागा चढ़ गया। पुस्तकालय की शोभा सहज में ऐसी बन गई कि बड़े-बड़े वकीलों के यहाँ भी पुस्तकालय की शोभा वैसी नहीं की। बाक़ी सब सामान जुट जाने पर अमीरख़ाँ नाम का वह पुराना मुन्शी भी फिर आ गया। विश्वासपात्र, मेहनती, भलामानस और बड़ा ही शरीफ़ आदमी था। मालिक की भलाई के लिये कभी कभी झूठ बोल देने पर भी उसने मालिक के प्रति कभी असत्याचरण नहीं किया था। इस प्रकार सब साज-सामान जुट जाने पर मुख्तारी की दूकानदारी अच्छी चल निकली।

इस समय की एक घटना का उल्लेख मुंशीराम जी की सचाई दर्शाने के लिये करना आवश्यक है। मुन्शी अमीरख़ाँ दूकान के साइनबोर्ड पर 'मुख़्तार' की जगह 'लीगल प्रैक्टिश्नर' शब्द लिखवा लाये। मुंशीराम जी ने उसको सहन नहीं किया और बोर्ड में 'लीगले प्रैक्टिश्नर' की जगह 'मुख्तार' लिखने को बोर्ड वापिस कर दिया। इसी प्रकार मुक़दमों में भी यथासम्भव अधिक से अधिक सचाई और सावधानी से काम लेना शुरू किया। व्यक्तिगत जीवन की इस सच्चाई से अधिक कठिन सच्चाई दूसरी थी। वह थी सभ्य-समाज के साथ उठते-बैठते हुए अपने सिद्धान्तों के पालन करने की।

उनके पुराने एक मद्यप मित्र एक्ज़िक्युटिव इंजिनियर ने उनको अपने यहाँ

एक दिन सवेरे की दावत दी। मुंशीराम जी को क्या मालूम था कि ये सभ्य तथा सुशिक्षित समझे जाने वाले लोग दिन में भी शराब उँडेले बिना नहीं रह सकते और उनको वहाँ पर ऐसे किसी संकट का सामना करना पड़ेगा? वे पहुँचे ही थे कि सब उनको लिपट गये। कुछ ने हाथ-पैर पकड़े, दो ने मुँह खोला और तीसरे लगे मुँह में शराब उँडेलने। शराब का प्याला नाक के सामने गया ही था कि तुरन्त क़ै (उल्टी) हो गई। पकड़ने वालों के कपडे भर गये और वे उनको छोड़ कर लगे अपने आपको ही सम्हालने। मुंशीराम जी उठ कर बाहर आये। कुएँ पर मुँह-हाथ धोया और सीधे घर लौट आये। इस घटना ने सब मद्यपी साथियों को सावधान कर दिया। उसके बाद उनको अपने यहाँ ऐसे अवसर पर निमन्त्रित करने का किसी को भी साहस नहीं हुआ।

ऐसी घटनाओं से धर्म-सेवा का मार्ग सदा के लिये निर्विघ्न हो गया। व्यावहारिक जीवन में भी असत्य मार्ग पर जाने की आवश्यकता कभी अनुभव नही हुई और न कभी कोई प्रलोभन ही उनको पथभ्रष्ट करने मे सफल हुआ।

8. पिताजी की बीमारी और देहावसान

फाल्गुन 1942 (फरवरी, 1886) में पिताजी फिर अर्धांग से पीड़िते हुए और मुंशीराम जी को तलवन जाना पड़ा।

पिताजी मुशीराम जी पर कितना विश्वास और प्रेम था, इसका पता उस समय की एक घटना से लग जाता है। एक दिन पिताजी ने मुंशीराम जी को एकान्त में बुलाया। चिर-विश्वस्त नौकर भीमा ने इशारा पाते ही तुरन्त कागजो का एक पुलिन्दा लाकर सामने रख दिया। उसमे पिताजी का लिखा हुआ वसीयतनामा था, जिसमें मकान जमीन आदि सब भाइयो मे बॉट कर नक़द-आभूषण आदि सब धन मुशीराम जी के नाम लिख दिया था और कुछ धर्म-कार्यो को करना भी उनके ही सुपुर्द किया गया था। मुंशीराम जी ने उसको पढकर उसके स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। उसके सम्बन्ध में बहुत विवाद हुआ। अन्त में मुशीराम जी ने स्पष्ट ही कह दिया कि यदि वसीयतनामे मे कुछ भी परिवर्तन नही किया गया तो वे अपना हिस्सा भी लेने से इनकार कर देगे और उसको रद्द कर देने पर ही वे उनकी आज्ञानुसार सब कार्यो का सम्पादन करेंगे। पुत्र के इस दृढ निश्चय के सामने पिता के आग्रह को हार माननी पड़ी। पिताजी ने हार मानते हुए कहा—'यह वसीयतनामा भी तुम्हारी ही सम्पत्ति है। तुम जैसा चाहो वैसा करो।' पिताजी के ये शब्द सुनते ही मुशीराम जी ने वह वसीयतनामा फाड दिया।

पिताजी के इलाज की सुव्यवस्था कर और उनको कुछ अच्छा होते देख कर मुंशीराम जालन्धर आ गये। प्रायः प्रति रविवार को वे पिताजी की अवस्था देखने और उनसे मिलने तलवन आते जाते रहे। अच्छे अच्छे इलाज होने पर भी बीमारी ने पिताजी का पीछा नही छोड़ा। डॉक्टरी इलाज के बाद हकीमी इलाज भी कराया गया। 150) क़ीमत तक का नुसख़ा काम में लाया गया। अवस्था दो-एक दिन अच्छी रहती और फिर बिगड़ जाती थी। इस अस्वस्थ अवस्था की

एक घटना भी मुंशीराम जी पर पिताजी के अटूट विश्वास को प्रकट करती है। एक दिन बड़े भाई पिताजी को पिलाने के लिये गिलास में कुछ लिये खड़े थे। पिताजी ने कहा—"यदि मुंशीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं है तो मै पी लूँगा। वह मेरे भले के लिये भी झूठ नहीं बोलेगा।" बात यह थी कि हकीम जी ने चूज़े (मुर्ग़ी के बच्चे) का शोरवा अपनी दवा का अनुपान बताया था। बड़े भाई पहले वह शोरवा ही बनवा लाये थे और चने का रसा बता कर उनको दे दिया था, जिसे उन्होंने एक घूँट पीकर फेंक दिया। मुंशीराम जी ने जॉच कर पता लगाया कि इस बार शोरवा न देकर चनों का रस ही दिया जा रहा था। फिर स्वयं वह गिलास उनके सामने किया। पिताजी ने कहा—"पी लूं?" विश्वासपात्र पुत्र ने कहा—"पी लीजिये!" उन्होंने इस प्रकार पिया, मानो मुंशीराम के ही हाथों से उनको अन्तिम भोजन ग्रहण करना था। अवस्था बहुत बिगड़ गई। फ़िल्लौर से भी डाक्टर बुलाया गया। रात जैसे-तैसे बीत गई। सवेरे हिचकी का जोर बँध गया, जो यत्न करने पर भी बन्द नहीं हुआ। दोपहर के बाद पिताजी के आदेशानुसार मुंशीराम जी ने उपनिषदों का पाठ आरम्भ किया। थोड़ी देर बाद पिताजी ने वैदिक हवन कराने के लिये कहा। उसी समय हवन-सामग्री के लिये आदमी को घोड़े पर जालन्धर दौडाया गया। दोपहर को वे सब घर वालों से मिले। फिर पण्डित काशीराम और मुंशीरामजी पिताजी को भजन सुनाते रहे प्रायः सारी रात पिताजी की सेवा मे मुंशीरामजी ने जागते बिताई। अगला दिन कुछ अच्छा बीता। पर शाम से फिर अवस्था बिगडने लगी। 12 आषाढ (26 जून) की रात को 9 बजे मुंशीरामजी के वेदपाठ करते हुए पिताजी ने अन्तिम सॉस लिया। नाड़ी मुंशीरामजी के हाथ में थी। वह भी बन्द हो गई। घर भर में सन्नाटा छा गया और थोड़ी ही देर बाद रोना चिल्लाना शुरू हो गया। सब रात जागते हुए कटी। सवेरे अन्त्येष्टि क्रिया की तैयारी शुरू हुई। मुशीराम जी समझे थे कि इस सम्बन्ध में भी किसी धर्म-सकट का सामना करना पडेगा। घर और बिरादरी वाले पौराणिक सस्कार के लिये आग्रह करेंगे। पर, उनकी दृढ़ता के सामने किसी को कुछ बोलने तक का साहस नहीं हुआ। हॉ, काना-फूसी बराबर होती रही। श्मशान-भूमि में मुशीराम जी की इच्छा के अनुसार ही वेदी बनाई गई, चन्दन की लकड़ियों में शव रखा गया और मन्त्रपाठ हो कर घी की आहुतियो के साथ दाह-संस्कार किया गया। जालन्धर से मॅगाई गई सामग्री हवन के काम तो न आई, किन्तु इस अन्तिम संस्कार में उसका उपयोग किया गया। घर लौट कर गृह-शुद्धि के लिये किये गये हवन मे भी वह काम आई। अर्थी के कारचोबी के दुशाले के लिये जब महाब्राह्मणों में

आपस में झगड़ा हो गया, तो उसको भी शव के साथ ही चिता की भेंट कर दिया गया। घर में बड़े भाई ने तो गरुड़ पुराण की कथा बिठाई और मुंशीराम जी ने अलग उपनिषदों का पाठ किया।

घर की सम्पत्ति के बँटवारे में मुंशीराम ने जिस सचाई का परिचय दिया, वह भी कोई साधारण घटना नहीं थी। पिताजी की आज्ञानुसार भीमा ने सब चाबियाँ लाकर मुशीराम जी के सामने रख दीं। मुंशीरामजी ने सबकी इच्छानुसार ही सम्पत्ति का बँटवारा करने के बाद जो बचा वह अपने हिस्से रखा। ख़ुर्जा, बरेली और बनारस के चक्कर लगा कर वहाँ के साहूकारों की कोठियों का भी सब हिसाब साफ़ कर दिया। जो नक़द रुपया उन लोगों से मिला, उसका भी बँटवारा सबकी इच्छानुसार ही कर दिया। तीनों भाइयों ने नक़दी अधिक ली और बग्घियाँ, घोड़े आदि पूरी क़ीमत लगा कर मुंशीराम जी के हिस्से में कर दिये। इस यात्रा में बहुत-से पुराने साथी मिले।

पिताजी की बीमारी, देहावसान और उसके बाद घर की योग्य व्यवस्था करने में अनियमित समय लग जाने के कारण मुख़्तारी की दुकान बन्द पड़ गई। वकालत की अन्तिम परीक्षा देनी बाक़ी थी, जिसके लिये शीघ्र ही लाहौर जाने का विचार था। इसलिये मुख़्तारी की दूकान को अभी बन्द ही रखा।

9. वकालत की अन्तिम परीक्षा और उसका अनुभव

सफल वकील होने पर भी वकालत इस जीवनी का बहुत ही गौण विषय है। वकालत के साथ धर्म-प्रचार की प्राय: प्रतिद्वन्द्विता रही और उसमें सदा धर्म-प्रचार की ही विजय होती रही। फिर भी वकालत की कुछ घटनाएँ मुंशीराम जी के कुछ सद्गुणों को प्रगट करती हैं। उनके लिये ही वकालत के प्रसंग पर कुछ लिखना आवश्यक है।

पिताजी के देहावसान के बाद मुंशीरामजी ने दशहरे का त्योहार जालन्धर मे मनाया। दशहरा के एक सप्ताह बाद वकालत की परीक्षा के लिये आप लाहौर गये। पिछले वर्ष के कुछ साथियो के पास ही डेरा किया। परीक्षा की तैयारी के दिनों में अमृतसर और लाहौर आर्यसमाज के उत्सवों में भी सम्मिलित हुए। मार्गशीर्ष सम्वत् 1943 के पिछले दिनो (दिसम्बर सन् 1886 के आरम्भ) में परीक्षा दी और परिणाम बहुत दिनो तक नही निकला। यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार मि. लारपैण्ट साहब ही इतनी देरी के कारण थे। पहिले वर्ष की रिश्वत की भूख इस वर्ष बहुत बढ-चढ़ गई थी। गण्डासिह नाम का एक एजेण्ट भी सब सौदा पटाने को मिल गया था। वकालत के परीक्षार्थी से 1500), मुख्तार से 1000) और बी. ए तथा एम. ए से इससे कुछ कम लिया जाता था। वकालत मे पहिला और दूसरा होने वाले ने तो क्रमश: 3500) और 2500) तक दिये थे। मुंशीराम जी के पास सन्देश आया कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण तो हैं, किन्तु उनको भी एक हजार की भेंट चढ़ाये बिना प्रमाण-पत्र नहीं मिलेगा। मित्रों के पत्र आने पर मुंशीराम जी इस विचार से लाहौर गये कि वहाँ पहुँच कर इस सब अनाचार का भण्डाफोड़ करेंगे, किन्तु उनके वहाँ पहुँचने से पहिले ही हिसार के प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणि ने सब रिपोर्ट उस समय के वाइस-चान्सलर सर विलियम रेटिगन के पास पहुँचा दी। वाइस-चासलर ने परिणाम की सारी फ़ाइल उसी समय अपने पास मँगा ली। सिनेट ने लाला चूड़ामणि के सिवा बाक़ी सबको नापास कर दिया। मुंशीराम जी की

सब मेहनत इस बार भी अकारण ही बेकार गई। लारपैण्ट साहब पर मुक़दमा चला। उनको अपने किये का फल भोगना पड़ा। पर, मुंशीराम जी सरीखे जिन निरपराधो के गले पर छुरी फिर गई थी, उनके प्रति हुए अन्याय का प्रतिकार कुछ न हुआ। इस प्रकार अन्यायपूर्वक अनुत्तीर्ण होने से मुंशीराम जी के दिल पर बडी गहरी चोट लगी। लाहौर के चीफ़ कोर्ट के जस्टिस बनने की आशा का तार तो टूटा ही, साथ में क़ानून के पेशे से भी रुचि हट गई। पर, वकालत पास करने की इच्छा बनी ही रही। इसलिये अगले वर्ष सम्वत् 1944 के मार्गशीर्ष (नवम्बर 1887) में मुशीराम जी परीक्षा की तैयारी करके कुछ पुस्तकें साथ में लेकर फिर लाहौर पहुँचे। 26 और 27 नवम्बर को लाहौर आर्यसमाज के उत्सव मे भी सम्मिलित हुए। उत्सव के दो ही दिन बाद पता चला कि परीक्षा दो मास के लिये स्थगित कर दी गई है। मुंशीराम जी निराश हो जालन्धर लौट आये और आर्यसमाज के काम में लग गये। इन दो महीनों में क़ानून की पुस्तकों को छुआ तक नहीं। 4 माघ 1944 (17 जनवरी, 1888) को आप फिर परीक्षा के लिये लाहौर को रवाना हुए। मार्ग में गुरुदासपुर, फ़िल्लौर और अमृतसर आर्यसमाजों के उत्सव भुगताये। 24 से 29 माघ (6 से 9 फरवरी) तक परीक्षा हुई। कुछ तैयारी न करके और निरन्तर आर्यसमाज के काम में लगे रहने पर भी परीक्षा बहुत अच्छी तरह गुज़री और उसमें सफलता भी प्राप्त हुई। पर, धर्म-प्रचार की धुन समा जाने के बाद परीक्षा की सफलता वकालत के पेशे मे कुछ अधिक काम नहीं आई।

वकालत के पेशे की केवल दो-तीन घटनाएँ ही उल्लेखनीय हैं। दो घटनाएँ तो वकालत पास करने से पहिले मुख़्तारी के दिनों की हैं और एक कुछ दिन बाद की है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना वह है, जिसने यह अनुभव कराया कि वकालत के साथ सचाई नहीं निभ सकती। सम्वत् 1943 मे मुशीराम जी की मुख़्तारी ख़ूब चमकी। उन दिनों जालन्धर मे फौजदारी मुक़दमों के लिये बीची साहब का बड़ा नाम था। बड़े-बड़े मुक़दमे प्रायः सब उनके ही पास जाते थे। किसी जाट-सरदार के मुक़दमे की पैरवी करते हुए बीची साहब ने आपको देखा तो वे आपकी योग्यता से इतने प्रभावित हुए कि बड़े-बड़े मुक़दमों में आपको अपने साथ रखने लगे। इससे आपकी योग्यता का सिक्का जम गया और मुख़्तारी ख़ूब चल निकली। दीवानी का काम आपके पास पहिले से ही बहुत आता था। पर, यह प्रसिद्धि अधिक समय तक न निभ सकी। इसका कारण यह था कि एक साहूकार एक हज़ार के दावे का एक मुक़दमा आपके पास लाया। उस पर टिकट नही था। इसलिये आपने साहूकार को बताया कि उसके आधार पर मुक़दमा

नहीं चल सकता। मुक़दमा चलाने का सीधा रास्ता साहूकार की समझ में नहीं बैठा। पर, कुछ दिन बाद उसी पर टिकट लगा कर साहूकार फिर आया और अर्ज़ीदावा दायर करवा दिया। 50 रुपये फ़ीस देना ठीक करके 25 रु. पेशगी भी दे दिये और जल्दी में मुख़्तारनामे पर सही भी करा ली। मुन्सिफ़ अछरूराम के सामने मुक़दमा पेश हुआ। हाथ मे कागज़ और बही आने पर तुरन्त समझ मे आ गया कि मामले में जालसाजी की गई है। मुन्सिफ साहब के सामने ही मुक़दमे की पैरवी करने से साफ़ इनकार का दिया और मुंशी को हुक्म दिया कि फीस के 25 रु. लौटा दो। मुंसिफ़ साहिब ने अंग्रेज़ी में बहुत समझाया कि इससे बदनामी होगी और इससे आर्थिक हानि भी उठानी पड़ेगी। पर, मुशीरामजी ने एक न मानी। उस मुंशी को भी छुट्टी दे दी, जिसने इस मुक़दमे के लिये मुख़्तारनामे पर हस्ताक्षर लिये थे। इस सत्य-व्यवहार से उनके पेशे अथवा व्यवसाय को उससे बहुत बड़ा धक्का लगा। पॉच सौ माहवार की आमदनी 150) के लगभग रह गई। पर, यह स्थिति अधिक दिन नहीं बनी रही। जहॉ सत्य-व्यवहार से इतनी भारी हानि उठानी पड़ी थी, वहॉ धर्म-प्रचार की लगन का शुभ-फल भी अनायास ही हाथ आ गया।

जालन्धर की धर्मसभा मे पण्डित दीनदयालुजी के साथ हुई मुठभेड की घटना को यहॉ ही दे देना ठीक होगा। पण्डित दीनदयालुजी के व्याख्यानो के उत्तर में जालन्धर-आर्यसमाज मे मुशीरामजी का व्याख्यान अच्छे जन-समुदाय मे हुआ था। एक जाट-सरदार उस व्याख्यान से इतने प्रभावित हुए कि व्याख्यान से दूसरे ही दिन एक बडे मुक़दमे में एक हजार फीस ठहरा कर पॉच सौ रुपये नकद दे गये। दूसरी ओर से जालन्धर के सबसे बडे दो वकीलों को खड़ा किया गया था। बात यह थी कि सरदारजी वकीलो की परीक्षा लिये बिना किसी के हाथ मे मुकदमा नही देना चाहते थे। उन्होंने अदालत में प्रायः सभी वकीलों को बहस करते हुए सुना था। वे इसी उधेडबुन मे थे कि आर्यसमाज मे मुंशीराम जी के भाषण में उनका तर्क-वितर्क सुन कर इतने ख़ुश हुए कि और अधिक छान-बीन न करके उनके ही हाथ में मुकदमा दे गये। मुशीराम जी के लिये यह घटना कुछ कम आश्चर्यजनक नही थी। इसी प्रकार उनकी मुख़्तारी के चॉद का शुक्लपक्ष शुरू हुआ और आमदनी बढती चली गई।

माघ सम्वत् 1947 (जनवरी, 1891) की सुकेत-यात्रा को भी यहॉ ही इसलिये निपटा लेना चाहिये कि उसका उद्देश्य एक मुक़दमे की पैरवी करना ही था, इसमें सन्देह नहीं कि उस यात्रा मे धर्म-प्रचार का काम भी अच्छा हुआ। सुकेत के

राजा दुष्टनिकन्दन सेन ने अपने सगे चाचा मियॉं शिवसिंह को देश-निकाला देकर उनका सब भण्डार लूट लिया था। अपने भाइयों को गुज़ारे के अधिकार से भी वंचित करके राज के बाहर कर दिया था। मियॉं शिवसिंह अपने छोटे भाई मियॉं ज्वालासिंह और भतीजे मियां जनमेजय तथा उसके भाई के साथ जालन्धर में राय शालिग्राम के यहॉं आ गये। मियॉं जनमेजय आर्यसमाजियों की संगति से आर्यसमाज के सभासद् और मुंशीराम जी के अन्यतम साथी बन गये। इन्हीं मियॉं शिवसिंह की ओर से मुंशीराम जी उस मुक़दमे की पैरवी के लिये सुकेत गये थे, जो कि उन्होंने राजा दुष्टनिकन्दन सेन के विरुद्ध अपना भण्डार लूटने के लिये चलाया था। कमिश्नर को इस मामले की जॉंच करने के लिये वहॉं भेजा गया था। सत्रह दिन तक इस मुक़दमे के लिये मुंशीराम जी को वहॉं ही रहना पड़ा। मुक़दमे के साथ-साथ प्रकृति का आनन्द लूटा, मनुष्य-स्वभाव का कुछ अध्ययन किया और साथ में वैदिक-धर्म का प्रचार भी किया। दूसरी ओर से बैरिस्टर रेंगिटन मामला लड़ने के लिये आये थे। मुंशीराम जी की सहायता के लिये बाबू दसौंधीराम और लाला गणेशदास वकील भी बुलाये गये थे। पर, उनमें एक शराबी और दूसरे अंग्रेज़ी के ज्ञान से शून्य थे। इसलिये मुक़दमे की तैयारी का सब काम मुंशीराम जी के ही सिर पर आ पड़ा। भण्डार लूटने के दावे के लिये प्रमाण क्या पेश किया जाता? अत्याचारों से पीड़ित प्रजा ने स्वयं आकर छिपे तौर पर चोरी के माल का पता देना शुरू किया। मुंशीराम जी ने कमिश्नर से तलाशी के वारण्ट मॉंगे। इस पर कमिश्नर ने मियॉं शिवसिंह से कहा कि यदि वारण्ट पर चोरी का माल कहीं से हाथ न आया, तो उनको जेल की हवा खानी पडेगी। मुंशीराम जी ने यह सब जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली और एक लिखित प्रार्थनापत्र भी कमिश्नर के सामने पेश कर दिया। साथ में कुछ गुप्त प्रमाण भी उसके सामने रख दिये। कमिश्नर ने सरिश्तेदार का भी रास्ता न देखा और मुंशीराम जी से ही वारण्ट लिखवा कर जारी कर दिये। सवेरे 10 बजे पुलिस वारण्ट लेकर तलाशी के लिये गई और 6 बजे तक राजा साहब के नौकर-चाकरों और विश्वासपात्र लोगों के घरों मे से चोरी का माल बरामद करके ले आई। सबने यही बयान दिया कि राजा ने वह सामान उनको कुछ दिन के लिये रखने को दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक लाख रुपये के दावे में 40 हजार की मुफ़्त में बॉंटी जाने वाली दवाइयों की क़ीमत काट कर 60 हज़ार की डिगरी हो गई। बैरिस्टर रेंगिटन राजा से रोज़ की एक हज़ार फ़ीस लेते थे और एक सौ भोजन का ख़र्च लेते थे। पिछले सात दिनों में लाहौर जाने का बहाना बना कर सोलह सौ प्रति दिन लेते रहे।

राजा साहब को इतना ख़र्चने पर भी मुँह की खानी पड़ी। वकालत के पेशे में मुशीराम जी की यह एक असाधारण विजय थी। इससे उनकी ख्याति भी ख़ूब हुई और वकालत का पेशा भी ख़ूब चमक उठा। फ़ैसला होते ही मुंशीराम जी लौटना चाहते थे, पर मियाँ शिवसिंह और उनके सम्बन्धियों के आग्रह पर रुपया लेने, गिनवाने और खोटे रुपये बदलवाने तक का सब काम भी उनको ही करना पड़ा और कुछ अधिक दिन के सुकेत में रुकना पड़ा।

(ग)

सार्वजनिक जीवन का उपक्रम

1. धार्मिक उत्साह का प्रारम्भ, 2. बिरादरी से ख़ारिज किये जाने की धमकी, 3. धर्म-प्रचार का विस्तार, 4. जालन्धर आर्यसमाज का पहला उत्सव, 5. पं. दीनदयालु जी से मुठभेड, 6. बम्बई की पहली यात्रा, 7. पहले पुत्र का जन्म, 8. जालन्धर-समाज का दूसरा उत्सव, 9. सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा, 10. इन दिनो का व्यक्तिगत जीवन, 11. धर्म-प्रचार की धुन और जालन्धर-समाज का तीसरा उत्सव, 12. दो-तीन दुःसह वियोग।

1. धार्मिक उत्साह का प्रारम्भ

चैत्र मास सम्वत् 1943 में श्री मुंशीराम जी रोग-शय्या पर पड़े हुए पिताजी से मिलने के लिये तलवन गये हुए थे। वहाँ से जालन्धर आते ही आर्य भाइयों ने आ घेरा। उनसे मालूम हुआ कि अमृतसर का पण्डित श्यामदास वहाँ आया हुआ है, जिसने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के लिये बार-बार ललकार कर ऐसा नीचा दिखाया है कि आफ़त ढा दी है। नियोग आदि विषयों को लेकर ऐसी अश्लील भाषा में सर्वसाधारण को भडकाता है कि आर्यसमाजी कहीं मुँह नहीं दिखा सकते। श्री मुंशीराम जी ने उसी समय शास्त्रार्थ की स्वीकृति का पत्र लिखा। कुछ लिखा-पढ़ी के बाद पण्डित श्यामदास 'मूर्तिपूजा और अवतारवाद के मण्डन' पर शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हुए। शास्त्रार्थ का दिन भी नियत हो गया। मुंशीराम जी ने अपने ही यहाँ मुंशीगिरी करने वाले काशीराम को लाहौर आर्यसमाज के प्रधान श्री साईदास जी के नाम पत्र देकर शास्त्रार्थ के लिए पण्डित लाने को लाहौर भेजा। वहाँ से कोई पण्डित तो न मिला, किन्तु यहाँ तक कहा गया कि "छोटे-छोटे आर्यसमाजो को बिना हमारी आज्ञा के शास्त्रार्थ नही रच लेना चाहिये।...यदि साहस नही था तो शास्त्रार्थ की डींग ही क्यों मारी थी?" काशीराम लाहौर से निराश होकर अमृतसर आया। पण्डित धर्मचन्द्र जी काश्मीरी उस समय अमृतसर आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नाम के जिस ब्राह्मण युवक को छात्रवृत्ति देकर पढाया था, उसको ही काशीराम के साथ कर दिया। लाजपत अच्छे वक्ता तो न थे, पर सस्कृत बोल लेते थे। उनकी सहायता से शास्त्रार्थ की तैयारी की गई और रात को शास्त्रार्थ का मोर्चा भी लिया गया। सस्कृत में ही शास्त्रार्थ करने की शर्त थी। पर, श्यामदास जनता पर प्रभाव डालने के लिए हिन्दी में बोलने लगे। बस, तब क्या था? मुंशीराम जी उठ खड़े हुए और लगे स्वयं ही शास्त्रार्थ करने। पण्डित का आग्रह था कि लाजपत ही को शास्त्रार्थ करना चाहिए, पर मुशीराम जी का एक ही जवाब था कि जब पण्डित जी ने स्वयं ही शास्त्रार्थ

की शर्त का पालन नहीं किया, तो उनको कोई अधिकार नहीं कि दूसरे पक्ष को शर्त-पालन के लिये बाधित करें। शास्त्रार्थ का परिणाम आर्यसमाज के लिये बहुत शुभ हुआ। दूसरे दिन से समाज-मन्दिर में श्यामलाल के व्याख्यानों का खण्डन होने लगा, जिनमें इतनी भीड़ होने लगी, जितनी पहिले कभी न हुई थी। जालन्धर में इस प्रकार का यह पहला ही शास्त्रार्थ था। अन्य मतावलम्बियों के साथ होने वाले जालन्धर-आर्यसमाज के संघर्ष का इस शास्त्रार्थ से ही सूत्रपात हुआ था। इसलिये भी इसका विशेष महत्त्व था। इससे आर्यसमाज को बहुत लाभ हुआ। पहिला प्रत्यक्ष लाभ तो यह था कि तीस-पैंतीस नये सभासद मिल गए, दूसरा यह कि जालन्धर के आर्य पुरुषों ने परमुखापेक्षी न रहकर बहुत प्रारम्भ मे ही स्वावलम्बन का पाठ पढ़ लिया। अभी तक पंजाब में प्रतिनिधि-सभा की स्थापना नहीं हुई थी। लाहौर के सिवा किसी और समाज को शास्त्रार्थ करने का अधिकार न था। लाहौर के बाहर का कोई भी गृहस्थ शास्त्रार्थ तो क्या धर्मप्रचार तक करने का साहस नही करता था। ऐसी हालत मे गॉवो का तो कहना ही क्या, बडे-बड़े नगरों तक में आर्यसमाज का सन्देश पहुँचना कठिन था। शास्त्रार्थो के लिए अब तक आर्यसमाज की ओर से ब्राह्मण-कुलोत्पन्न पण्डित ही खडे हुआ करते थे। संस्कृत तो क्या, हिन्दी का भी अच्छा अभ्यास करना सर्वसाधारण आर्य पुरुषों ने शुरू नही किया था। इस सारी प्रथा को बदलने का श्रेय इस शास्त्रार्थ के कारण जालन्धर-आर्यसमाज को ही मिला। जालन्धर-आर्यसमाज ने अपने पैरो पर खडा होने की शिक्षा ग्रहण की और दूसरे समाजों के सामने भी इस सम्बन्ध में एक उदाहरण उपस्थित किया।

इस शास्त्रार्थ से आर्यसमाज को मिलने वाले सामुदायिक लाभ की अपेक्षा मुशीराम जी की जो व्यक्तिगत लाभ मिला, वह भी कुछ कम नही था। लाहौर के आर्य-नेताओं की बौछार और उनमे से हुई निराशा से मुंशीरामजी ने यह दृढ सकल्प किया कि भविष्य मे अपनी सहायता के लिये किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहेंगे। इस संकल्प की पूर्ति के लिये ही वैदिक ग्रन्थो के स्वाध्याय के लिये उनमें अधिक रुचि पैदा हुई। ज्येष्ठ सम्वत् 1943 के प्रारम्भ से ही उन्होने मूल वेदो की पुनरावृत्ति शुरू कर दी। प्रातः-साय दोनों समय हवन के बाद कम से कम बीस वेदमन्त्रो के स्वाध्याय और अनुशीलन का नियम बना लिया। साथ मे वेदभाष्य देखने का भी नियम किया और अन्य धर्म-सम्बन्धी अध्ययन भी शुरू कर दिया। व्याकरण तथा वेदांग आदि के ज्ञान के बिना भी मुंशीराम जी को वेदमन्त्रों का उच्च तथा गम्भीर आशय बोध होने लगा और यह अनुभव होन लगा कि वेदार्थ

के लिए व्याकरण आदि की अपेक्षा मानसिक शुद्धि की ही अधिक आवश्यकता है। सम्वत् 1948 के अन्त तक स्वाध्याय का यह क्रम जारी रहा। उसके बाद आर्यसमाज के घरेलू युद्ध से इस स्वाध्याय में ऐसा विघ्न पड़ा कि उसका टूटा हुआ क्रम फिर कभी नियमबद्ध न हो सका।

2. बिरादरी से ख़ारिज किये जाने की धमकी

प्रत्येक आन्दोलन की पहले उपेक्षा की जाती है और फिर उसका विरोध किया जाता है। जालन्धर-आर्यसमाज का आंदोलन भी पुराण-पन्थियों, विशेषकर ब्राह्मण-धर्माभिमानियो, की उपेक्षा की सीमा पार कर, विरोध की सीमा पर पहुँच गया था। जाति-बहिष्कार के सिवा उनके पास विरोध का कोई शस्त्र भी नहीं था। थापर खत्रियो के दीवानख़ाने में आर्यसमाजियों को जाति-च्युत करने की व्यवस्था देने के लिए पण्डितो उर्फ़ नामधारी ब्राह्मणों की पंचायत बुलाई गई। शहर में बड़ी हलचल मच गई। जिनके लड़के, पोते, दोहते, भतीजे आदि आर्यसमाजी थे, वे उन ब्राह्मण-धर्माभिमानियों की सूची बनाने लगे, जिनको काला अक्षर भैंस बराबर भी नही था और जो गायत्री मन्त्र से भी अनभिज्ञ थे। व्यवस्था देने वालों में किसी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध था कि वे एक सम्बन्धिनी स्त्री से फॅसे हुए हैं। दूसरे शिरोमणि और लोकमान्य माने जाने वाले भी व्यभिचार-दोष के लिये बदनाम थे। तीसरे जुएबाज थे। देवराज जी ने इनमें से ही एक से यज्ञोपवीत लिया था। वे उनके पास मुंशीराम जी के साथ गये और उनसे बोले–"पण्डित जी, आप मेरे गुरु है। आप पंचायत कीजिए। हमारा प्रश्न यह होगा कि जो इस प्रकार के पापाचार मे लिप्त है उसको पहले गधे पर सवार करके देश-निकाला दिया जाय, तब हम अपनी सफ़ाई पेश करेंगे।" देवराज जी की धमकी काम आ गई। पंचायत का समय आया तो शिरोमणि जी तो प्रातःकाल ही टिकट कटवा कर अमृतसर चल दिये। देवराज जी के गुरु जी हाथ में लोटा ले कान पर जनेऊ चढ़ा सवेरे दस बजे जो जगल को गये तो शाम तक वापिस नहीं लौटे। पंचायत में पॉच ब्राह्मण भी न आये।

पंचायत बुलाकर आर्यसमाजियों को जातिच्युत कराने की आशा पर इस प्रकार तुषारपात होने पर पुराण-पन्थियों ने फिर अमृतसर से पण्डित श्यामदास को ही बुला भेजा। डूबतों को तिनके का सहारा और क्या मिलता? पण्डित जी भी

नयी भेंटपूजा की आशा से दौड़े चले आये। अकस्मात् मुंशीराम जी इस बार भी तलवन गये हुए थे। दो दिन तो पण्डित अनाप-शनाप बक कर लोगों को भ्रम मे डालते रहे। तीसरे दिन मुंशीराम जी जालन्धर आये और पण्डित जी के व्याख्यान में गये। पण्डित जी 'सत्यार्थ-प्रकाश' में से पाराशर के उस श्लोक का, जिसका ऋषि दयानन्द ने स्वयं ही खण्डन किया है, पूर्वपक्ष पढकर लोगों को बताने लगे कि 'दयानन्द ने गाय से गधी को अच्छा बताया है।' मुंशीराम जी ने बीच में ही रोक कर सारी इबारत पढ़ने को कहा। पण्डित जी के टालमटोल करने पर मुशीराम जी स्वयं प्लेटफ़ार्म पर जा खड़े हुए और पण्डित जी के हाथ से पुस्तक लेकर सब इबारत स्वयं पढ़ दी। साथ में उनको अले दिन आर्यसमाज में अपना व्याख्यान सुनने का निमन्त्रण भी दे दिया। जोश में पण्डित जी ने निमन्त्रण स्वीकार करते हुए कह दिया कि "मै अवश्य आऊँगा।" दूसरे दिन टालने पर भी लोग पण्डित जी को समाज में ले ही आये। समाज-मन्दिर मे ऐसी उपस्थिति पहले कभी देखने में न आई थी। अन्दर-बाहर, छत-सड़क, सब जगह आदमी ही आदमी थे। बीस मिनट तक आर्यसमाज के सिद्धान्तों की बातें तो पण्डित जी शान्ति से सुनते रहे, परन्तु जब पौराणिक सिद्धान्तो का पौराणिक प्रमाणो द्वारा ही खण्डन होने लगा तो 'राधा-कृष्ण की जय' का नारा लगा कर पण्डित जी उठ खड़े हुए और 'कथापि खलु पापानाम्' का अनुसरण करते हुए वहाँ से चल दिये। दो-ढाई सौ आदमी उनके साथ गये होंगे। बाक़ी सब वहाँ ही जमे रहे। डेढ़ घण्टा मुंशीराम जी का धारा-प्रवाह भाषण हुआ। इस सौदे में भी आर्यसमाज लाभ मे ही रहा। दस-पन्द्रह नये सभासद मिल गये। जालन्धर के आर्यसमाजियों में आत्म-विश्वास और धर्मप्रचार की लगन इतनी अधिक समा गई कि वे दूने उत्साह के साथ उसमे लग गये।

3. धर्म-प्रचार का विस्तार

पिताजी की मृत्यु के बाद घर की सब व्यवस्था कर लेने पर सम्वत् 1943 के दशहरे से पहले ही मुंशीराम जी वकालत की परीक्षा के लिये लाहौर जाने वाले थे, किन्तु जालन्धर में दशहरे के मेले पर धर्म-प्रार के लिये रुकना पड़ा। यह पहला अवसर था, जब जालन्धर में समाज-मन्दिर के बाहर सार्वजनिक-रूप में ईसाइयो की बराबरी में आर्यसमाज ने अपना खेमा गाड़कर धर्म-प्रचार का प्रबन्ध किया था। मिशन स्कूल के हैडमास्टर भक्तराम जी बी. ए. उस समय स्थानीय आर्यसमाज के उपप्रधान थे, वे अपने हाथों से रामलीला के तालाब (आधुनिक गाँधी-मंडप) पर खेमे के खूँटे ठोंकने और 'ओ३म्' का झंडा लगाने का कम कर रहे थे। बड़े-बड़े घरो के लड़कों के धर्म-सेवा में इस प्रकार लगने का सर्वसाधारण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। ईसाइयों का प्रचार बिलकुल फीका पड़ गया। कभी-कभी तो उनके कैम्प में चूहे ही डंड पेलते थे। आर्यसमाज का खूब प्रचार हुआ।

इस सार्वजनिक प्रचार के साथ-साथ, आर्य सभासदों के जीवन को भी उन्नत बनाने का यतन विशेष रूप में किया जाने लगा। इसी समय पारिवारिक-उपासना का क्रम शुरू किया गया। प्रत्येक सप्ताह मंगलवार को सब भाई किसी सभासद के यहाँ इकट्ठे होते थे। उन पर भी इस प्रार्थना का बहुत प्रभाव पडता था। इस पारिवारिक प्रार्थना का सर्वप्रथम श्रीगणेश जालन्धर आर्यसमाज में ही किया गया। इसके अलावा 'चाटी सिस्टम' के नाम से 'आटा फंड' और बाद में 'रद्दी फंड' भी सबसे पहले यहाँ ही क़ायम किया गया था। प्रत्येक आर्य सभासद के घर में एक-एक घड़ा इसलिये रख दिया था कि प्रतिदिन प्रातःकाल उसमें आर्यसमाज के लिये एक-एक मुट्ठी आटा डाला जाय। आर्यसमाज का चपरासी मास के अन्त में आर्य सभासदों के यहॉं जाता था और जमा की हुई सब रद्दी और आटा ले आता था। उसको बेच कर जमा किये गये धन से आर्यसमाज के पुस्तकालय और वाचनालय का ख़र्च चलाया जाता था। ये सब आयोजनायें देवराज जी के उपजाऊ दिमाग़ में पैदा होती थीं और मुंशीराम जी उनको कार्य-रूप में परिणत करने के लिये उनका पूरा साथ दिया करते थे।

4. जालन्धर-आर्यसमाज का पहला उत्सव

वकालत की पहली परीक्षा से निबट कर मुंशीराम जी पौष 1943 में जालन्धर आये और जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव की तैयारियों में लग गये। आर्यसमाज की जगह बदल गई थी। मुरलीमल की धर्मशाला छोड कर कपूर्थला के वकीलख़ाने के सामने वाली जगह ले ली गई थी। इस नये मकान का ऑगन बहुत खुला था, उसी में शामियाने खड़े किये गये और उनको पूरी मेहनत के साथ सजाया गया। यह उत्सव कई दृष्टियो से बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ। नगर-निवासियों पर इसका प्रभाव भी खूब पड़ा। नगर-कीर्तन बहुत प्रभावशाली हुआ और प्रतिदिन प्रातःकाल आर्य पुरुषों की हरिकीर्त करती हुई निकलने वाली मंडली का भी अच्छा प्रभाव पडता था। बाहर से आये हुए आर्य पुरुषो के ठहरने का प्रबन्ध मुशीराम जी के मकान पर किया गया था। यह मकान था शहर के एक ओर और उत्सव का आयोजन था ठीक उससे दूसरी ओर। इसलिये आर्यपुरुषों को शहर के बीच मे से होकर जाना पडता था और वे नगरकीर्तन करते हुए ही आया-जाया करते थे। जालन्धर की धर्म-सभा ने भी बीस ही दिन पूर्व जन्म लेकर भी अपना उत्सव इन दिनो मे ही रख दिया था। उसकी प्रतिद्वन्द्विता और विरोध ने आर्यसमाज के उत्साह की अग्नि में घी डालने का काम किया। इस उत्सव की सफलता से आर्यसमाज की जडें सुदृढ़ हो गई। आर्य भाई और भी अधिक उत्सोह से आर्यसमाज के कार्यो में भाग लेने लगे। अन्तरंग सभा के अधिवेशन और पारिवारिक-उपासना अधिक नियम से होने लगे। प्रति सप्ताह तीन-चार दिन आर्य पुरुष रात को 8-9 बजे भजन गाते हुए बाज़ारो में से निकलने लगे। शाम को प्रतिदिन समाज-मन्दिर मे इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य कर्म करने लगे और साथ मे धर्म-चर्चा भी होती। पारस्परिक शंकाओं की निवृत्ति के साथ-साथ प्रचार के साधनों पर भी विचार होता। साराश यह कि स्थानीय आर्यसमाज मे नवजीवन का संचार हो गया और उसके सब कार्य नियमानुसार चलने लगे।

मुंशीराम जी को इसी अवसर पर पण्डित गुरुदत्त जी के सत्संग का लाभ मिला और स्वाध्याय के शुरू किये हुए अभ्यास पर उनका बहुत अधिक विश्वास हो गया। उन पर पण्डित जी के इस कथन का बहुत प्रभाव पड़ा कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को जितनी बार पढ़ा जाय उनमें से नित्य नये-नये भाव विदित होते हैं। उत्सव के बाद से ही मुंशीराम जी स्वाध्याय में और अधिक दत्तचित्त होकर लग गये।

पहले उत्सव से स्थानीय आर्य पुरुषों मे जो तत्परता पैदा हुई, उससे एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि सं. 1944 के शुरू मे ही आर्यसमाज को उस जगह का थोड़ा सा हिस्सा मिल गया, जिस पर कि इस समय विशाल आर्यमन्दिर बना हुआ है। उन पौराणिकों के विरोध से छुट्टी मिली, जो मकान-मालिकों को आर्यसमाज से मकान ख़ाली करवा लेने के लिये सदा ही भडकाया करते थे।

5. पण्डित दीनदयालु जी से मुठभेड़

सम्वत् 1943 के मार्गशीर्ष, दिसम्बर सन् 1886, मे उत्तीर्ण होने के पूरे निश्चय के साथ वकालत की परीक्षा देने पर भी लारपैण्ट साहब की अन्धेरशाही के कारण परीक्षा-परिणाम के निकले ही बिना हिसार के लाला चूड़ामणि के सिवा सब ही को अनुत्तीर्ण कर दिये जाने से मुंशीराम जी की रुचि क़ानून से हट गई थी और उसका स्थान धर्म-प्रचार की धुन ने ले लिया था। उधर सत्य-व्यवहार के कारण कानून की से होने वाली आमदनी भी पॉच सौ से घट कर डेढ सौ रह गई थी। इन दोनो कारणों से मन बहुत उदास हो गया और कुछ निराशा भी पैदा हुई। इसीलिये एकान्त-निवास द्वारा कुछ शांति प्राप्त करने की इच्छा से मुशीराम जी सम्वत् 1944 के ज्येष्ठ मास में तलवन चले गये। वहॉ कुछ अधिक दिन नही बीते थे कि जालन्धर की धर्म-सभा में प. दीनदयालु जी पधारे और उन्होंने आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। मुशीराम जी के पास आदमी पत्र लेकर पहुॅचा। पत्र को देखते ही वे तलवन से चल दिये। 12 बजे मकान पर जालन्धर पहुॅचकर अपने मुन्शी काशीराम से सब हाल जाना और राहो-निवासी लाला तेलूराम के लिये हुए व्याख्यानो के वे नोट देखे, जिनमे पण्डित जी के शब्द तक लिख लिये गये थे। मुशीराम जी ने भोजन पीछे किया, पहिले पण्डित दीनदयालु जी को शास्त्रार्थ के लिए पत्र लिखा और काशीराम को उसकी एक नक़ल पर उनके हस्ताक्षर लाने के लिये उनके पास भेजा। साथ मे समाज-मन्दिर मे दूसरे दिन अपने व्याख्यान का विज्ञापन भी निकलवा दिया। पण्डित जी के टालने पर भी काशीराम पत्र की नकल पर उनके हस्ताक्षर ले ही आया। बस, इतने पर ही चारों ओर आर्यो की हिम्मत की चर्चा होने लगी। उसी दिन शाम को ठीक साढ़े पॉच बजे मुंशीराम जी बहुत से आर्य भाइयों को साथ ले पण्डित जी के व्याख्यान मे भी गये। पण्डित जी दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करने और उसका मजाक उड़ाने मे सिद्धहस्त थे। उस समय उनकी यह कला पूर्ण यौवन

पर थी। जिस जिस समय मुंशीराम जी वहॉ पहुँचे, उस समय पण्डित जी इसी कला का दिग्दर्शन कराते हुए उसी पत्र की उपहासात्मक आलोचना कर रहे थे, जो मुशीराम जी ने उनके पास काशीराम के हाथ भेजा था। सनातनधर्म-सभा के प्रधान श्री हरभजराय जी ने बड़ी शिष्टता के साथ खड़े होकर मुंशीराम जी का स्वागत किया। पण्डित जी समझे कि कोई सुप्रतिष्ठित सनातनधर्मी आये है। लगे पत्र की फिर प्रारम्भ से आलोचना करने और अपनी आदत के अनुसार पत्र-लेखक के सम्बन्ध मे भ्रम पैदा करने के लिये हँसी करते हुए लगे कुछ भाग छोड कर उसको पढ़ने। मुशीराम भला अपने प्रति ऐसा अन्याय कब सहन कर सकते थे। उन्होंने पण्डित जी से कहा कि बीच का भाग भी पढ़ दीजिये, उसको क्यों छोड़ रहे हैं? बस, इतना कहना था कि सभा मे खलबली मच गई। पण्डित जी ने पत्र की आलोचना छोड़ कर एक घण्टा वैराग्य विषय पर ही पूरा किया।

व्याख्यान समाप्त होते ही एक आर्य सज्जन ने घोषणा कर दी कि कल से समाज-मन्दिर मे पण्डित जी के व्याख्यानो का खण्डन किया जायगा। जैसे हमारे प्रधार यहॉ आये हैं वैसे पण्डित जी को भी वहॉ पधारने की कृपा करनी चाहिये। सनातनधर्मियो की ओर से इस घोषणा पर आपत्ति की गई, तो आर्यो की ओर से कहा गया कि 'हमने तो केवल सूचना दी है, सुनने की हिम्मत न हो तो मत आना।' आर्यो की हिम्मत का सिक्का सारे शहर पर जम गया। लोगों के मुँह पर एक ही बात थी—"ये आर्य बडे जबरदस्त है, जो दूसरों के घर पहुँच कर भी उनकी ख़बर ले डालते हैं।"

दूसरे दिन आर्यसमाज-मन्दिर मे सारा शहर टूट पडा। भीड का कुछ ठिकाना न था। कुछ लोग पण्डित जी को लिवा लाने के लिये उनके निवास-स्थान पर भी गये, पर वे छावनी चले गये थे। मुंशीराम जी ने उस दिन व्याख्यान की समाप्ति पर यह सूचना भी दे दी कि यदि कल पण्डित जी आये तो उनके साथ धार्मिक विषय पर विचार होगा, नही तो एक अनोखा व्याख्यान होगा। पण्डित जी ने तो शास्त्रार्थ करना स्वीकार नहीं किया, पर आर्यसमाज की ओर से 'चाऊ-चाऊ का मुरव्वा।' विषय पर व्याख्यान देने का विज्ञापन निकल गया। व्याख्यान के इस विचित्र विषय की इतनी अधिक चर्चा हुई कि लोग बड़ी उत्सुकता से व्याख्यान की प्रतीक्षा करने लगे। व्याख्यान के समय समाज-मन्दिर की छतें और दीवारे तक मनुष्यो से भर गई। कहीं तिल रखने को जगह न रही। पण्डित जी के विशृखल व्याख्यानों को इससे बढिया और क्या नाम दिया जा सकता था? पण्डित दीनदयालु जी तो व्याख्यान होने से पहिले ही जालन्धर से चल दिये। आर्यसमाज इतने लाभ

मे रहा कि उसको तीस नये सभासद मिल गये। मुंशीराम जी को हुए व्यक्तिगत लाभ का अद्‌भुत वृत्तान्त पाठक पीछे पढ ही चुके हैं। आर्यसमाज की बहादुरी के साथ-साथ मुशीराम जी की विद्वत्ता, तर्क और वक्तृत्व-शक्ति की भी जालन्धर की जनता पर धाक जम गई।

इसी समय के लगभग अपने परिवार में समाज-सुधार करने की ओर मुशीराम जी की विशेष प्रवृत्ति हुई। अपनी धर्मपत्नी को अधिक पढ़ाने और घर से परदे आदि की कुरीतियों को दूर करने का यत्न शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि सम्वत् 1944 की ग्रीष्म ऋतु से मुंशीराम जी की धर्मपत्नी ने धर्मग्रन्थो को पढना और समझना शुरू कर दिया। पुत्री वेदकुमारी को, जिसकी अवस्था सात-आठ वर्ष की थी, उन्होंने स्वय पढाना शुरू किया। परदे का झूठा बन्धन भी तोड़ डाला और बच्चो को साथ लेकर मुंशीराम जी के साथ वे घूमने जाने लगी।

6. बम्बई की पहिली यात्रा

पंजाब (जालन्धर) के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय रायजादा भक्तराम मुंशीराम जी के साले थे। वे इसी वर्ष भाद्रपद के मध्य, अगस्त के अन्त में बैरिस्टरी की परीक्षा के लिये इंगलैण्ड गये थे। उनके साथ कपूर्थला के स्वर्गवासी दीवान मथुरादास जी के पुत्र दौलतराम जी, श्री मुकुन्दलाल और श्री जगमोहनलाल भी इगलैण्ड गये थे। मुंशीराम जी का भक्तराम के साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध ही न था, किन्तु क़ानून की कुछ शिक्षा देने से गुरु-शिष्य का भी नाता था। आर्यसमाज की दृष्टि से भी बहुत गहरा सम्बन्ध था। भक्तराम जी उस समय जालन्धर-समाज के अग्रणी-सचालकों मे से थे और वैदिक-धर्म पर भी उनकी अटल श्रद्धा थी। जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से जब आपको विदाई दी गई, तब आपके प्रेमपूर्ण भाषण से उपस्थित लोगों की ऑखों से ऑसू बह निकले थे। इन सबसे भी बडा एक और सम्बन्ध मुशीराम जी का भक्तराम जी के साथ था और वह था प्रेम का सम्बन्ध। दोनों का आपस मे असीम स्नेह था। दोनो का एक-दूसरे की अपेक्षा शायद ही कोई और अधिक बडा मित्र हो। अपने ऐसे निकट-सम्बन्धी और अभिन्नहृदय मित्र को विदाई देने के लिये ही मुंशीराम जी बम्बई गये थे और इसी निमित्त से बम्बई की यह पहिली यात्रा हुई थी। नये-नये दृश्यो और घटनाओ से शिक्षा प्राप्त करने से अधिक लाभ इस यात्रा से यह हुआ कि बम्बई के आर्य-पुरुषो से प्रत्यक्ष परिचय हो गया और कुछ ऐसे लोगों से भी मिलने का अवसर मिला, जिन्होने ऋषि दयानन्द के दर्शन किये हुए थे। इनमे श्री छबीलदास लल्लूभाई, सेवकलाल कृष्णदास और आठ बार सारे भूमण्डल की यात्रा किये हुए 75 वर्ष के वृद्ध रिटायर्ड जज श्री कर्सटजी मानिकजी के नाम उल्लेखनीय हैं। बम्बई से लौटने के पहिले दिन वहॉ के आर्यसमाज-मन्दिर में मुंशीराम जी का व्याख्यान 'ईश्वरोपासना' के सम्बन्ध में हुआ। वहॉ से चलने के लिये जब स्टेशन पर पहुँचे तब एक पारसी सज्जन ने आपको पुष्पमाला पहिनाई और यह कहते हुए कुछ

केले भेंट किये—"महाशय, आप कुछ आश्चर्य न करें। मैं आर्यसमाजी तो नहीं हूँ, किन्तु स्वामी दयानन्द की 'गोकरुणानिधि' का भक्त हूँ। आर्यसमाज स्वामीजी के जिस उपदेश को भूला हुआ है, उसका मैं पालन कर रहा हूँ।" साथ में उन्होने गोरक्षा-सम्बन्धी लिखे हुए अपने ट्रैक्ट और दूसरे कागज़ भी दिये। सम्भवतः ये सज्जन सुप्रसिद्ध गोभक्त श्री जस्सावाला थे।

बम्बई के सामाजिक जीवन का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। परदा-प्रथा न होने से वहाँ के स्त्री-पुरुषों का शुद्ध व्यवहार आपको बहुत पसन्द आया। स्त्रियों का पारसी पहिरावा आपको इतना अधिक जँचा कि आप वहाँ से पारसी ढंग की साड़ियाँ ख़रीद लाये, और उनके पहिनने का रिवाज भी अपने यहाँ जारी किया।

7. पहिले पुत्र का जन्म

बम्बई से लौटने के बाद जालन्धर आकर मुंशीराम जी कुछ अधिक नियम से अपने काम में लग गये। बड़े सवेरे ख़ूब घूमने की आदत पुरानी थी ही। घूमने से लौटते ही परीक्षा की तैयारी मे लग जाते थे, क्योकि अभी वकालत की अन्तिम परीक्षा बाक़ी थी। सम्वत् 1944 के मार्गशीर्ष के अन्त में इसी परीक्षा के लिये मुशीराम जी लाहौर गये थे। 26-27 नवम्बर को लाहौर-आर्यसमाज के उत्सव में सम्मिलित होने की इच्छा से कुछ दिन पहिले ही वह लाहौर चल दिये थे। 27 नवम्बर को सवेरे पं गुरुदत्त जी का उत्सव में अपूर्व व्याख्यान हो रहा था, जिसमें वेदमन्त्र की व्याख्या के बाद ऋषि दयानन्द के सर्वत्याग का चित्र लोगों के सामने रखते हुए धन के लिये मार्मिक अपील की गई थी। व्याख्यान के समय तो लोगो की ऑखो से अश्रुधारा बह रही थी और बाद मे उनके हाथों से रुपये बरस रहे थे। भिक्षा मॉगने वालों में सुविख्यात भाई निहालसिंहजी दरवाजे पर खडे हुए भिक्षा मॉग रहे थे। उन्होने तार का एक लिफ़ाफा लाकर मुशीराम को दिया। खोला तो उसमे यह शुभ-सवाद था कि "आज रविवार 27 नवम्बर सवेरे 10 बजे घर में पुत्र उत्पन्न हुआ है।" भाईजी ने यह शुभ-समाचार सुनते ही झोली आगे करके कहा—'कुछ दिलवाइये।' मुंशीराम जी ने जेब मे से सौ रुपये का नोट निकाल कर उनको दे दिया और उन्होने वहीं से दान की सूचना इन शब्दों में दी—"ईश्वर करे, हमारे प्रधानो के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे समाज को ऐसा ही दान मिला करे।"

8. जालन्धर आर्यसमाज का दूसरा उत्सव

मार्गशीर्ष के अन्तिम दिनों मे लाहौर से लौट कर जालन्धर आर्यसमाज का दूसरा उत्सव मनाया। समाज की अपनी जगह पर यह पहिला उत्सव था। उसको सजाया भी खूब गया था। धन की भी कुछ कमी नहीं रही थी। पर, लाहौर से उपदेशकों के सम्बन्ध मे टका-सा जवाब मिला। व्यक्तिगत आग्रह पर केवल काली बाबू आये थे। लाहौर से निराश होने का यह दूसरा अवसर था। स्थानीय आर्य पुरुषों ने हिम्मत न हार कर अपने ही भरोसे उत्सव सम्पन्न किया। देवराज जी, भक्तराम जी, काली बाबू और मुंशीराम जी के व्याख्यान और धर्मोपदेश आदि हुए। जालन्धर-आर्यसमाज ने अपने पैरों पर खडे होने की पूरी शिक्षा ग्रहण कर ली। इसी समय से मुशीराम जी ने जालन्धर ज़िले के गॉवो मे भी आर्य पुरुषो के साथ जाकर धर्म-प्रचार का काम शुरू किया जो कि कुछ वर्षो तक बराबर जारी रहा।

9. सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा

4 माघ (जनवरी 17) को वकालत की परीक्षा के लिये फिर लाहौर को प्रस्थान किया। मार्ग में गुरुदासपुर-आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव भुगताया। उस समाज की अवस्था पर आपको बहुत दुःख हुआ। आपकी पजिका (डायरी) में इस सम्बन्ध में लिखा है कि "सायंकाल को गुरुदासपुर-आर्यसमाज में सम्मिलित होने के लिये वहाँ पहुँचा। इस समाज की अवस्था बहुत शोचनीय है। सब अधिकारी हैं तो धनाढ्य, किन्तु सब शराबी, क़बाबी और शिकारी हैं। इसलिये समाज की सेवा करने के स्थान मे वे उल्टे हानिकारक हो रहे हैं।" इन शब्दों के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। इन शब्दों में छिपी हुई मुंशीराम जी की अन्तर्वेदना स्पष्ट है। मुशीराम जी को आर्यसमाज का अंधाधुंध प्रचार अभीष्ट नहीं था। वे आर्यसमाज के प्रचार के साथ-साथ आर्य-जीवन को भी उन्नत बनाने के दृढ़ अभिलाषी थे। जालन्धर मे उन्होंने इसके लिये कोई भी बात उठा नहीं रखी थी। सिद्धान्त के साथ निर्बलता का किसी तरह का कोई समझौता करना वे नहीं जानते थे। इसीलिये उन्होने कई बार आर्थिक हानि भी उठाई और कई बार अकारण ही दूसरो को अपना शत्रु भी बना लिया। पर, सत्य-प्रेम और धर्मनिष्ठा से वे कभी विचलित नही हुए।

उनकी इस दृढता को स्पष्ट करने के लिये फ़िल्लौर की एक घटना को देना आवश्यक है। फ़िल्लौर मे आपने ही बड़े परिश्रम से आर्यसमाज की स्थापना की थी। वहाँ के प्रधान और मन्त्री को मद्य-मास का व्यसन छुडा कर वैदिक-धर्म का सच्चा भक्त बनाया था। ऊपर लिखे हुए गुरुदासपुरी आर्यसमाजियो मे से फ़िल्लौर के मन्त्री जी के एक वकील-मित्र होलियो की छुटियो में फ़िल्लौर आये। उन्होने आर्यसमाज मन्दिर में ही शराब की बोतले उँडेलीं। अपने मित्र मन्त्री जी को भी अपने निश्चय से विचलित किया। इतना ही नहीं, मन्त्री तथा प्रधान के मना करने और नाराज़ होकर वहाँ से चले जाने पर भी वहाँ ही वेश्या को बुला

का मुँह काला किया और उसको बिना कुछ दिये ही रात की गाड़ी से वहाँ से भाग निकले। वेश्या ने तहसीलदार के यहाँ फ़ौजदारी मे नालिश कर दी। तहसीलदार आबिदहुसैन मुंशीराम जी के मित्र और बहुत भले आदमी थे। उन्होंने समाज के मन्त्री और प्रधान को बदनामी से बचाने के लिये वेश्या को अपने पास से दस-पॉच रुपये देकर नालिश रद्द करवा दी। तीसरे दिन मुशीराम जी एक मुकदमे की पैरवी के लिये वहाँ गए तो तहसीलदार ने सब हाल सुनाया। मुशीराम जी ने उसको उसकी कृपा के लिये धन्यवाद तो दिया, किन्तु साथ में यह भी कहा कि ऐसा करके उन्होंने बडा पाप किया है। मुंशीराम जी ने यहॉ ही बस नही की, किन्तु समाज के उस पाप को धोने के लिये बहुत बड़ा क़दम उठाया। उसी दिन शाम को एक व्याख्यान मे उपस्थित जनता को वैदिक-धर्म का महत्त्व समझा कर आपने अन्त मे यह घोषणा भी कर दी कि स्थानीय आर्य-अधिकारियो के पतित हो जाने से अब फ़िल्लौर मे कोई आर्यसमाज नहीं है। मन्त्री और प्रधान ने तो पीछे अपने किये का प्रायश्चित्त किया और वे मुंशीराम जी से बराबर मिलते भी रहे, किन्तु गुरुदासपुर के वकील उनके ही नही, आर्यसमाज के भी विरोधी हो गए और पीछे पुराण-पन्थियो के महामान्य लीडर भी बन गये। सत्य प्रेम और धर्म-निष्ठा के ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलेंगे, जिनमे सिद्धान्त की रक्षा के लिये सस्था और उसके द्वारा होने वाले क्षणिक लाभ को इस प्रकार बलिदान कर दिया गया हो।

गुरुरदासपुर-आर्यसमाज के बाद लाहौर जाते हुए अमृतसर आर्यसमाज के उत्सव मे भी मुंशीराम जी सम्मिलित हुए। परीक्षा के बाद एक सप्ताह लाहौर मे और बिताया। इन दिनो मे लाहौर आर्यसमाज की ओर से लाहौर मे कई व्याख्यान दिए। एक व्याख्यान अग्रेजी मे भी दिया, जिसका विषय था—'विवाह का धार्मिक, नैतिक और सामाजिक महत्त्व।'

10. इन दिनों का व्यक्तिगत जीवन

परीक्षा में सफल होने के बाद 6 फाल्गुन, 18 फरवरी, को जालन्धर लौट कर वकालत का काम नियमित रूप से शुरू किया। प्रातः शौच से निबट कर घूमने जाने का नियम फिर से जारी किया। लौट कर स्नान, सन्ध्या, हवन आदि के बाद डाक और समाचार-पत्र देखे जाते। मुंशीराम जी का यह पुराना अभ्यास था कि बाहर से आये हुए निकम्मे से निकम्मे पत्र का भी उत्तर अवश्य देते थे और मेज पर सामने पडे हुए सब काम को समाप्त करके ही उठते थे। आठ बजे से पौने दस बजे तक सब मुकदमे तैयार कर लेते थे। दस-बारह मुकदमे तैयार करने में भी इससे अधिक समय नही लगता था। बाद में भोजन करके कचहरी चले जाते। कचहरी के बार-रूम मे नये शिकार की प्रतीक्षा में खाली बैठ कर गप्पे लड़ाने की आपकी आदत नही थी। यदि किसी दिन दो-ढाई बजे ही काम समाप्त हो गया तो आप उसी समय घर लौट आते थे। फिर छः बजे तक हुक्का और शतरग चलती। शाम को बग्घी मे लम्बी सैर को निकल जाते अथवा कम्पनी बाग में टैनिस के लिये रुक जाते। शाम को भोजन के बाद कुछ आर्य भाई घर पर आ जाते। उनके साथ नित्य ईश्वर-प्रार्थना और धर्म-चर्चा होती। रात को दस-ग्यारह बजे तक 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' आदि के साथ-साथ हर्बर्ट स्पेंसर के ग्रन्थों का भी स्वाध्याय होता। शतरंज और हुक्के का व्यसन सम्वत् 1945 तक लगा रहा। बीच-बीच मे कई बार अनुभव होता रहा कि शतरज से समय और हुक्के के स्वास्थ्य की हानि होती है, किन्तु एक-दो बार छोड कर भी दूसरो की संगति से ये व्यसन फिर आ लगते थे। सम्वत् 1945 मे आत्मा में कुछ ऐसी जागृति हुई कि ये दोनों व्यसन भी सदा के लिये छूट गये।

गॉव से दो मील दूरी पर इन्हीं दिनों में पिताजी से मिली हुई तलवन की भूमि मे एकान्त-निवास के लिये मकान बनवाने, बागीचा लगवाने तथा कृषि को उन्नत करने की धुन पैदा हुई। फाल्गुन के मध्य में इसी काम के लिये तलवन

गये। वहाँ इस काम की स्थिर व्यवस्था करके जालन्धर लौट आये। जालन्धर में वकीलों और पढ़े-लिखे लोगों को इकट्ठा करके व्याख्यान तथा विवाद के अभ्यास के लिये एक वाग्वर्द्धिनी-सभा की स्थापना की, जिसके आप ही मन्त्री हुए। पर, यह सभा अधिक दिन नहीं चली।

14 वैशाख, 1945 को आप अपने पुत्र के नामकरण-सस्कार के लिये तलवन गये। भाई वग़ैरह तो मुंशीराम जी के सामने कुछ बोलते नहीं थे, किन्तु बड़े चाचा बडे कट्टर सनातनी और स्वभाव के क्रोधी भी थे। उनसे सब डरते थे। भाइयो को डर था कि कहीं इस सस्कार में भी वे कोई उपद्रव न खडा कर दें। पर, मुशीराम जी ने उनको भी निमन्त्रित किया। उन्होने आकर बड़े प्रेम से सब समारोह मे भाग लिया। अपने हाथ से बालक को कपड़े पहिनाये और उसका नाम 'हरिश्चन्द्र' रखा, यद्यपि कुल की पुरानी परम्परा के अनुसार चूडाकरण से पहिले, जो तीसरे वर्ष होता है, बालक को सिले हुए कपडे नही पहिनाये जाते थे। चाचा जी के इस व्यवहार पर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। मुशीराम जी को अपनी सचाई और सरलता से पिताजी के समान चाचा जी को प्रभावित हुआ देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई।

पुत्र के नामकरण-संस्कार से लौट कर जालन्धर मे 20 ज्येष्ठ 1945 (3 जून, 1888 ई.) को आपने अपने उस विशाल बगले की नींव डाली, जो पीछे आर्य-प्रतिनिधि-सभा पजाब को दे दिया गया था और जिसकी बिक्री से प्राप्त हुए 20 हजार रुपये गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा किये गये थे। इसमे उपासना तथा पुस्तकालय आदि के लिये अलग-अलग कमरे रखे गये थे। इसकी बुनियाद पडने से पहिले ही सामने सडक के दूसरी ओर समाज-मन्दिर का कच्चा आँगन घिर चुका था और वहाँ ही समाज का सब काम-काज होता था। मुशीराम जी समाज-मन्दिर में जाने से पहिले बनते हुए अपने मकान का निरीक्षण करते थे। फिर सायंकाल को आर्यसमाज मे ही सन्ध्या और उसके बाद कुछ लोगो के साथ धर्म-चर्चा भी होती थी।

भाद्रपद-आश्विन का महीना तलवन में बिताया। वहाँ एक कन्या-पाठशाला भी खोली, किन्तु योग्य अध्यापिका के अभाव मे वह चल नहीं सकी। अपने कुटुम्ब मे बहुत से धार्मिक सशोधन किये। अपनी पुरानी बिरादरी के लोगो में धर्म के लिये प्रेम और दान की प्रवृत्ति पैदा की। इस बार गाँव से जालन्धर आकर सब नित्यकर्म नियमबद्ध होने लगे। समाज के साप्ताहिक अधिवेशन मे प्राय: आपका ही उपदेश होता। घर पर भी कई सज्जन आकर आपसे 'सत्यार्थप्रकाश' आदि

पढते और धर्म-सम्बन्धी शंकाओं की निवृत्ति करते थे। रात को सोने से पहिले आपके मकान पर आर्य भाई हरिकीर्तन के लिये भी जमा होते थे। इन्हीं दिनो मे 'आर्य-पत्रिका' के लिये लेख लिखने भी शुरू किये थे। स्वाध्याय का अभ्यास दिन प्रति-दिन बढता चला गया। नित्य रात को डेढ-दो घण्टे पश्चिमीय विद्वानो के ग्रन्थो का अभ्यास होता और प्रातःकाल डेढ़ घण्टा 'सत्यार्थप्रकाश' और वेदभाष्य का स्वाध्याय होता। साथ में संस्कृत ज्ञान के लिये लघु-कौमुदी की भी पुनरावृत्ति शुरू की।

इन दिनों और अगले कुछ वर्षो मे मुंशीराम जी को कितना अधिक कार्यव्यग्र रहना पड़ता था, इसका ठीक ठीक पता उनकी पंजिका से लगता है। पजिका के 22 फाल्गुन (6 मार्च) सम्वत् 1945 के पृष्ठ में दर्ज किया हुआ है कि "कचहरी से लौटकर देवराज जी के यहॉ गया और उनको 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' का एक कठिन स्थल समझाया। वहॉ से लौटते हुए एक घटा समाज-मन्दिर मे ठहरा, जहॉ कि परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप और भेद पर दो भाइयो को उपदेश दिया। फिर ब्रह्मचरी मुनिऋषि को आध घंटा पढा कर धर्म-सभा के उत्सव में गया, वहॉ व्याख्यान मे वेद की महिमा का ही वर्णन था, कोई पन्थाई झगडा न था। जालन्धर-आर्यसमाज के निष्पक्ष भाव का प्रभाव पौराणिकों पर भी पड़ रहा है। धर्म-सभा-मन्दिर से अपने निवास-स्थान पर गया, जहॉ मेरी सन्ध्या में बुड्ढामल, नूरमहल के बड़े साहूकार, सम्मिलित हुए। यह महाशय ऐसे प्रभावित हुए कि चलते हुए पचास रुपया हमारी भावी पुत्री-पाठशाला को दान दे गए। 'सत्यार्थप्रकाश' के स्वाध्याय के पश्चात् मैं साढ़े नौ बजे सोने की तैयारी कर रहा था कि बुलाए हुए रत्ताराम अपील-नवीस टाडा से पधारे और उन्होने बैसाखीराम साहूकार की बालविधवा पुत्री से मेरे समझाने पर विवाह करना स्वीकार किया। इस उद्धरण की कुछ अस्पष्ट पंक्तियॉ अगले पृष्ठों मे स्पष्ट हो जायेगी। पंजिका से ऐसे कुछ और उद्धरण भी दिये जा सकते है किन्तु आशय को स्पष्ट करने के लिये ऊपर का उद्धरण पर्याप्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुशीराम जी को घडी की सूई पर चलना पडता था और वे सारा दिन किसी न किसी परोपकार के काम मे ही बिताया करते थे।

11. धर्म-प्रचार की धुन और जालन्धर-समाज का तीसरा उत्सव

सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा के साथ-साथ मुंशीराम जी मे धर्म-प्रचार की धुन भी कुछ ऐसी पैदा हुई कि उन्होंने जालन्धर ज़िले के गॉवो में ही नहीं, किन्तु आस-पास के जिलों में भी आर्यसमाज का प्रचार बडी तत्परता से शुरू कर दिया। लुधियाना का एक बाका पहलवान चिरंजीलाल उपदेशक के तौर पर अकस्मात् ही मिल गया। उसने इस धर्म-प्रचार मे मुंशीराम जी की बहुत सहायता की। वह अधिक पढ़ा-लिखा नही था, किन्तु तुकबन्दी का उसको बहुत शौक था और तुकबन्दी सुना कर ही वह लुधियाना में समाज का प्रचार किया करता था। एक दिन उसने राहू-केतु आदि का खण्डन किया तो एक ब्राह्मण-देवता से मुकाबला हो गया। वह अपने यजमान के यहॉ से दान मे दाल-चावल आदि लाया था। उसी को दिखा कर चिरजीलाल से उसने कहा—"यदि हिम्मत है तो देवता के इस दान को तो लेकर दिखा।" चिरजीलाल ने अँगोछे मे बॅधा हुआ सब सामान अँगोछे समेत उठाया और कन्धे पर रख कर चलता बना। बार-बार मॉगने और धमकाने पर भी वापिस नही किया। ब्राह्मण ने अदालत की शरण ली और चिरंजीलाल को क़ैद की सजा हो गई। उस समय लुधियाना की सेशन-अपील जालन्धर में ही होती थी। मुंशीराम जी ने सेशन में अपील की और चिरजीलाल, बरी हो गया। उसके बाद से वह आपके पास ही रहने लग गया। चिरंजीव हरिश्चन्द्र के नामकरण-संस्कार के अवसर पर चिरजीलाल तलवन गया था। वहॉ उसने अपने प्रचार से धूम मचा दी थी। तलवन से जालन्धर लौटते हुए रास्ते मे मुशीराम जी ने चिरंजीलाल की सहायता से नकोदर मे प्रचार किया। चिरजीलाल बाजार मे जाकर अपनी तुकबन्दी सुना कर व्याख्यान का विज्ञापन किया करता और बहुत-सी भीड़ को अपने साथ इकट्ठा भी कर लाता था।

सम्वत् 1945 की ग्रीष्म-ऋतु से कपूर्थला पर भी आर्य पुरुषों ने धावे बोलने

शुरू कर दिये थे। सबसे पहिला धावा मुशीराम जी ने जून मास में बोला था। चिरंजीलाल भी साथ गया था और देवराज जी भी व्याख्यान के समय जा पहुँचे थे। चिरंजीलाल ने बाज़ार में घूम कर व्याख्यान का विज्ञापन किया, देवराज जी ने सभा में व्याख्यान दिया और मुंशीराम जी ने मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में मास्टर पोल्होमल के साथ शास्त्रार्थ किया। कपूर्थला के उस समय के एकाउण्टेण्ट-जनरल श्री अछरूमल मिश्र आर्यसमाज के बहुत बड़े विरोधी और भारी शत्रु थे। उनको आर्यसमाज से इतनी चिढ थी कि उनके मकान पर समाज के व्याख्यान का विज्ञापन लगाने जाने वाले को वे पिटवाते थे और यदि कोई ऑख बचा कर विज्ञापन लगा आता तो सारी दीवार को पानी से धुलवाते थे। 7 श्रावण (2 अगस्त) को मुंशीराम जी एक आर्य भाई की माता के दाह-संस्कार के लिये फिर कपूर्थला गये। उस समय भी धर्म-प्रचार खूब हुआ। दाह-सस्कार की वैदिक-पद्धति का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि बहुत से लोग आर्यसमाज के सभासद् हो गये। मिश्र अछरूमल के लिये यह सहन करना सम्भव नहीं था। पर, वे करते भी क्या? मौत का मामला था। इस पर भी इतना तो कहला ही भेजा कि—"इस बार तो मौत के कारण छोड दिया, फिर आओगे तो क़ैद करा दूँगा।" मुशीराम जी भला इस गीदड़भभकी से कब डरने वाले थे? उन्होंने कपूर्थला जाकर वहाँ प्रचार करना अपना लक्ष्य बना लिया। इसके बाद कई बार कपूर्थला जाना हुआ, किन्तु मिश्र अछरूमल की धमकी कभी कार्य में परिणत नही हुई।

लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव से नया उत्साह, नयी स्फूर्ति और भावनाएँ लेकर जालन्धर के आर्य-पुरुष जालन्धर लौटते और अपने समाज के उत्सव की तैयारियो में लगा करते थे। लाहौर-आर्यसमाज के बारहवे उत्सव में जालन्धर से आर्य पुरुष अच्छी संख्या मे सम्मिलित होने गये थे। जालन्धर रेलवे स्टेशन के तीसरे दरजे के मुसाफिरखाने से उन्होने जो प्रचार शुरू किया, वह लाहौर के रास्ते मे गाड़ी में ही नहीं किन्तु लाहौर के बाजारों मे भी जारी रहा। जालन्धरियों की टोली मुशीराम जी और देवराज जी के नेतृत्व मे लाहौर में भी उतारे के स्थान से समाज-मन्दिर तक बाजारों में भजन गाते हुए ही जाया करती थी। लाहौर के इस उत्सव से लौटकर तीन दिन मुंशीराम जी ने तलवन में बिताये। वहाँ से जालन्धर आकर स्थानीय आर्यसमाज के तीसरे उत्सव की तैयारी में लग गये। मुंशीराम जी के धर्मप्रचार की धुन इस समय पूरे यौवन पर थी। 'आर्य-प्रचारक' शब्द उन पर पूरी तरह चरितार्थ होता था। स्वयसेवक के रूप मे वे अहोरात्र धर्म-प्रचार में ही लगे रहते थे। इस वर्ष उत्सव की तैयारियाँ ख़ूब लग कर की

गई। आर्यपथिक पण्डित लेखराम जी के सहयोग से मुंशीराम जी ने कई सप्ताह पहिले से ही प्रचार का कार्य विशेष रूप में शुरू कर दिया था। शहर और उसके आस-पास में व्याख्यानों की धूम मच गई थी। आर्य-पुरुष बड़े सवेरे ही इकतारा लेकर निकलते थे और वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति तथा स्तुति के भजनों के गान ऐसी अलाप के साथ गाते थे कि मुहल्ले के सोये हुए लोग भी बिस्तरे पर से उठ बैठते और बड़े प्रेम के साथ उनका गाना भी सुनते थे। ब्राह्ममहूर्त्त का यह प्रचार इतना आकर्षक और प्रभावशाली होता था कि ब्राह्मसमाज के कुछ नेता भी उसमें बड़े प्रेम से सम्मिलित होते थे। बूढ़ी स्त्रियाँ कहती थीं–'बड़े भले फ़कीर हैं। केवल भजन गाते हैं, माँगते कुछ नहीं।' दूसरी कहतीं–'ऐ भाई ख़ैर लै जा।' इस प्रचार के साथ-साथ उत्सव का निमन्त्रण भी लोगों को दिया जाता। कई बार भिक्षा भी इकट्ठी की जाती थी। उसमें पैसे, दुअन्नी तथा चवन्नी के साथ-साथ मिलने वाला अनाज भी लिया जाता। एक बार इसी प्रकार एक सवेरे की भिक्षा से इकट्ठे हुए 10) से कुछ अधिक मुंशीराम जी ने समाज के उत्सव के चन्दे में दिया था। उत्सव से पहिले ऐसे प्रचार का क्रम इसी वर्ष शुरू हुआ था, जो कि इसके बाद कई वर्षो तक बराबर जारी रहा। पर, धर्म-कार्य में विघ्न डालने वालों ने गले मे ढोलक लटका कर इस प्रचार का जब स्वांग रचना शुरू किया, तब संघर्ष को टालने के लिये आर्यसमाज ने इसको बन्द कर दिया।

जालन्धर-आर्यसमाज का यह तीसरा उत्सव कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हुआ। उस महत्त्व की विस्तृत कथा का सम्बन्ध जालन्धर-आर्यसमाज के इतिहास के साथ है। यहाँ इतना ही लिखना अभीष्ट है कि यह उत्सव मुंशीराम जी के व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी। इससे पहिला उत्सव जालन्धर के आर्य पुरुषों ने अपने ही भरोसे किया था और अपने ही भरोसे उन्होंने जालन्धर तथा आस-पास में धर्म-प्रचार का कार्य शुरू किया था। इसी का यह परिणाम समझना चाहिये कि लाहौर से स्वनामधन्य स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त जी स्वामियों तथा अन्य आर्य पुरुषों की एक बड़ी संख्या के साथ इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिये जालन्धर पधारे थे। स्वर्गीय साईदास जी और हंसराज जी भी साथ मे आये थे। उत्सव का जालन्धर की जनता पर ऐसा असाधारण प्रभाव पड़ा कि उसकी कायापलट हो गई। उत्सव की एक सभा में पौराणिक पण्डित भी पधारे और उन्होंने बाल-विवाह के विरोध में भाषण तक दिये। आर्यसमाज के पण्डितों की विद्वत्ता और योग्यता की भी जनता पर धाक जम गई। पण्डित गुरुदत्त जी के व्याख्यानों का इतना प्रभाव पड़ा कि देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी सरीखे कट्टर भी बाल-विधवाओ

के विवाह के पक्ष में हो गये और वज़ीर कर्मसिंह सरीखे कट्टर मूर्तिपूजक ने मूर्ति-पूजा तक को तिलांजलि दे दी। आर्यसमाज के प्रभाव के साथ-साथ सभासदों की भी संख्या बढ़ी। नकोदर के जैन साधु पूज्य मुनिऋषि जी ने इसी उत्सव पर 13 पौष को आर्यसमाज मे प्रवेश किया, जिनका नाम ब्रह्मचारी ऋषि रखा गया।

मुंशीराम जी भी इस उत्सव से बहुत लाभ में रहे। उनके दो बड़े भाई और कई अन्य सम्बन्धी भी इसी उत्सव से प्रभावित होकर आर्यसमाज के सदस्य हुए, जिससे उनके लिये धर्म-प्रचार का मार्ग निष्कण्टक सा हो गया। घर वालों की ओर से पैदा होने वाली कठिनाइयाँ दूर हो गई। मुंशीराम जी ने लिखा है–"यह वार्षिकोत्सव मेरे लिये अनगिनत आशीर्वाद की वर्षा करके समाप्त हुआ।" इसी उत्सव से मुशीराम जी ने उपन्यासों का पढ़ना भी सदा के लिये बन्द कर दिया।

स्वर्गीय मनस्वी पण्डित गुरुदत्त जी के साथ घनिष्ठता होने का जो लाभ मुंशीरामजी को इस उत्सव से मिला, वह सबसे बडा लाभ था। मुंशीराम जी की पंजिका मे लिखा हुआ है कि पण्डित गुरुदत्त के सत्संग से इस बार मुझे बड़ा लाभ हुआ। जहाँ मैंने एक अपूर्व नया मित्र बनाकर धर्मप्रचार में नया उत्साह प्राप्त किया, वहॉ पण्डित गुरुदत्त के मेरे विषय में बहुत से सन्देह दूर हो गये और उनको मेरे साथ बहुत प्रीति हो गई। पण्डित गुरुदत्त को न जाने किसने यह विश्वास दिलाया था कि जालन्धर वालों की मेरे कारण ब्राह्मो स्पिरिट है। शायद उनको यह विश्वास इसलिये हुआ हो कि हम जालन्धरियों का व्यक्तिगत प्रेम कुछ ब्राह्मसमाजी भाइयों के साथ था और वे हमारे उत्सवों के संकीर्तन में सम्मिलित हुआ करते थे। पण्डित गुरुदत्त ने अपनी भूल मान कर जो दो शब्द कहे थे, उन्होने हम दोनों को हमेशा के लिये एक ग्रन्थी में बॉध दिया। पण्डित जी ने कहा था कि 'यदि मैं यहॉ न आता तो शायद हमेशा के लिये एक सहकारी को खो बैठता।' इस उत्सव के लिए पं. गुरुदत्त जी जितने दिन जालन्धर मे रहे, मुंशीराम जी के साथ ही रहे। अनेक व्यक्तिगत और सार्वजनिक विषयों पर दोनो में खूब विचार-विनिमय होता रहा।

उत्सव के बाद कुछ दिन सुस्ता कर मुंशीराम जी फिर धर्म-प्रचार के कार्य में लग गये। उत्सव पर जिस जैन-साधु ब्रह्मचारी ऋषि ने आर्यसमाज में प्रवेश किया था उसको आर्यसमाज के सिद्धान्तों से अवगत कराने और अन्य आर्य पुरुषों को सन्ध्या की विधि वग़ैरा बताने में भी मुंशीराम जी का कुछ समय प्रतिदिन लगने लगा।

आर्यसमाज के कार्य में इन दिनों में और अधिक उत्साह से लगने का एक

आकस्मिक कारण भी उपस्थित हो गया। श्री देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी कुछ उन्नत विचारों के होते हुए भी पौराणिक साथियों के उलहने सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने देवराज जी को लिखा कि यदि वे इसी प्रकार आर्यसमाज के काम में लगे रहना चाहते हैं तो बर्मा आदि की ओर चले जायँ, जालन्धर रह कर अपने पिता को मित्रों के उलहने सुनने का अवसर न दें। देवराज जी ने नैतिक बल और सत्साहस का परिचय दिया। घर की सब व्यवस्था और अपने सिपुर्द सब कामकाज का हिसाब ठीक करके डेढ़ सौ रुपया लेकर वे बर्मा जाने के लिये कलकत्ता चल दिये। पिताजी समझते थे कि धमकी काम कर जायगी और पुत्र समाज के काम से हाथ खींच लेगा। पर, जब देखा कि पुत्र ही हाथ से निकला जा रहा है, तब एक आदमी को मनाने और उनको वापिस लाने के लिये कलकत्ता भेजा। इस घटना का परिणाम देवराज जी के लिये बहुत शुभ हुआ। पिताजी समझ गये कि पुत्र दबने और सत्य के लिये उनकी भी परवा करने वाला नही। फलतः उनका मार्ग निष्कण्ट हो गया और उनमें अदम्य उत्साह का सचार हुआ। साथ ही पिताजी की दृष्टि में उनका गौरव भी बहुत बढ़ गया। देवराज जी की इस आकस्मिक अनुपस्थिति ने मुशीराम जी को दुगुने उत्साह के साथ काम करने के लिए प्रेरित किया। लोग उनकी अनुपस्थिति को अनुभव न करें, इसलिये मुंशीराम जी यथासम्भव अधिक समय देकर नगर में समाज के कार्य को पहिले से भी अधिक अच्छे रूप में करने लगे। सम्वत् 1946 मे नगर के सूदों के चौक मे 'सत्यार्थप्रकाश' की कथा भी आपने शुरू की। वेदमन्त्रो की पंजाबी भाषा में सुन्दर व्याख्या न सुन कर श्रोता मुग्ध हो जाते थे।

इन्हीं दिनो, सम्वत् 1945 के वैशाख मास में, आर्यसमाज के स्वर्गीय महोपदेशक प. पूर्णानन्द जी ने स्वामी रामानन्द जी की प्रेरणा से आर्यसमाज में प्रवेश किया था। लडकपन मे ही वे अपनी जन्मभूमि सिन्ध देश से निकल पडे थे और साधु-वेश में विद्याध्ययन की इच्छा से उन्होने सिन्ध से पजाब होते हुए काशी की यात्रा की थी। काशी मे उनको स्वामी रामानन्द जी के सत्संग का लाभ मिला। वही स्वामी रामानन्द जी ने साधु टीकमानन्द को स्वामी पूर्णानन्द बनाया और उसकी पढ़ाई का कुछ प्रबन्ध किया। इसी समय स्वामी रामानन्द जी के हृदय मे उपदेशक-विद्यालय खोलने का विचार पैदा हुआ। इसी विचार को लेकर वे स्वामी पूर्णानन्द के साथ जालन्धर आये और फिर लाहौर गये। स्वामी रामानन्द जी का यह पवित्र विचार ही पंजाब के आर्यसमाजों में गृह-कलह पैदा करने का कारण बना। जालन्धर मे मुंशीराम जी से और लाहौर में पण्डित गुरुदत्त

जी से उनको इस कार्य के लिये विशेष प्रोत्साहन मिला। जालन्धर-आर्यसमाज कुछ समय पहिले ही से 'उपदेशक-विद्यालय' खोलने की आवश्यकता अनुभव कर रहा था और होली के दिनों में आर्यसमाज में ही एक पाठशाला खोल भी दी गई थी। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मचारी मुनि-ऋषि निजी तौर पर मुंशीराम जी से वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। वे ही इस पाठशाला के पहिले विद्यार्थी हुए और मुंशीराम जी पहिले अवैतनिक अध्यापक। यह पाठशाला कुछ दिन चल कर बन्द हो गई। पर ऐसी ही योजना के लिये आन्दोलन करने को काशी से स्वामी रामानन्द जी और पूर्णानन्द जी के जालन्धर आने पर 'उपदेशक-विद्यालय' खोलने के विचार को विशेष बल मिला। पाठशाला के परीक्षण में असफल होकर भी जालन्धर के उत्साही आर्यसमाजी निराश नहीं हुए थे। उन्होंने 'दुआबा-उपदेशक-मण्डली' खोलने का विचार पक्का कर लिया था। स्वामी रामानन्द जी 'उपदेशक-विद्यालय' काशी में खोलना चाहते थे। पर, मुंशीराम जी की सलाह मान कर उन्होंने लाहौर में उक्त विद्यालय खोलना स्वीकार कर, जालन्धर को केन्द्र बना कर, उसके लिये घूमना भी शुरू कर दिया। अपने उद्योग से उन्होंने मासिक चंदे के रूप मे पर्याप्त धन और साधन जुटा लिये, किंतु इसी समय वे एकाएक इतने सख़्त बीमार हो गये कि उनके बचने की आशा नहीं रही। मुंशीराम जी के चिर-परिचित हकीम शेरअली के औषधोपचार से वे अच्छे तो हो गये, किंतु उसके बाद न मालूम कहाँ ग़ायब हो गये।

'उपदेशक-विद्यालय' तो न खुला, किन्तु आर्यसमाज को श्री पूर्णानन्द जी सरीखे उपदेशक का मिलना भी स्वामी रामानन्द के विद्यालय से होने वाले लाभ से कुछ कम लाभ न था। स्वामी पूर्णानन्द जी के सम्बन्ध में 17 आषाढ सम्वत् 1946 के 'सद्धर्मप्रचारक' मे लिखा है कि ''स्वामी पूर्णानन्द जी को जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से दर्शनों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये कपूर्थला भेजा गया।'' कपूर्थला मे पण्डित हरिकृष्ण जी दर्शनों के माने हुए पण्डित थे। स्वामी पूर्णानन्द जी उनके ही पास दर्शनों का अभ्यास करने गये थे। आर्यसमाज का रंग उन पर चढ चुका था। कार्तिक मास में उन्होंने वहाँ व्याख्यानो का सिलसिला शुरू किया और मुंशीराम जी को भी बुला भेजा। मुंशीराम जी को मिश्र अछरूमल, रियासत के एकाउण्टेण्ट-जनरल, का चैलेज मिला ही हुआ था। उनको कपूर्थला जाने की पहले सूचना भेज कर मुंशीराम जी 17 कार्तिक को कपूर्थला पहुँच गये। वहाँ उनकी गिरफ़्तारी का वारण्ट तो न निकला, किन्तु व्याख्यान में विघ्न डालने डलवाने मे कुछ भी कमी नही रखी गई। व्याख्यान के समय ठीक ऊपर से निशाना साध कर उन पर एक ईट

छोड़ी गई, पर वे अकस्मात् बच गये। ईंट उन पर न गिर कर ज़ोर से मेज़ पर जा गिरी। कपूर्थला में मिश्र अछरूमल के विरुद्ध आर्यसमाज की भारी विजय की यह घटना संकेतमात्र थी। इसके बाद भी मुंशीराम जी समाज के प्रचार के लिये कपूर्थला कई बार गये, पर मिश्र जी की धमकी ने कभी अपना रग नहीं दिखाया।

इन्हीं दिनों में मण्डी के राजा श्री विजयमोहन जी ने जालन्धर में आर्यसमाज और सनातधर्म के पण्डितों में धार्मिक मन्तव्यो के सम्बन्ध में कुछ विचार-विनिमय और शास्त्रार्थ भी कराया। सनातनर्ध की ओर से पटियाला के प्रसिद्ध राज-पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री को बुलाया गया था और आर्यसमाज की ओर से मुशीराम जी, देवगज जी तथा स्वामी पूर्णानन्द जी उपस्थित हुए थे। इसी सिलसिले में पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री और पण्डित आर्यमुनि जी मे 'वेद मे साकार पूजा है कि नहीं?' विषय पर शास्त्रार्थ हुआ, जिसका राजा साहब और नगर-निवासियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। शिकारपुर के पण्डित प्रीतमदेव शर्मा के साथ भी इन दिनो मे अच्छी मुठभेड़ हुई। शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ, किन्तु उसके व्याख्यानों का जो जवाब आर्यसमाज की ओर से दिया गया, उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर बहुत अच्छा पड़ा। आर्यसमाज के सभासदों की सख्या मे अच्छी वृद्धि हुई। मुंशीराम जी ने स्वामी पूर्णानन्द जी को साथ लेकर जालन्धर-छावनी और होशियारपुर तक प्रीतम शर्मा का पीछा किया और उसको अपने प्रदेश दुआबा मे कहीं पैर नहीं जमाने दिया। दुआबा के बाहर अमृतसर, लाहौर, लुधियाना आदि समाजो के उत्सवो पर भी मुशीराम जी जाते रहे। जालन्धर के चारो ओर दुआबा प्रदेश के किसी भी शहर या गॉव से समाचार आने की ही देर होती कि मुंशीराम जी तुरन्त वहॉ पहुँच जाते, चाहे पैदल ही चल कर क्यो न जाना पड़ता। राहो, नकोदर, नवांशहर, नूरमहल आदि में इन दिनो धर्म-प्रचार के निमित्त मुशीराम जी के कितने ही चक्कर लगे। इसी धर्म-प्रचार मे एक बार इक्के से ऐसे गिरे कि इक्का उलट कर उन पर आ पड़ा और माथे पर ऐसी चोट आई कि उसका निशान आजीवन बना रहा।

लाहौर वालो से निराश होकर अपने भरोसे शुरू किये गये धर्म-प्रचार का ही यह परिणाम हुआ कि इस वर्ष जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव पर 'दुआबा-गुरुदासपुर-उपप्रतिनिधि सभा' का संगठन किया गया। मुशीराम जी इस सभा के प्रधान बनाये गये और श्री रामकृष्ण जी मन्त्री। स्वामी पूर्णानन्द जी उपदेशक थे ही। मुशीराम जी से पढ़ने वाले ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी भी इस काम में लग गये। प्रचार का कार्य बड़े उत्साह और ज़ोर-शोर से होने लगा। 'दुआबा-उपदेशक

मण्डली' इस उपप्रतिनिधि-सभा में ही मिला दी गई। मुंशीराम जी ने दुआबा-गुरुदासपुर, विशेषतः जालन्धर के आर्य पुरुषों में धर्म-प्रचार के लिये इस प्रकार स्वावलम्बन तथा आत्मविश्वास की जो भावना पैदा की, वह निकट-भविष्य में आर्यसमाज के लिये एक बड़ी भारी शक्ति बन गई। इस शक्ति ने आर्यसमाज को सब प्रकार के आक्रमण सहन करने के योग्य बना दिया।

13. दो-तीन दुःसह वियोग

स्नेही-सम्बन्धियों की मृत्युओं का दुःख मनुष्य के लिये अत्यन्त दुःसह है। उसके धैर्य, साहस और आत्मविश्वास की परीक्षा प्रायः ऐसे ही अवसरों पर हुआ करती है। कभी-कभी तो उसके जीवन का समस्त क्रम ही ऐसी घटनाओं से बदल जाता है। मुंशीराम जी के लिये यह ऐसा ही अवसर था। देवराज जी के बड़े भाई श्री बालकराम जी पर मुंशीराम जी की पत्नी का अपने भाइयों मे सबसे अधिक प्रेम था। वैसे भी बालकराम जी मुंशीराम जी के आर्यसमाज के नाते एक सहकारी और अच्छे मित्र थे। मुंशीराम जी के उन पर बड़ा भरोसा और विश्वास था। सं. 1946 में जालन्धर में हैजे का भयानक आक्रमण हुआ, जिसमें श्रावण के अन्त में, 14 अगस्त, 1889 ईस्वी की रात को, श्री बालकराम जी का देहावसान हो गया। घर-भर में शोक की काली घटा छा गई। मुंशीराम जी की पत्नी शिवदेवी जी को असह्य दुःख हुआ। वे सदा उदास रहने लगीं। उनकी उदासी को दूर करने के लिये मुंशीराम जी ने सितम्बर की छुट्टियों में सपरिवार हरिद्वार की यात्रा की। वहाँ कुछ समय बिताने के बाद परिवार को घर भेज दिया और स्वयं मेरठ की ओर बहादुरगढ़ में थानेदारी करने वाले भाई से मिलने गए। हरिद्वार में आप कपूर्थला की हवेली में ठहरे। अपने को स्पष्टतया आर्यसमाजी बताने पर भी पण्डे ने आ ही घेरा और बोला–'मुझको तो सेवा करनी है, आप चाहे कुछ देना या न देना।' पण्डे की सेवा से सन्तुष्ट होकर चलते समय मुंशीराम जी ने उसको 5) इनाम के तौर पर दिए और समझे कि सौदा सस्ते में ही पट गया। पर, पंडे जी घाटे में रहने वाले नहीं थे। वे 5) शिवदेवी जी से भी वसूल कर लाए और अपनी बही सामने रख कर बोले–"यजमान! आप आर्यसमाजी हैं तो हम भी आप से मूर्तिपूजा करने के लिए नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिए कि इस यात्रा में मैंने आपकी सेवा की है।" मुंशीरामजी ने लिख दिया–"मै सैर के लिए हरिद्वार आया, यदि यहाँ पण्डे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीय और निवास के

योग्य है।" वहाँ से भाई साहब को मिलने जाने की मेरठ की निजी यात्रा में भी धर्म-प्रचार की धुन नहीं छूटी। जाते हुए मेरठ मे धर्मोपदेश दिया और लौटते हुए दो व्याख्यान दिए। बहादुरगढ़ में भी 28 और 29 भाद्रपद, 13 और 14 सितम्बर, को दो व्याख्यान दिए। उस समय के आर्यसमाजियों की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालने वाली एक घटना का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। मुंशीराम जी के उपदेश के बाद अधिवेशन की समाप्ति पर उस समय की प्रथा के अनुसार एक वेदमन्त्र का पढ़ा जाना आवश्यक था। समाज के पण्डित जी किसी कार्यवश उस समय उपस्थित न थे। सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे, तब एक सज्जन ने कहा—'चन्द्रभानु जी! आप भी तो ब्राह्मण हैं, आप ही मंत्र बोल दीजिये।' यह मेरठ के उस आर्यसमाज की अवस्था थी, जो कि अपने जिले में एक प्रमुख समाज समझा जाता था। मुंशीराम जी ने पंजाब की भजन-कीर्तन की प्रथा को वहाँ चालू करना चाहा, किन्तु आर्य-युवक हारमोनियम पर हाथ रखते हुए भी शरमाते थे। दो-एक दिन की इस यात्रा मे हो भी क्या सकता था?

अभी बालकराम जी की मृत्यु का घाव सूखा भी न था कि 5 चैत्र सम्वत् 1946, 19 मार्च, 1890 ई., को स्वनामधन्य पण्डित गुरुदत्त जी का भी कुछ लम्बी बीमारी के बाद देहान्त हो गया। पण्डित जी मुंशीराम जी के स्वाध्याय के पथ-प्रदर्शक थे और उनका जीवन उनके लिए दिव्य आत्मिक ज्ञान उपलब्ध करने का साधन था। आर्यसमाज की गृह-कलह का श्रीगणेश पण्डित गुरुदत्त जी के उग्र आर्यसमाजी विचारों के कारण ही हुआ था, किन्तु उनके दल की ओर से उनके रहते हुए ही कलह का सब भार मुंशीराम जी पर आ पड़ा था। इसका प्रधान कारण यह था कि दोनों के विचार, वृत्ति और आदर्श बिलकुल एक थे। दोनों स्वामी दयानन्द को निर्भ्रात मानते थे। दोनों की उनमें अटल श्रद्धा थी। आर्यसमाज के काम के लिए दोनो ही पूरे 'मिशनरी' थे। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' की सचाई दोनो पर पूरी तरह चरितार्थ होती थी। व्यक्तिगत जीवन में ऐसे अभिन्न-हृदय तथा एकनिष्ठ बन्धु और सार्वजनिक जीवन मे प्रकाश-स्तम्भ के समान पथ-प्रदर्शक नेता की बीमारी के समाचार ने मुंशीराम जी को बहुत विक्षुब्ध कर दिया था। उनका कुशल-समाचार जानने और औषधोपचार को योग्य व्यवस्था करने के लिये मुंशीराम जी प्रति सप्ताह लाहौर जाया करते थे। जालन्धर से हकीम शेरअली को भी पण्डित जी के इलाज के लिये मुंशीराम जी ने भेजा था। हकीम की औषधि के चमत्कार पर मुग्ध होकर पण्डित जी ने जालन्धर आने की पूरी तैयारी भी कर ली थी, कितु सहसा फिर बीमार पड़ गये। बस, यही बीमारी उनको इस

संसार से उठा ले गई। मुशीराम जी के लिये पण्डित जी का देहान्त था तो असह्य, कितु उन्होने इस वियोग को बड़ी हिम्मत के साथ सहन किया और पण्डित जी के अधूरे मिशन की पूर्ति का काम पूरी सचाई के साथ अपने कन्धो पर उठा लिया। उन्होंने स्वयं ही लिखा है--"यद्यपि पण्डित गुरुदत्त जी की बीमारी की चिन्ता अधिक थी, किन्तु इससे धर्म के कार्यो मे शिथिलता नहीं आती थी। इन्हीं दिनों मे वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचाने का मैंने दृढ़ व्रत धारण किया था।" कहना न होगा कि मुंशीराम जी ने इस दृढ़ व्रत को पूरी दृढ़ता तथा सचाई के साथ निबाहा और इसी रूप में पण्डित जी के असह्य वियोग की मर्मान्तिक वेदना को सहन किया।

पण्डित गुरुदत्त जी के इस वियोग की वेदना ने बालकराम के देहान्त से हुए घाव पर नमक छिड़कने का काम किया था, तो साईदास जी के देहावसान ने मानों उस पर लाल मिर्च छिड़क दीं। 30 ज्येष्ठ सम्वत् 1947, 13 जून, 1890 ई., को वे भी इस संसार से चल दिए। साईदास जी के पास न तो कोई बहुत धन-सम्पत्ति थी और न यूनिवर्सिटी की कोई डिगरी ही। फिर भी आर्यसमाज के वे माने हुए नेता थे। न केवल लाहौर, किन्तु समस्त पंजाब के आर्य पुरुष उनके अनुभव से लाभ उठाया करते थे। उनमें सादगी, सच्चरित्रता और मिलनसार स्वभाव आदि ऐसे सद्गुण थे कि उनके कारण वे दूसरो को अपनी ओर सहसा आकर्षित कर लेते थे। आर्यसमाज में उनकी निष्ठा बहुत गहरी थी। हसराज जी और लाजपतराय जी सरीखो को घेर कर ब्राह्मसमाज से आर्यसमाज में लाने तथा पण्डित गुरुदत्त जी और मुशीराम जी सरीखो को नास्तिकता के गहरे अन्धकारमय गढे मे से उभार कर आस्तिकता की चोटी पर पहुँचाने वाले साईदास जी ही थे। ऐसे पथ-प्रदर्शक का उठ जाना भी मुशीराम जी के लिये कुछ कम दु.खजनक नही था। ऐसे साथियों को खोकर साधारण मनुष्य का हृदय टूट जाता है, किन्तु मुंशीराम जी ने इस समय असीम साहस का परिचय दिया। आर्यसमाज के सब काम की जिम्मेवारी को उन्होंने अपने ऊपर उठा लिया और पूरे उत्साह के साथ उसको निभाया। मुंशीराम जी की इस कर्तव्यपरायणता का ही यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि आर्यसमाज मे जिस गृह-कलह का सूत्रपात लाहौर मे हुआ था, उसमे जालन्धर के आर्य-पुरुषों का मुख्य हाथ रहा और जिसको महात्मा-पार्टी या घास-पार्टी कहा गया, उस प्रमुख-दल के नेतृत्व की बागडोर सहज में ही मुशीराम जी के हाथों मे ऐसे चली आई, जैसे कि पण्डित गुरुदत्त जी के बाद नेता के अभाव की पूर्ति करने के लिये ही उनको आर्यसमाज मे प्रवेश करने के लिये कोई दैवी प्रेरणा हुई थी।

(घ)

आर्यसमाज का नेतृत्व

1. महात्मा मुंशीराम, 2. 'सद्धर्म प्रचारक', 3. हरिद्वार में कुम्भ पर प्रचार, 4. स्त्री-शिक्षा की लगन, 5. धर्मपत्नी का देहान्त, 6. आर्यसमाज में गृह-कलह, 7. आर्य पथिक का बलिदान और उसका क्षणिक प्रभाव, 8. प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद का दायित्व, 9. प. गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ और मुक़दमा, 10. गुरुकुल का स्वप्न।

1. महात्मा मुंशीराम

मुंशीराम जी के आर्यसमाज में प्रवेश करने पर स्वर्गीय साईदास जी ने उनके सम्बन्ध मे जो सन्दिग्ध-सी भविष्यवाणी की थी, उसको पूरा होते हुए वे नहीं देख सके, तो भी उसका कुछ आभास उन्हें मिल गया था। सम्वत् 1946 के माघ मास में जालन्धर मे लाहौर-आर्यसमाज के सनातनधर्म-सभा से पराजित होने के सम्बन्ध मे नाना तरह के समाचार फैल रहे थे। मुंशीराम जी ने उन पर विश्वास नही किया, तो भी आर्य भाइयों ने उनसे आग्रह किया कि वे लाहौर जाकर सब सत्यता मालूम करे। 19 माघ, 1 फ़रवरी सन् 1889, की रात को आप लाहौर चल दिये और अगले दिन सवेरे लाहौर पहुँच कर वहाँ के आर्य पुरुषों से आग्रह किया कि फैली हुई किम्वदन्तियों के असत्य होने पर भी उनका खंडन करने के लिये आर्यसमाज-मन्दिर मे कुछ विशेष व्याख्यानो का आयोजन किया जाना चाहिये। व्याख्यानो की व्यवस्था की गई और सनातनधर्म-सभा की ओर से फैलाई गई गप्पो का खण्डन किया गया। दूसरे दिन साईदास जी के यहाँ कुछ स्वामी लोग और आर्य नेता एकत्र हुए। आर्यसमाज की कार्य-शैली पर बहुत देर तक विचार-विनिमय होता रहा। मुंशीराम जी ने उस सभा में लकीर की फकीरी से ऊपर उठ कर, जन्मगत जातिभेद की सीमा लाँघ कर, गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था कायम करने और उसके अनुसार विवाह-सम्बन्ध करने का विषय उपस्थित किया। इस सभा में साईदास जी के अलावा हंसराज जी, मुल्कराज जी आदि भी उपस्थित थे। वे सब यह बात सुनकर स्तम्भित से रह गये। साईदास जी ने उसी समय से मुशीराम जी को अत्यन्त उग्र वृत्ति का क्रांतिकारी कहना शुरू कर दिया था। 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र शुरू करने का जो विज्ञापन छपवा कर बांटा गया था, उसको देख कर साईदास जी की आपके सम्बन्ध में यह सम्मति और भी अधिक दृढ़ हो गई थी। उससे तो उन्होंने सब जालन्धरियों को ही 'एक्स्ट्रीम रेडिकल पार्टी' वाले कहना शुरू कर दिया था। इस समय के आर्य नेता और आर्य-भाई यह समझने लग गये कि मुंशीराम जी धर्म

के सिद्धान्तों में समझौते के सर्वथा विरोधी हैं। वस्तुतः सिद्धान्त में समझौता न करने की वृत्ति ही मुंशीराम जी के जीवन की सफलता का सार है। स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त जी की सत्संगति से इस वृत्ति को और भी अधिक बल मिला। पण्डित जी स्वयं इस वृत्ति के थे। उनके स्वभाव में राज़ीनामा करने की गन्ध तक नहीं थी। इस वृत्ति के अलावा नेता में जो और सद्‌गुण होने चाहिये, प्रायः वे सब मुंशीराम जी में बीज-रूप में विद्यमान थे। अनुकूल अवस्था पाकर वे सब खिलते चले गये। अपने काम मे और विचारों में वे बहुत दृढ थे। दूसरों पर विश्वास करने में कभी संकोच नहीं करते थे। अतिथियों का सत्कार सदा ही खुले हाथों किया करते थे। बात-चीत में बहुत साफ़ और खुले थे। सांसारिक दृष्टि से सब प्रकार साधन-सम्पन्न थे। न किसी की नौकरी के आश्रित थे और न ऐसे किसी दूसरे ही बंधन में फॅसे हुए थे। धर्म-प्रचार की धुन में उस समय भी उनका मुक़ाबला कोई नहीं कर सकता था। सेवा की भावना उनमे पूरी तरह समाई हुई थी। व्याख्याता भी पहिले दर्ज़े के थे। लोकसंग्रह की शक्ति भी उनमें कुछ असाधारण थी। स्वभाव से ही कुछ आंदोलनकारी भी थे। विरोध में उनका उत्साह दुगुना हो जाता था। केवल एक समाचार-पत्र की आवश्यकता थी। उनको भी उन्होंने शीघ्र ही पूरा कर लिया था। आर्यसमाज-जालन्धर का प्रधान-पद मुंशीराम जी के लिये कुछ ऐसा मुबारिक हुआ कि पंजाबभर में वे, आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्षो तक प्रधान रहने के कारण, चिरकाल तक 'प्रधान जी' के नाम से पुकारे जाते रहे। उनके दल का नाम उनके पीछे महात्मा-दल हुआ और अपने दल के नेता होने के बाद से सन्यास-आश्रम मे प्रवेश करने के समय तक उनको 'महात्मा जी' ही कहा जाता रहा। उनके जीवन के दूसरे हिस्से का यह अन्तिम भाग इसी अलौकिक उत्कर्ष की शिक्षाप्रद और उत्साहदायक कहानी है। पानी की तेज़ धारा को सीधा चीर कर पार जाने वाले शेर के समान मुंशीराम जी इस उत्कर्ष की ऊँची चोटी पर सासारिक विघ्न-बाधाओ की कुछ भी परवा न कर सीधे चढते चले गये। उत्कर्ष की इस कहानी का चमकीला पहलू यह है कि उन्होंने घोर निराशा तथा भयंकर विरोध के बीहड़ जगलों में रास्ता ढूँढने अथवा उसको बनाने का सब काम स्वयं किया। ऋषि दयानन्द के जीवन और उनके ग्रन्थों से मिलने वाली स्फूर्ति का सदा सत्कार किया। उस स्फूर्ति से पैदा होने वाली अन्तरात्मा की पुकार का कभी तिरस्कार नही किया। एक बार आगे बढ़ाये हुए पैर को कभी पीछे नहीं लिया। सत्य की चट्टान पर अंगद के अंगूठे की तरह ऐसे टिक गये कि संसार की कोई भी शक्ति उससे उनको विचलित नहीं कर सकी।

2. 'सद्धर्म-प्रचारक'

मुंशीराम जी के सार्वजनिक जीवन का पहला विश्वासपात्र संगी 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र है, जिसने बहुत लम्बे समय तक उनका साथ दिया और उनके सार्वजनिक कार्यो में उनका पूरा हाथ बॅटाया। मुंशीराम जी को आर्यसमाज का अप्रतिद्वन्द्वी नेता बनाने मे 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र का बहुत बडा हिस्सा है और उनके द्वारा होने वाली आर्यसमाज की सेवा का वह प्रधान साधन रहा है।

मुंशीराम जी का पत्र निकालने की व्यक्तिगत इच्छा के अलावा उस समय जालन्धर-आर्यसमाज का काम भी खूब बढ़ रहा था। जालन्धर शहर और उसके आसपास भी प्रचार की धूम मची हुई थी। शास्त्रार्थो का सिलसिला भी जारी था। इस सब कार्य के और विशेष कर शास्त्रार्थो की प्रामाणिक रिपोर्ट सर्वसाधारण तक पहुॅचाने के साधन की आवश्यकता प्रायः सभी आर्य भाई अनुभव कर रहे थे। भाषणो द्वारा होने वाले प्रचार को समाचार-पत्र के बिना सुदृढ़ नही किया जा सकता था। जालन्धरी-आर्यसमाजियो की वृत्ति भी दूसरों से कुछ भिन्न थी। इस भिन्न मनोवृत्ति के कारण भी स्वतन्त्र पत्र निकालने की अभिलाषा उनमे जोर पकडती जा रही थी। इस परिस्थिति मे मुंशीराम जी के हृदय में जो भाव पैदा हुए उनके सम्बन्ध मे उन्होंने स्वय लिखा है कि "मुझे इन दिनों में अपने विचार सर्वसाधारण तक पहुॅचाने के लिये किसी साधन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्मा ने मार्ग दर्शा दिया। ऋषि-उत्सव, सम्वत् 1945 की दिवाली के अगले दिन, के दूसरे दिन ही 'सद्धर्म-प्रचारक' उर्दू पत्र के निकालने का विचार दृढ़ हो गया।"

मुशीराम जी के प्रेस और समाचार-पत्र निकालने का विचार प्रकट करते ही सबने उसका हार्दिक स्वागत किया। कपूर्थला और होशियारपुर के आर्य भाइयों ने भी उसमे हाथ बॅटाया। मित्रों की एक कम्पनी क्या मण्डली ने पच्चीस-पच्चीस रुपए के सोलह हिस्से आपस में बॉट लिये। मुंशीराम जी ने दो हिस्से लिए।

2 फाल्गुन सम्वत् 1945, 14 फरवरी, 1889 ई., को हिस्सेदारों की सभा होकर निश्चय हुआ कि प्रेस का नाम 'सद्धर्म-प्रचारक' रखा जाय और इसी नाम से डेमी छोटे आठ पृष्ठों का उर्दू में साप्ताहिक पत्र पहली वैशाख सम्वत् 1946 से निकालना शुरू कर दिया जाय। मुंशीराम जी और देवराज जी पत्र के संयुक्त-सम्पादक नियुक्त किये गये और मुंशीराम जी पर ही मैनेजरी का सब काम डाला गया। कचहरी में डिक्लेरेशन देकर कपूर्थला के गोविन्दसहाय जी को पचास रुपये पेशगी देकर प्रेस का सौदा तय करने को कहा गया। पत्र की नीति सम्पादकों पर छोड़ दी गई। हिस्सेदारों ने उसमें हस्तक्षेप करने का विचार पहले से ही छोड़ दिया। यह सब निश्चय होने के दूसरे ही दिन सब क़ानूनी कार्रवाई कर ली गई और तीसरे दिन, 4 फाल्गुन को, मुंशीराम जी ने पत्र की आवश्यकता तथा नीति आदि के सम्बन्ध में एक विज्ञापन-पत्र तैयार करके अपने ही प्रेस में उसे छपवा दिया, जिसको आर्यसमाजी नेताओं तक ने क्रान्तिकारी बताया था।

वैशाखी के आनन्दोत्सव के शुभ दिन सम्वत् 1946 में 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र का जन्म हुआ। थोड़े ही समय में यह नवजात शिशु एक बड़ी शक्ति बन गया। आर्यसमाज में इस समय भी ऐसे लोग कुछ कम नहीं हैं, जिन्होंने 'सद्धर्म-प्रचारक' के पहिले अंक से उस अक तक उसका बराबर स्वाध्याय किया है, जब तक कि उसके सम्पादक मुंशीराम जी रहे। ऐसे घर भी आर्यसमाज में कुछ कम नहीं हैं, जिनमें 'सद्धर्म-प्रचारक' की पूरी फ़ाइल को धार्मिक पुस्तकों के समान संग्रह करके रखा जाता था। पुरानी फ़ाइल को पढ़ने के बाद आज भी यह कहा जा सकता है कि 'प्रचारक' के जन्म से आर्यसमाज में एक नया उत्साह पैदा हुआ था, उसमे नये भावों का सचार हुआ था और उसने आयुभर समाज के लिये पथ-प्रदर्शक का काम दिया था। संकट में वह समाज का सच्चा हितैषी सिद्ध हुआ था, संघर्ष में उसने वीर योद्धा का काम दिया था, घोर निराशा में उसने दृढ़ तथा बलवती आशा का संचार किया था और कितने ही भटकते हुओं को उसने सन्मार्ग पर लगाया था। गहन ग्रन्थों की पिटारियों में बन्द सिद्धान्तों के सुनहरे आभूषणों से समाज के शरीर को अलंकृत करने की चेष्टा मे वह निरन्तर रत रहा था। आर्य-जगत् को भ्रातृभाव की एक माला में पिरो कर उनमें 'संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्' के वैदिक आदर्श को स्थापित करने का यशस्वी कार्य किया था। धर्म-मार्ग पर चलते हुए उसने कभी कोई कमज़ोरी नहीं दिखाई, पाप के साथ कभी समझौता नहीं किया, भय के कारण अपने मार्ग से वह कभी विचलित नहीं हुआ, लोभ-लालच में फँसकर वह कभी दबा नहीं और बड़े से बड़े का भी कभी उसने रौब-दबाव

नहीं माना। समाचार-पत्र की सम्पादकीय ज़िम्मेवारी निभाने में उसने दूसरों पत्रों के सामने भी एक आदर्श उपस्थित किया। समाचार-पत्रों की उस समय की प्रचलित लेखन-शैली को उसने बदल दिया। गन्दे विज्ञापन, ओछी भाषा, कमीने आक्षेप और व्यक्तिगत निन्दा उस समय सम्पादकीय धन्धे की सफलता के प्रधान साधन माने जाते थे। 'प्रचारक' इन सबसे सदा ही यत्नपूर्वक बचता रहा। सारांश यह है कि उसने सच्चा उपदेशक और निर्भीक आन्दोलक बन कर अपने नाम के दोनो शब्दो को सार्थक कर दिखाया। 'प्रचारक' का इतना सफल सम्पादन मुंशीराम जी के जीवन का एक ऐसा यशस्वी, महान् और सफल कार्य है कि वह आज भी समाचार-पत्रों की सम्पादकी का शौक़ रखने वालों के लिये आदर्श हो सकता है।

'प्रचारक' किसी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा अथवा कोरी साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर नहीं निकाला गया था। उसको निकालने की अभिलाषा के पीछे अदम्य उत्साह, उच्चतम भावना और अभिनव स्फूर्ति छिपी हुई थी। इसीलिये सर्वसाधारण के हृदयों में अपना स्थिर स्थान बनाने में उसको अधिक समय नही लगा। आठ पृष्ठों के छोटे डेमी माइज से शुरू किये गये पत्र को दो ही मास बाद बारह पृष्ठ का करना पडा। दूसरे वर्ष के शुरू में सोलह पृष्ठ किये गये। सम्वत् 1948 मे पत्र 20 पृष्ठ का निकलने लगा। सम्वत् 1950 में आकार भी दुगुना कर दिया गया। फिर 1953 में अमर-शहीद प. लेखराम जी की स्मृति मे 'आर्यमुसाफ़िर' के नाम से चार पृष्ठ और बढाये गये। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह पत्र दिन प्रतिदिन लोकप्रियता की दृष्टि से भी उन्नति करता चला। किसी भी एक अक को हाथ मे लेकर पन्ने उलटते ही प्रचारक का रूप-रग और रीति-नीति तुरंत समझ मे आ जाती है। पहले ही अंक से ज़ोरदार, स्पष्ट और निर्भीक लेख तथा टिप्पणियॉ निकलने लगी। स्त्रियो के समानाधिकार और शिक्षा के लिये समान अवसर तथा साधन पैदा करने के लिये भी 'प्रचारक' ने शुरू से ही कुछ ऐसा आन्दोलन किया, जैसे कि उसका जन्म ही उसके लिये हुआ था। इसी आन्दोलन के लिये 'अधूरा इसाफ' शीर्षक से शुरू की गई लेखमाला लगभग आधी शताब्दी बीत जाने के बाद आज भी स्त्रियो के आन्दोलन के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है। 'प्रचारक' की ऐसी लेखमाला और आन्दोलन का ही परिणाम जालन्धर-स्थित पजाब का सुप्रसिद्ध 'कन्या महाविद्यालय' है। पहिले वर्ष में 'प्रचारक' में 205 सम्पादकीय लेख, 36 विशेष लेख, 45 समालोचनात्मक लेख, 5 जीवन-चरित्र और 52 वेदमन्त्रों की व्याख्या दी गई थी। सम्पादकीय और विशेष लेखो मे आर्यसमाज

के सामयिक प्रसगों और विषयों की चर्चा के अलावा स्त्री-शिक्षा, ज़नाना बोर्डिंग हाउस फिरोज़पुर, उपदेशकों की आवश्यकता, दुआबा-उपदेशक-मण्डली तथा दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-कालेज के सम्बन्ध मे चर्चा की गई थी। यह कह कर कि 'मैंने संसार से संन्यास लिया है, स्त्री और बच्चो से नहीं' भगवां धारण कर स्वामी सत्यानन्द बनने वाले 'देवसमाज' के संस्थापक पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री और पंजाब में चार घोड़ों की गाड़ी में राजसी ठाठबाट से दौरा करते हुए धर्मोपदेशो द्वारा विपुल धन-समपत्ति जमा करने वाले साधु केशवानन्द की भी इस वर्ष के अकों मे विशेष चर्चा की गई थी और उन द्वारा आर्यसमाज पर किये जाने वाले आक्षेपों का भी निराकरण किया गया था। जीवन-चरित्रों में वीर-बालक हक़ीक़तराय, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्दसिंह तथा उनके बच्चों के धर्म पर हुए बलिदान का सुन्दर और भावपूर्ण वर्णन है। वेदमन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त 'सच्चा यज्ञ' शीर्षक से आर्य जीवन के आदर्श के सम्बन्ध मे भी एक सुन्दर लेखमाला का पहिले वर्ष में समावेश है। जन्मगत जात-पांत के विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था क़ायम करने पर भी ज़ोरदार लेख हैं। आर्यसमाज के आचारहीन धनी पदाधिकारियों को भी जगह-जगह पर सावधान किया गया है और आवश्यकतानुसार दूर-दूर के समाजों को भी उचित परामर्श दिया गया है। दूसरे वर्ष में स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-समाज में सुधार, उपदेशक क्लास तथा उपदेशकों के आचरण के सुधार, दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-कालेज तथा उसमें आर्ष ग्रन्थों के प्रचार, दुआबा-उपदेशक-मण्डली, अनाथ बच्चों की रक्षा तथा आर्य भाइयो में पारिवारिक उपासना शुरू करने की आवश्यकता और देवसमाज द्वारा स्वामी जी के वेदभाष्य पर किये गये आक्षेपों के निराकरण के सम्बन्ध में विशेष लेख है। इनके अलावा समाज-सुधार की बहुत साधारण समझी जाने वाली छोटी-छोटी बातों की भी इस वर्ष में विशेष चर्चा की गई है। छोटी अवस्था में विवाह से बहुत पहले होने वाली सगाई की प्रथा, स्त्रियो मे बाल गूँथने की रीति, विवाह पर चूडा पहिनने के रिवाज, साया-चिट्ठी लिखने की परम्परा और 'जो राजा नाई कहे सो प्रमाण' मानने के व्यवहार को बन्द करने पर कई जगह बहुत ज़ोरदार नोट लिखे गये है। स्त्रियों की वेश-भूषा को सुधारने का आन्दोलन भी शुरू किया गया है। आर्यसमाज मे गृह-कलह का श्रीगणेश इस वर्ष से ही हो जाता है। इसलिये मांस-भक्षण के विरोध में पहिला लेख इसी वर्ष 14 पोष के अंक मे निकलता है और दयानन्द ऐंगलो-वैदिक-कालेज के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में भी इस वर्ष के अंकों से विशेष चर्चा शुरू हो जाती है। वैदिक विद्वत्ता के सूर्य स्वनामधन्य पण्डित गुरुदत्त जी और लाहौर-समाज के

जीवन-स्रोत श्री साईदास जी का देहान्त इसी वर्ष में होता है। इसलिये उनके सम्बन्ध में रुलाने वाले मार्मिक लेख भी इस वर्ष की फ़ाइल में हैं। हरिद्वार के कुम्भ पर किया गया सफल प्रचार 'प्रचारक' की इस वर्ष की अपीलों का ही शुभ परिणाम था। तीसरे वर्ष में दयानन्द ऐंगलो-वैदिक कालेज में आर्ष ग्रन्थों की पढाई की चर्चा और मांस-भक्षण के विरोध में लेख तो रहते ही हैं, किंतु आर्य पुरुषों से आचरण-शुद्धि के लिये अपील की जाती है और स्त्री-शिक्षा तथा उपदेशक-पाठशाला का आन्दोलन निरन्तर जारी रहता है। बालकों के अभिभावकों से अपील की जाती है कि वे अपने बालको को रासलीला के उस बुरे प्रभाव से बचावें, जिसका परिणाम उनके आचरण तथा स्वास्थ्य दोनों के लिये ही घातक होता है। स्त्रियों को भी उससे बचाने के लिये कहा गया है, क्योंकि इससे इनमें मूढ़ अन्धविश्वास और अधिक गहरी जड़ पकड़ते हैं। स्त्रियों में प्रचलित गीतों की गंदगी को भी दूर करने पर ज़ोर दिया गया है। भगवे कपड़े वाले साधुओं से बचने की सलाह दी गई है। प्रचलित जन्मगत छूत-छात को खान-पान तक में से दूर करने की आवश्यकता पर भी एक सुन्दर भावपूर्ण टिप्पणी है। ब्रह्मचर्य पर भी एक अच्छा लेख है। इन सबसे महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि 'देवनागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा' को तमाम देश की भाषा बनाना आर्यसमाजियों का कर्तव्य बताया गया है और उस कर्तव्य-पालन के लिये उनसे आग्रह किया गया है। चौथे और पॉचवे वर्ष मे गृह-कलह सम्बन्धी लेखों की भरमार होने पर भी स्त्री-शिक्षा के आदर्श से 'प्रचारक' च्युत नहीं हुआ। शुरू सावन की संख्या मे स्त्री-शिक्षा पर एक जोरदार लेख पढ़ने को मिलता है। आर्य पुरुषो से विवाह-सम्बन्ध का क्षेत्र यूरोप और अमेरिका तक बढ़ाने के लिये कहा गया है। धार्मिक प्रश्नोत्तरो के लिये एक विशेष कालम खोला गया है, जिसमे जिज्ञासु सज्जनों की धार्मिक शंकाओं को दूर करने का उपक्रम बॉधा गया है। विवाह पर कराये जाने वाले नाच आदि को बन्द करने का भी आन्दोलन किया गया है। शिक्षित आर्यसमाजियों की कमजोरियों की इन अकों में कुछ कड़ी आलोचना पढने में आती है। उसका कारण यह बताया गया है कि शिक्षित होने से उनकी कमजोरियों को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि दूसरों पर भी उनका बुरा प्रभाव पडता है। धनी आर्य पुरुषों मे नाच और शराब की प्रचलित प्रवृत्ति की तीव्र निन्दा की गई है। किसी आर्य पुरुष के पिण्डदान करने की व्यक्तिगत कमज़ोरी को असह्य बताया गया है। हिंदी को अदालती भाषा बनाने पर भी एक लेख में जोर दिया गया है।

'प्रचारक' के पहिले पाँच वर्ष के जीवन के सम्बन्ध में इतना खोल कर

इसीलिये लिखा गया है, जिससे पता लग सके कि मुंशीराम जी के दिल में उन दिनों, आज से लगभग आधी शताब्दी पहिले, क्या प्रवृत्ति काम कर रही थी और उनके दिमाग़ में कौन-से विचार रात-दिन घूमा करते थे। साथ ही यह भी पता लग जाता है कि 'प्रचारक' को जिस महान् उद्देश्य और विशाल दृष्टि से निकाला गया था, उसी को सामने रखकर उसका सम्पादन तथा संचालन होता था। उसके प्रकाशन का स्थान बदल गया, उसका बाह्य रूप-रंग भी सदा ही बदलता रहा और आगे चल कर उसका चोला भी बिलकुल बदल गया, किन्तु उसका वह अन्तरात्मा कभी नहीं बदला, जिसकी कुछ हलकी-सी छाया ऊपर के विवेचन मे देखी जा सकती है। सम्पादकीय लेख के अलावा वेदमन्त्र की व्याख्या--जिसको साप्ताहिक स्वाध्याय कहना चाहिये, संसार की गति--जिसको साप्ताहिक प्रगति का सम्पादकीय विवेचन कहना अधिक उचित होगा, सामाजिक-समाचार—आर्यसमाज की गति-विधि की रिपोर्ट आदि कुछ ऐसे शीर्षक थे, जो 'प्रचारक' में शुरू से अन्त तक बने रहे।

पहिले दो वर्ष तक 'प्रचारक' मित्रमण्डली की ही सम्पत्ति रहा। घाटा आने पर प्रति हिस्सा 15) और बढ़ाया गया। इस पर भी काम घाटे पर चलता देख कर मुंशीराम जी ने हिस्सेदारों को रुपया देकर प्रेस और पत्र अपने कर लिये। कुछ हिस्सेदारों ने अपना रुपया वापिस नहीं लिया। हरिद्वार-कांगडी में गुरुकुल खुलने के बाद जब मुंशीराम जी वहाँ चले गये, तब 5 पौष सम्वत् 1959 विक्रमी, 19 दिसम्बर, 1902 को प्रेस और 'प्रचारक' हरिद्वार ले जाये गये। 14 माघ, 28 नवम्बर, को जालन्धर से 'प्रचारक' का अन्तिम अक निकला। कुछ समय बाद मालूम होता है कि 'प्रचारक' फिर जालन्धर चला आया, क्योंकि 18 फाल्गुन 1963, 1 मार्च, 1907, को जब 'प्रचारक' एकाएक अपना चोला बदल कर उर्दू से हिंदी में निकलना शुरू हुआ, तब वह गुरुकुल कागडी से ही निकला और प्रेस का सब सामान जालन्धर से हरिद्वार लाने का उक्त अक मे उल्लेख है। 1 कार्तिक 1969, 16 अक्तूबर 1912, को 'प्रचारक' का अन्तिम अक गुरुकुल से निकल कर 15 कार्तिक से उसका प्रकाशन देहली से होना शुरू हुआ। उसी समय उससे 500) की ज़मानत भी माँगी गई। उस समय 'प्रचारक' को देहली ले जाने का कुछ कारण था। सम्वत् 1969 के कार्तिक मास के लगभग 'प्रचारक-प्रेस' में अकस्मात् आग लग गई। लकड़ी का सब सामान जल कर राख हो गया। टाइप पिघल कर बह गया। काग़ज का बड़ा भण्डार भी आग की भेंट हो गया। मशीनरी के लोहे के अस्थिपंजर को छोड कर बाकी कुछ नहीं बचा। संयुक्त प्रांत में उस समय यह

प्रेस पहिली श्रेणी के प्रेसों मे समझा जाता था। इस दुर्घटना के बाद एक बार तो प्रेस और पत्र दोनों का ही भविष्य अन्धकारमय हो गया। सम्वत् 1965 के श्रावण मास में मुंशीराम जी ने अपना यह प्रेस गुरुकुल कांगडी की स्वामिनी सभा 'आर्य प्रतिनिधि-सभा पंजाब' के अधीन कर दिया था। आग की भयानक हानि को असह्य मान कर और उसमे फिर से रुपया लगाकर गुरुकुल के जगलो में शीघ्र उसके स्वावलम्बी बनने की कोई आशा न देखकर उसकी स्वामिनी सभा ने उसको देहली भेज दिया। सहगामिनी पत्नी के समान पत्र को भी प्रेस के पीछे-पीछे देहली जाने के लिये बाधित होना पडा। सम्वत् 1970 के श्रावण मास में सभा ने प्रेस को बेच दिया और बेचारे पत्र की अवस्था विमाता के पुत्र के समान हो गई। जिस पत्र के लिये प्रेस स्थापित हुआ था, वह दूसरों के हाथ में चला गया। प्रेस के संचालक विशुद्ध व्यापारिक दृष्टि से उसको चलाने लगे। धर्म-प्रचार की धुन, देश-प्रेम की लगन और स्वतन्त्र विचारों के विकास के साथ प्रेस का कुछ भी सम्पर्क नही रहा। सरकार के इशारे पर चलने वाले प्रेस-मालिकों की कृपा से जन्म के साथ ही स्वतन्त्रता, निर्भयता और वीरता की घुट्टी पिये हुए 'प्रचारक' को फिर गुरुकुल के जगलों के स्वच्छन्द वायुमण्डल मे आने के लिये बाधित होना पडा। इधर गुरुकुल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक छोटा-सा प्रेस खोल दिया गया था। उसी में छपाई का खर्च देकर 'प्रचारक' को निकाला जाता रहा। 27 मार्गशीर्ष, 12 दिसम्बर, 1914, को देहली से अन्तिम अंक निकलने के बाद 18 माघ सम्वत् 1971, 30 जनवरी 1915 को गुरुकुल से 'प्रचारक' का पहिला अक निकला। सम्वत् 1967 तक—लगभग 21 वर्षो तक—मुंशीराम जी ने ही पत्र का सम्पादन किया। देवराज जी ने शुरू के वर्षो मे इस काम मे उनका पूरा हाथ बॅटाया था। वजीरचन्द जी विद्यार्थी भी शुरू वर्षो मे ही आकर सम्पादन-कार्य में सहयोग देने लग गये थे। सम्भवतः सम्वत् 1968 के एक वर्ष मे मुशीराम जी के बड़े सुपुत्र हरिश्चन्द्र जी विद्यालकार ने उसका सम्पादन किया था। उसके बाद 1973 तक उनके दूसरे सुयोग्य पुत्र इन्द्र जी वेदालकार, बाद मे आपने 'विद्यावाचस्पति' की भी परीक्षा पास की, उसका सम्पादन बड़ी तत्परता और योग्यता के साथ करते रहे। गुरुकुल में अध्ययन करते हुए भी आप उसके सम्पादन के कार्य मे हाथ बॅटाया करते थे और शिक्षा-समाप्ति के बाद तो मुशीराम जी का नाम रहते हुए भी सब काम आप ही करते थे। मुशीराम जी के बाद उनके सुयोग्य पुत्रो ने 'प्रचारक' की शान को बट्टा नहीं लगने दिया, इसका एक ही उदाहरण यहाँ देना पर्याप्त होगा। देहली मे प्रेस के मालिकों की इच्छा पालन करने मे अशक्त

होने से जब 'प्रचारक' को गुरुकुल लाने के लिये विवश होना पड़ा, तब उसकी सूचना में लिखा गया था कि "प्रेस के प्रबन्धकर्ता महाशय के शाही फ़र्मानों से हमें दिल्ली में पत्र का छापना एकदम बन्द करना पड़ा है। 'प्रचारक' जक तक निकलेगा, जीवित रूप में निकलेगा, मरकर निकलने से राख हो जाना अच्छा है।" यह निर्विवाद है कि एक-चौथाई शताब्दी से भी अधिक समय तक जब तक 'प्रचारक' निकला, जीवित रूप में ही निकला। उसके बन्द होने के बाद देहली के कुछ महानुभावों ने उसको निकालने का यत्न किया, किन्तु जीवित रूप मे नहीं। उसकी अन्तरात्मा की हत्या के बाद उसको निकालने का जो परिणाम हो सकता था, वही हुआ; उसका चलाना असम्भव हो गया। इस प्रकार उसकी अन्तिम दुर्दशा से मुंशीराम जी के हृदय पर जो चोट लगी, उसका उल्लेख उनके ही शब्दो में करना ठीक होगा। उन्होंने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद लिखा था कि "इस समय में समाचार-पत्र सांसारिक कार्यो के साधन समझे जाते हैं। जब मैंने समझ लिया था कि संसार की सीमाओं का उल्लंघन करने चला हूँ तब 'सद्धर्म-प्रचारक' से सम्बन्ध तोड़ लिया था। अच्छा होता यदि जिस समय मेरा दिया हुआ प्रेस आर्यप्रतिनिधि-सभा पंजाब बेचने लगी थी, उस समय खरीददार को प्रेस का नाम 'सद्धर्म-प्रचारक' न रखने दिया जाता। फिर जब 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र को एक आर्य-मण्डल के सुपुर्द किया गया था, तब भी अच्छा होता यदि उसका नाम बदल दिया जाता। ऐसा न हुआ और उसका परिणाम यह है कि जिस उद्देश्य से यन्त्रालय और पत्र जारी किये गये थे, उन्ही के द्वारा उनका खण्डन होता रहा।" इन शब्दो मे छिपी हुई मर्म-पीड़ा को अनुभव करना कुछ कठिन नहीं है।

'प्रचारक' की विशेषताओं का सम्बन्ध मुंशीराम जी के जीवन की विशेषताओ के साथ है, इसीलिए उनके सम्बन्ध में भी कुछ विचार करना आवश्यक है। निर्भीकता, स्पष्टवादिता, स्वतन्त्रता आदि उसके साधारण गुण थे। प्रधानत आर्य-समाजी होते हुए भी आर्यसमाज के बाहर के विषयों पर भी 'प्रचारक' मे अपनी दृष्टि से विचार किया जाता था। इन विपयो में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' (राष्ट्रीय-महासभा) और 'नेशनल सोशियल कान्फ्रेन्स' आदि के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रगट किये गये विचार मनन करने योग्य है। मुंशीराम जी उस समय के कांग्रेसियो की सूखी, मौसमी तथा फ़ैशनेबल राजनीति से बहुत प्रारम्भ से ही असन्तुष्ट थे और उसको राष्ट्र के लिये व्यर्थ भी बताते थे। मुसलमान नेताओं की राष्ट्र-विरोधी नीति की भी कहीं-कहीं पर कडी आलोचना की गई मिलती है। सारांश यह है कि प्रत्येक विषय की आलोचना में 'प्रचारक' का अपना ही दृष्टिकोण रहता था।

इस दृष्टिकोण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'प्रचारक' की भाषा थी, जिसको कि उसकी अपनी ही भाषा कहना चाहिये। उर्दू लिपि मे पत्र के निकलने पर भी मुखपृष्ठ पर पत्र का नाम और सब वेदमन्त्र आदि भी नागरी अथवा संस्कृत में ही लिखे जाते थे। भाषा में हिन्दी और संस्कृत के शब्द इतने अधिक रहते थे कि उनको सुनने वाले के लिये यह जानना कठिन था कि पत्र किस भाषा में निकलता है। 1963 के फाल्गुन मास में पत्र की लिपि को भी फारसी से नागरी करते हुए मुंशीराम जी ने 'नया जन्म और नयी आशायें' शीर्षक से लिखे गये लेख में लिखा था कि "प्रचारक ने फ़ारसी अक्षरों का चोला उतार कर आज फेंक दिया और वह संस्कार किये हुए अक्षरों में आप सब पाठकों के सम्मुख उपस्थित होकर प्रेमपूर्वक आपको 'नमस्ते' करता है। क्या इस लिपि तथा भाषा के परिवर्तन से 'प्रचारक' के विचारों तथा उपदेशो में कुछ भेद आ गया? कदापि नही। वही उद्देश्य, वही विचार और वही मार्ग इसके लिये मौजूद है। किन्तु उर्दू का 'प्रचारक' भी निरर्थक न था। अठारह वर्ष हुए पंजाब में आर्यभाषा के बोलने का भी बहुत कम प्रचार था। फिर आर्यभाषा के लिखने वालो का तो अभाव-सा था। सस्कृत के साधारण से साधारण शब्द को भी समझना अच्छे-अच्छे आर्यसमाजियो तथा सनातनियों के लिये भी कठिन था। देवनागरी अक्षरों को पहचानने वाले भी मुश्किल से मिलते थे। 'प्रचारक' ने सहस्रों पुरुषो को इस योग्य बनाया कि वे वेदादि सत्य-शास्त्रो के अभिप्राय को समझ सके। न केवल यही किन्तु 'प्रचारक' ने उस मिश्रित भाषा के बेढगे लेखो से, जिसे उर्दूदां तथा हिन्दी के रसिक दोनो ही द्वेष-दृष्टि से देखते थे, अपने लिये खास स्थान बना लिया। 'प्रचारक' की इसी कोशिश का नतीजा है कि आज पन्द्रह सौ से अधिक ऐसे पाठक हो गये हैं, जो आर्यभाषा को देवनागरी अक्षरों मे पढ तथा कुछ समझ भी सकते है। किन्तु 'प्रचारक' के पुनर्जन्म के लिये इन युक्तियों की भी आवश्यकता नही है। भाषा तथा लिपि बदल गई, किन्तु प्रचारक की 'स्पिरिट' नहीं बदली। सत्य का निर्भय होकर उसी प्रकार प्रचार होगा। हर तरह के अनाचार तथा अशुद्धि का उसी प्रकार खण्डन होगा। गन्दे विज्ञापनों से न केवल इसको ही अलग रखा जायेगा, प्रत्युत अपने नये सहयोगियों की सेवा मे भी विनय तथा बलपूर्वक ऐसे विज्ञापनो को अलग करने की प्रेरणा होगी।" इस लेख के बाद 'प्रचारक' के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रहती। यह उसके अठारह वर्षो के जीवन का सिहावलोकन है और अगले वर्षो के जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी है, जो अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। इस प्रकार उर्दू में निकलते हुए भी 'प्रचारक' ने

आर्यभाषा (हिन्दी) का प्रचार किया था और नागरी लिपि में निकलने के बाद तो कितने ही आर्य पुरुषों ने केवल उसके लिये ही हिन्दी पढ़ने का अभ्यास किया था। आज भी वे केवल हिंदी पढना ही जानते हैं और लिखने को अपना नाम भी ठीक-ठीक नहीं लिख सकते। आर्यसमाज में आर्य भाषा को जीवित भाषा बनाने का अधिकाश श्रेय प्रचारक ही को है।

सम्वत् 1970 में भागलपुर में होने वाले हिन्दी साहित्य-सम्मलेन के चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन के सभापति के आसन से दी गई वक्तृता में भी आपने 'सद्धर्म-प्रचारक' के सम्बन्ध में ऐसे ही भाव प्रकट किये थे। आपने कहा था—"सद्धर्म-प्रचारक पहिले उर्दू में था, बाद मे हिन्दी में किया गया, यह बात श्री श्यामसुन्दरदास जी ने आप लोगों से कही है। वस्तुतः 'प्रचारक' को हिन्दी में करने के बहुत दिन पहिले ही से मेरे मन मे यह विचार था। जब वह फ़ारसी लिपि में निकलता था, तब भी मैं उसकी भाषा में संस्कृत और हिन्दी के शब्दो का अधिकता से प्रयोग करने लगा था। यह भाषा देवियाँ समझ जाती थीं। 'प्रचारक' इस प्रकार से सम्पादित होता था, जिसमें देवियों को उसे पढ़ने में तनिक भी सकोच न हो। उसके लेखों में तो क्या, विज्ञापनों तक में भी अश्लील बात नहीं आने पाती थी। यह सूचना प्रकाशित की गई कि यदि 'प्रचारक' के 500 ग्राहक हो जायँ तो वह हिन्दी मे निकाला जायगा। पर, इतने ग्राहक न हुए, तो भी ईश्वर पर भरोसा रखकर मैंने उसे हिन्दी में निकालना प्रारम्भ किया। इसमें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। आज 'प्रचारक' को ग्राहकों का अभाव नहीं है।"

अपने ग्राहकों के साथ 'प्रचारक' का अपनेपन का भाव इतना अधिक था कि ग्राहकों के लिए जब-तब 'प्रचारक-परिवार' शब्द का प्रयोग किया जाता था और परिवार अथवा बिरादरी का यह भाव सकट से पार होने मे 'प्रचारक' की प्रायः सहायता किया करता था। 'परिवार' के लोग अपनी बिरादरी बढाने मे प्रायः दत्त-चित्त रहते थे।

मुशीराम जी जब तक प्रतिनिधि-सभा के प्रधान रहे, तब तक पत्र प्रतिनिधि-सभा के मुख-पत्र की और गुरुकुल की स्थापना होने के बाद जब उसके मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य हुए, तब उसके मुख-पत्र की आवश्यकताओ को इस प्रकार पूरा करता रहा कि उन संस्थाओं के लिये कोई दूसरा पत्र निकालने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। स्वर्गीय पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जी ने 'प्रचारक' के सम्बन्ध में लिखा है कि "श्री मुंशीराम जी का पत्र अपने निकलने के पहिले दिन से ही आर्यसमाज के क्षेत्र मे अच्छा काम करता रहा और लोक-प्रिय रहा है।

श्री मुशीराम जी की लेखनी में बल था।"

'प्रचारक' मुंशीराम जी के जीवन का बहुत बडा कार्य था। गुरुकुल की स्थापना के समान ही उसका भी उनके जीवन मे प्रधान और महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरुकुल के स्वप्न को पूरा करने के लिये 'प्रचारक' मुख्य साधन था। उसकी फाइल उनके जीवन के एक बडे और गौरवशाली हिस्से के उतार-चढ़ाव का पूरा चित्र है। इन सब दृष्टियो से 'प्रचारक' के जीवन की कहानी को उनकी जीवनी में इतना स्थान देना आवश्यक था। इन्ही दिनों मे मुशीराम जी ने अपने लिये 'जिज्ञासु' शब्द लिखना शुरू किया था और संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के समय तक वे बराबर इस शब्द का प्रयोग करते रहे थे। उनके जीवन में इस शब्द की सार्थकता इतनी स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध मे कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

'सद्धर्म-प्रचारक' के साथ-साथ कुछ ट्रैक्ट लिखने का भी काम शुरू किया गया था। 'प्रचारक' के सम्पादन के शुरू दिनो में ही वर्ण-व्यवस्था पर एक ट्रैक्ट सम्वत् 1947 में लिखा गया था। सम्भवत· आपकी लिखी हुई यह पहिली ही पुस्तिका थी।

3. हरिद्वार में कुम्भ पर प्रचार

पश्चिमोत्तरीय भारत में हरिद्वार बहुत बड़ा तीर्थ है और भारत के पहिली श्रेणी के तीर्थों में उसकी गणना है। इसलिये वहाँ छोटे-मोटे मेले तो वर्ष में तीन सौ साठ दिन ही होते रहते हैं। पर, बारह वर्ष बाद आने वाला कुम्भ का महामेला अद्वितीय होता है। उसके उतरकर उसके छः वर्ष बाद होने वाला अर्धकुम्भी का मेला होता है। ऋषि दयानन्द ने सम्वत् 1936 में ऐसे अवसर पर ही हरिद्वार मे 'पाखण्ड-खण्डिनी पताका' गाड़ कर और काशी के सुप्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द को परास्त कर अपने महान् और विशाल मिशन की विजय-दुंदुभि बजाई थी। ऋषि के अनुव्रती इस गौरवपूर्ण घटना को भला कब भूल सकते थे? ऋषि दयानन्द के देहावसान के बाद सम्वत् 1948, सन् 1891, में पहले पहल हरिद्वार का कुम्भ का यह महामेला आया। आर्यसमाजों को सुस्त देख कर मुशीराम जी ने इस अवसर पर प्रचार करने के लिये 'प्रचारक' द्वारा आर्य जनता से अपील की। अमरशहीद पण्डित लेखराम जी 'आर्यमुसाफ़िर' उन दिनो कलकत्ता मे थे। आपने वही से आपकी अपील का समर्थन किया। 'प्रचारक' द्वारा आदोलन होने पर प्रतिनिधि-सभाओ ने भी होश सम्हाला। आर्य जनता प्रचार का सब भार उठाने के लिये तैयार हो गई। इस प्रचार मे धन की कमी की कोई शिकायत नहीं रही। पर, हरिद्वार पहुँच कर प्रबन्ध की सब ज़िम्मेवारी उठाने के लिये कोई तैयार न हुआ। मुंशीराम जी को ही एक मास पहिले वहाँ जाकर डेरा जमाना पड़ा। तीन दिन बाद कलकत्ता से लेखराम जी भी पहुँच गये। ऐसे प्रचार का सम्भवतः वह पहिला ही अवसर था। इसलिये उपदेशकों, स्वामियों और अन्य सब साधनों की कमी न होने पर भी निराशा का कुछ कम सामना नहीं करना पडा। पौराणिकता के गढ मे वैदिक धर्म का सन्देश सुनाना कोई साधारण काम नही था। इसीलिए जालन्धर से चलने के बाद मुंशीराम जी को सहारनपुर और रुड़की में निराशा की ही बातें सुनने को मिलीं। पर, मुशीराम जी सहज मे निराश होने वाले नहीं थे। हरिद्वार पहुँच

कर दो-तीन दिन में ही उन्होंने सब व्यवस्था ठीक कर दी। पर, घर से पुत्र की बीमारी का तार आने से उनको शीघ्र ही लौटना पड़ा। लौटने से पहले उन्होने पण्डित लेखराम जी, सुकेत के राजकुमार जनमेजय और काशीराम जी आदि को सब व्यवस्था अच्छी तरह समझा-बुझा दी। पण्डित लेखराम जी के अलावा स्वामी आत्मानन्द जी, स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी, स्वामी पूर्णानन्द जी, ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी और पण्डित आर्यमुनि जी आदि भी हरिद्वार पहुँच गये थे। भजनो और व्याख्यानो के साथ-साथ शंका-समाधान भी ख़ूब होता था। कोई मार्के का शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ, किन्तु प्रचार की खूब धूम रही। वैदिक-धर्म का सन्देश हज़ारों नर-नारियों तक पहुँच गया। आर्यसमाज का परिचय भी लोगो को अच्छा हो गया। पण्डित लेखराम जी ने इस प्रचार की रिपोर्ट को स्वयं लिख कर ट्रैक्ट के रूप मे छपवा कर प्रकाशित किया।

मुंशीराम जी को इस प्रचार से सबसे अधिक लाभ यह हुआ कि पण्डित लेखराम जी का उनसे बहुत घनिष्ठ प्रेम हो गया। दोनों आपस में एक-दूसरे के बहुत समीप हो गये। आर्यसमाज को भी इस घनिष्ठता से बहुत बडा लाभ हुआ। दोनों की घनिष्ठता से आर्यसमाज में एक शक्ति पैदा हो गई, जिसने गृह-कलह के सकट-काल में आर्यसमाज को विचलित होने से बचाने मे जादू का काम किया। इसके अलावा आर्यसमाज को प्रत्यक्ष लाभ यह मिला कि कुम्भ पर आर्यसमाज के प्रचार-कार्य का वह सिलसिला शुरू हो गया, जो अब तक भी जारी है। सम्वत् 1960 में इसी भूमि के पास फिर प्रचार हुआ और सम्वत् 1962 मे वह सारी भूमि पंजाब-प्रतिनिधि-सभा के नाम से ख़रीद ली गई। उसके बाद सम्वत् 1972 मे वहाँ सार्वदेशिक सभा की ओर से प्रचार हुआ और सम्वत् 1984 मे भी प्रचार की धूम रही। अर्धकुम्भी पर भी इसी प्रकार सदा प्रचार होता रहा। कुम्भी और अर्धकुम्भी पर होने वाले इस सब प्रचार का सारा श्रेय मुशीराम जी को ही है, जो 'प्रचारक' द्वारा सदा इस अवसर पर आर्यसमाज को कर्तव्य-पालन के लिये जगाते रहते थे। इस समय यह भूमि मायापुर की वाटिका के नाम से प्रसिद्ध है। गुरुकुल के गंगा के उस पार होने पर यह भूमि गुरुकुल के यात्रियों के बहुत काम आती थी और गुरुकुल की यहाँ पर एक छावनी सी पड़ी रहती थी।

4. स्त्री-शिक्षा की लगन

श्री मुंशीराम जी में अपनी धर्मपत्नी को सुशिक्षित बनाने का विचार विवाह के समय ही पैदा हो चुका था। इसके लिये उन्होंने यत्न भी किया। जालन्धर मे माई लाडी नाम की एक बुढ़िया स्त्री रहती थी, जिसने कई घरों की स्त्रियों को हिन्दी पढना सिखाया था। श्रीमती शिवदेवी जी ने भी इस वृद्धा स्त्री से ही हिन्दी पढना सीखा था। पीछे उस माई ने ईसाइयो के स्कूल मे नौकरी कर ली और अपने पुराने परिचित घरों में जा-जाकर लडकियों को स्कूल में लाकर भरती करना शुरू किया। मुंशीराम जी की बड़ी कन्या वेदकुमारी को भी वह उसी स्कूल मे पढ़ने के लिये ले गई। 2 कार्तिक सम्वत् 1945, 16 अक्तूबर, 1888, की एक घटना का उल्लेख मुंशीराम जी ने स्वयं अपनी पजिका में किया है। उन्होने लिखा है—"कचहरी से लौट कर जब अन्दर गया, तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीख कर आई थी, सुनाने लगी—'इक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल? ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।' इत्यादि। मै बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियो को अपने शास्त्रो की निन्दा करनी भी सिखाई जाती है। निश्चय किया कि अपनी पुत्री-पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये।" इस घटना के तीसरे ही दिन रविवार को आर्यसमाज का अधिवेशन था। वहाँ रायबहादुर बख्शी सोहनलाल प्लीडर से इस सम्बन्ध में बातचीत हुई। उनको भी अपनी कन्या की पढ़ाई के सम्बन्ध मे मुशीराम जी की-सी ही शिकायत थी। उनकी सहानुभूति मिलने पर उसी रात को मुशीराम जी ने कन्या-पाठशाला के लिये अपील लिख कर चन्दा भी इकट्ठा करना शुरू कर दिया। दिवाली के अगले दिन 17 कार्तिक को ऋषि-उत्सव पर स्थानीय आर्य भाइयों के सामने आपने कन्या-पाठशाला खोलने का विचार उपस्थित किया। इसी समय 'सद्धर्म-प्रचारक' को निकालने की आयोजना को भी आपने हाथ में उठाया। उसके सामने पाठशाला का काम ढीला पड़ गया, किन्तु 'प्रचारक'

को निकालने के आन्दोलन मे लगे रहने पर भी आपको पाठशाला की लगन बराबर लगी रही। उसके लिये चन्दा जमा करने का काम बन्द नहीं किया। 'दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज' में बालकों की शिक्षा का प्रश्न हल हुआ समझ कर 'प्रचारक' मे स्त्री-शिक्षा के लिये विशेष आन्दोलन शुरू किया गया। फ़िरोजपुर में एक पुत्री-पाठशाला आर्यसमाज की ओर से चल रही थी। उसको उन्नत करने का आपने प्रस्ताव किया। उसके साथ लड़कियों के रहने के लिये आश्रम खोलने पर भी आपने ज़ोर दिया। आंदोलन कुछ दिन होकर ही नहीं रह गया। मुंशीराम जी अपनी धुन के पक्के थे। उन्होने जो सकल्प एक बार कर लिया, उसको पूरा करके ही छोड़ा। फिर यह संकल्प तो मानसिक विचार की कोटि से भी बहुत आगे बढ़ चुका था। सम्वत् 1947 में वह पाठशाला खुल गई, जो आज 'कन्या-महाविद्यालय' के नाम से भारत की सर्वप्रधान शिक्षा-संस्थाओं में से एक है। पॉच वर्ष बाद सम्वत् 1925 में, 11 अप्रैल, 1895 को, कोट किशनचन्द में आर्य-कन्या-आश्रम भी खुल गया। वस्तुतः इस आश्रम को ही कन्या-महाविद्यालय की स्थापना का श्रेय देना चाहिये। मुशीराम जी ने अपनी कन्या और देवराज जी ने अपनी भतीजी को आश्रम में भरती करके अन्य आर्य पुरुषों के सामने आदर्श उपस्थित किया। कन्या-महाविद्यालय के विकास के इतिहास का सम्बन्ध इस जीवनी के साथ उतना नहीं, जितना कि देवराज जी की जीवनी के साथ है। इस संस्था को दूसरो के तो क्या, आर्य-समाजियो के ही विरोध का बहुत सामना करना पड़ा। 'प्रचारक' के पहिले कुछ वर्षो के अकों में ऐसे विरोध से पैदा हुए आक्षेपों के निराकरण में लिखे गये बहुत से लेख देखने में आते है। इस प्रकार इस महान् सस्था का मुशीराम जी ने बीज ही नहीं बोया, किन्तु अकुर फूटने के बाद उसके चारों ओर बाड लगाने का भी बहुत सा काम उन्होने ही किया।

5. धर्मपत्नी का देहान्त

गृहस्थ मनुष्य के जीवन का वह सुवर्ण मन्दिर है, जिसके नष्ट होने की वह कभी कल्पना भी नहीं करता। आश्चर्य यह है कि दूसरों के इन मन्दिरों को रात-दिन ध्वंस होते हुए देखते रहने पर भी अपने सम्बन्ध में वह इस अवश्यम्भावी घटना का होना स्वीकार नहीं करता। हिन्दू पति-पत्नी अपने पारस्परिक सम्बन्ध को जन्म-जन्मांतर के पुण्य का फल समझते हैं। मुंशीराम जी का गृहस्थ भी इसका अपवाद नहीं था। शिवदेवी जी को अनुकूल बनाने के लिये उन्होंने विशेष परिश्रम किया था। उनको शिक्षित बनाकर उनके रहन-सहन को सुधारने और वैदिक धर्म में उनका गहरा अनुराग पैदा करने का भी उन्होंने निरन्तर यत्न किया था। पाठक शिवदेवी जी की उज्ज्वल, पवित्र और निष्कलंक पति-भक्ति की कई घटनायें पीछे पढ़ आये हैं। ऐसे परिश्रम से तैयार किये गये इतने उत्तम गृहस्थ के अलौकिक आनन्द के तारतम्य के टूटने की मुंशीराम जी को कोई कल्पना भी नहीं थी कि शिवदेवी जी सहसा बीमार पड़ गई। घर मे और आत्मीय जनो के हृदयो में तो पॉचवी सन्तान पैदा होने की सुमधुर कल्पनायें हिलोरें मार रही थीं; उनको क्या मालूम था कि बादलों के बरसने के बाद बिजली टूटने वाली है। सम्वत् 1948 के श्रावण के अन्त मे सन्तान के पैदा होने के समय शिवदेवी जी को बहुत पीड़ा हुई। डाक्टरों की सहायता भी ली गई। लडकी हुई और होते ही अगली कल्पनातीत और दुःखपूर्ण घटना की ओर सकत करके चली गई। शिवदेवी जी बहुत दुर्बल हो गई। मुंशीराम जी को धर्मशाला समाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। विचार किया कि उनको भी साथ लेते जायेंगे। 15 भाद्रपद जाने के तिथि भी नियत हो गई। 12 भाद्रपद की शाम को एकाएक दस्त और उलटियां आरम्भ हुई। रात-भर डॉक्टर पास बैठा रहा और मुशीराम जी स्वयं भी जागते रहे। सवेरे तीन बजे दस्त बन्द हुए। 13 भाद्रपद बहुत आराम के साथ बीता। 14 को आर्यसमाज के अधिवेशन में ही समाचार आया कि फिर दस्तों की शिकायत शुरू हो गई

है। डाक्टरों को इकट्ठा किया गया। सबकी सलाह से एक डाक्टर का इलाज शुरू किया। माता ने आकर पुत्री को गोदी में ले लिया। भाई और इष्ट सम्बन्धी सब आ गये। मृत्यु को पराजित करने के लिये कोई भी बात उठा न रखी गई, किन्तु उसको किसने पराजित किया है? रात को बड़ी लडकी वेदकुमारी से शिवदेवी जी ने और सबको अनुपस्थित देख कर क़लमदान मँगाया और कागज़ के एक टुकड़े पर कुछ लिख कर उसी में रख दिया। रात को एक बजे मुंशीराम जी ने जब दवा पिलाई तब हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और माता जी से बोलीं—"कितना बड़ा अपराध है? जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये, वे मेरी सेवा कर रहे हैं?" माता ने सान्त्वना दी और कहा—"कोई अपराध नहीं। अच्छी होने पर इस सेवा का बदला चुका देना।" भाई देवराज जी ने पूछा—"बीबी जी! भजन सुनोगी?" "हाँ" कहने पर देवराज जी ने गाना आरम्भ किया—"प्रभु जी! भेंट धरूँ क्या मै तेरी?" अवस्था बिगड़ती जा रही थी। माता ने विह्वल होकर पूछा—"बच्चे किस के सुपुर्द कर चली हो?" देवी ने कहा—"आप ही पल जायेंगे।"

15 भाद्रपद सम्वत् 1948, 31 अगस्त, 1891 ई. की सवेरे 4॥ बजे मुशीराम जी बाहिर खड़े डाक्टर से परामर्श कर रहे थे। 5 बजे के क़रीब भीतर गये। देवी ने बहुत ही करुणापूर्ण आवाज में कहा—'बाबू जी! बाबू जी!' मुशीराम जी ने झुक कर नब्ज हाथ में ली। देवी ने एक बार दिल भर कर बाबू जी की ओर देखा और 'ओउम्' का उच्चारण करते हुए माता की गोद में ही सदा के लिये ऑखे बन्द कर लीं। समाचार बिजली की तरह तुरन्त सारे शहर में फैल गया। हज़ारो की सख्या मे स्त्री-पुरुष घर पर जमा हो गये। 9 बजे दाह-संस्कार हुआ। सबसे छोटी सन्तान केवल दो वर्ष की थी। बाक़ी सब बच्चे भी नासमझ थे। छोटे बच्चे को छः मास पहिले निमोनिया हुआ था और तब भी उसको ज्वर और दस्तों की शिकायत बनी हुई थी। शिवदेवी जी कुल चार सन्तान छोड़ गई—(1) वेदकुमारी—आयु 10 वर्ष, (2) हेमन्तकुमारी, यज्ञोपवीत के समय नाम बदल कर 'अमृतकला' रखा गया—आयु 6 वर्ष (3) हरिश्चन्द्र—आयु 4 वर्ष और (6) इन्द्र—आयु 2 वर्ष।

दूसरे दिन मुशीराम जी शिवदेवी जी का सब सामान सम्हालने लगे, तो वेदकुमारी ने माता जी का लिखा हुआ क़लमदान वाला कागज़ लाकर दिया। उसमें लिखा था—"बाबू जी! अब मैं चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझ से अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जायगी, किन्तु इन बच्चों को मत

भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करें।" पति-अनुरक्ता पत्नी के इन अन्तिम शब्दो ने मुंशीराम जी के हृदय मे एक अद्‌भुत शक्ति का संचार कर दिया। निर्बलता सब दूर हो गई। बच्चों के लिये माता का स्थान भी स्वयं पूरा करने का दृढ संकल्प किया। ऋषि दयानन्द के उपदेश और वैदिक धर्म के आदेश को पूरा करने के लिये पत्नी के इस सन्देश से विशेष बल मिला। सम्बन्धियों, इष्ट-मित्रों और हितचिन्तकों ने बच्चों की रक्षा के नाम पर दूसरा विवाह करने के लिये चारों ओर से दबाना शुरू किया और तरह-तरह के प्रलोभन भी दिखाने शुरू किये, किन्तु मुंशीराम जी अपने निश्चय पर अटल रहे। उनके अन्तरात्मा में मातृ-भाव का जो संचार हुआ था, उसके सामने बच्चों के लिये विमाता की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं हुई। बडे भाई आत्माराम जी ने इस समय अच्छा साथ दिया। वे अपनी धर्मपत्नी सहित जालन्धर आ गये और उन्होंने बच्चो की देख-भाल, रक्षा तथा सेवा से मुंशीराम जी को बहुत-कुछ निश्चिन्त कर दिया।

मुंशीराम जी ने इस भारी विपत्ति पर भी धर्मशाला-समाज के उत्सव पर जाने की हिम्मत न हारी। हरिश्चंद्र को साथ लेकर धर्मशाला चल दिये और बच्चो की ताई तीन बच्चों को साथ लेकर तलवन चली गई। सितम्बर का पूरा मास पर्वत पर धर्म-प्रचार में बिता कर अक्तूबर के शुरू मे जालन्धर लौट कर आप वकालत में लग गये। गृहस्थी का बंधन टूटने के बाद वकालत का बंधन टूटना भी निश्चित था। 1892 मे पंजाब-प्रतिनिधि-सभा के प्रधान होने के बाद से यह बधन ढीला पड़ना शुरू हो गया और वह समय भी आया, जब कि मुशीराम जी ने उससे भी पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली।

सम्वत् 1948, सन् 1879, से ही मुशीराम का स्वास्थ्य कुछ गिरने लगा और वे प्रायः बीमार रहने लगे। वैशाख ज्येष्ठ में एक विचित्र बीमारी ने आ दबाया। ज्यों-ज्यों दिन बढता शरीर मे जलन बढ़ती जाती और दिन ढलने के साथ कम होकर शाम को शांत हो जाती। डाक्टर और हकीम परीक्षा करके कुछ भी पता न लगा सके। वैसे सब शरीर ठीक था। फेफडों, छाती, पीठ और पेट आदि में भी कोई शिकायत नही थी। ज्येष्ठ के अन्त मे पहाड पर जाना तय हुआ। बैरिस्टर भक्तराम जी धर्मशाला में बैरिस्टरी करते थे। उनके पास जा कर चार मास वहाँ ही बिताये। इन चार मास में कांगडा, पालमपुर आदि में अच्छा प्रचार किया, स्वाध्याय भी खूब किया और वकालत करके थोडा पैसा भी पैदा किया। प्रचार के अलावा दो शास्त्रार्थ भी किये। कार्तिक में जालन्धर लौट आये।

मांस-भक्षण पर आर्यसमाज में ज़ोरों से विवाद शुरू था। एक-दूसरे पर आक्षेप करने और एक-दूसरे की आलोचना करने का बाजार गरम था। अभी दो दल तो नहीं हुए थे, किन्तु उसके चिह्न स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। आर्यसमाज के इस सकट-काल में मुंशीराम जी ने अद्भुत साहस और अलौकिक कर्तव्यपरायणता का परिचय दिया।

6. आर्यसमाज में गृह-कलह

मुशीराम जी की जीवनी का यह सबसे अधिक नाजुक हिस्सा है, जिसमें पंजाब के आर्यसमाजों मे यादवदल के समान गृह-कलह शुरू होती है। इन पृष्ठों में उस विषय की गहराई में न जाकर उसको छूते हुए भी आगे बढ़ जाने से काम निकल सकता है, किन्तु ऐसा करने से उनके तथा आर्यसमाज के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना अस्पष्ट रह जायगी। गृह-कलह का यह इतिहास दुःखपूर्ण होता हुआ भी महत्त्वपूर्ण है। उसकी गंदगी के कीच में कमल भी खिले हुए स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। मुशीराम जी की जीवनी के साथ उसका इतना अधिक सम्बन्ध है कि उस अग्नि में तप कर ही वे खरा सोना सिद्ध हुए। पण्डित गुरुदत्त जी के बाद इस गृह-कलह के दिनों में आर्यसमाज के प्रधान-दल का जो नेतृत्व उनको अनायास ही मिल गया वह आजीवन क़ायम रहा। इस प्रकार चरित्रनायक के जीवन को इतना ऊपर उठाने वाली घटना पर कुछ विस्तार के साथ ही विचार करना आवश्यक है। विचार के सुभीते के लिये गृह-कलह के इस पर्व को निम्नलिखित चार भागो मे विभक्त कर लेते हैं—(क) गृह-कलह के कारण, (ख) उसका स्वरूप, (ग) उसका परिणाम और (घ) मुंशीराम जी की स्थिति।

(क) गृह-कलह के कारण

पजाब में आर्यसमाज के प्रायः जन्म-काल से ही दो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी। एक प्रवृत्ति का केन्द्र लाहौर था और दूसरी का जालन्धर जालन्धर-आर्यसमाज के नाम से जिस प्रवृत्ति की ओर सकेत किया जा रहा है उसका उद्गम मुंशीराम जी के व्यक्तित्व से ही समझना चाहिये। धर्म-प्रचार मुशीराम जी की प्रवृत्ति के साथ तन्मय हो चुका था। जालन्धर आर्यसमाज ने दुआबा प्रदेश में और उसके बाहिर भी धर्म-प्रचार का कार्य बहुत कुछ उनकी ही प्रेरणा से किया था। उस धर्म-प्रचार के कारण जालन्धर में उपदेशक-पाठशाला खोलने अथवा आर्यसमाज

के लिये उपदेशक किंवा प्रचारक तैयार करने की आवश्यकता आर्यसमाज के शुरू दिनो से ही विशेष रूप में अनुभव की जा रही थी। काशी से स्वामी रामानन्द जी और स्वामी पूर्णानन्द जी के आने पर उसको और भी अधिक अनुभव किया जाने लगा था। इस ओर कुछ यत्न भी किये गये थे। इस प्रकार जालन्धरी आर्यो के लिये आर्य-समाज एक मिशन अथवा धर्म था, जिसका प्रचार करना उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। लाहौरी-आर्य आर्यसमाज को हिन्दू जाति मे जागृति पैदा करने के लिये साधन मात्र समझते थे। उनके लिये आर्यसमाज ऐसा कोई पृथक मिशन नहीं था।

उनमें दूसरी प्रवृत्ति काम कर रही थी। वहाँ के आर्य भाई अधिकाश में सरकारी यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएट थे। इसलिये ऋषि दयानन्द के निर्वाण के बाद जब उनका कोई उपयुक्त स्मारक बनाने की चर्चा हुई, तब लाहौर के इन आर्य पुरुषो ने 'दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-स्कूल' खोलने का प्रस्ताव उपस्थित किया। पंजाब के आर्यसमाजों ने एक व्यक्ति के समान उसका समर्थन किया और अपनी सब शक्ति तथा साधन उस प्रस्ताव को कार्य में परिणत करने में लगा दिये। सन् 1886 के जून की पहली तारीख़ को स्कूल खुल गया और महीना समाप्त होते न होते उस में 600 विद्यार्थी भरती हो गये। स्कूल के बाद कालेज खोलने की महात्वाकांक्षा बनी ही हुई थी। 1886 की 27 अगस्त को 'दयानन्द-ऐगलो-वैदिक-कालेज-सोसाइटी' की रजिस्ट्री हो गयी और कालेज खोलने की तैयारियॉ होने लगी। स्कूल में आशातीत सफलता प्राप्त होने पर आर्य पुरुषों के उत्साह का कहना ही क्या था? कालेज की बात करते ही आर्यो की ऑखों के सामने भविष्य का बहुत ही भव्य और उज्ज्वल चित्र अकित हो जाता था। वे उसको ऋषि का स्मारक तो मानते ही थे, साथ में आर्यसमाज की सब आवश्यकताओ की पूर्ति का साधन भी समझते थे। उनको पूरा विश्वास और भरोसा था कि कालेज चल निकलने के बाद प्रचारकों अथवा उपदेशको की कमी नही रहेगी, वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन का काम बहुत तेजी के साथ शुरू हो जायेगा और आर्यसमाज की दृढता की जड़े पाताल में पहुॅच जायेंगी। 'आर्य-पत्रिका' को कालेज के आन्दोलन के लिये ही निकाला गया। पं. गुरुदत्त जी और ला. लाजपतराय जी की धर्म, वेद, शास्त्र, ब्रह्मचर्य और दयानन्द के नाम से की जाने वाली अपीलो पर आर्य जनता पागल हो जाती थी। पुरुषों ने तो खुले हाथों दिया ही, स्त्रियों ने अपने आभूषण तक उतार कर कालेज-फ़ण्ड में दिये। सर्वसाधारण में कालेज के लिये जो प्रवृत्ति काम कर रही थी, वह पहली प्रवृत्ति से कुछ भिन्न नहीं थी, किन्तु

कालेज सोसाइटी के सदस्यों अथवा उसकी स्थापना करने वालों में जो अग्रणी थे उनमें दूसरी ही प्रवृत्ति काम कर रही थी। वे ईसाइयों के मुक़ाबले में एक शानदार कालेज खड़ा कर 'हिन्दुत्व' की रक्षा करना चाहते थे। उनको आर्य सिद्धांतों, वैदिक उपदेशकों और समाज के प्रचार की इतनी चिन्ता नही थी। सम्वत् 1948 के मध्य ज्येष्ठ, सन् 1891 के मई मास में होने वाले कालेज की मैनेजिंग सोसाइटी के अधिवेशन में वैदिक ग्रन्थों की पढ़ाई के लिये अलग वैदिक विद्यालय की श्रेणी खोलने का प्रश्न आने पर कह दिया गया कि उससे सोसाइटी की रजिस्ट्री रद्द हो जायगी। सोसाइटी के उद्देश्यों में कालेज को आर्यसमाज के लिये उपदेशक तैयार करने का साधन नहीं बताया गया था और यह भी नहीं बताया गया था कि उसकी पाठविधि में वैदिक ग्रन्थों तथा प्राचीन इतिहास की पढ़ाई को प्रधानता दी जायगी। आम जनता कब किसी विषय की इतनी गहराई में जाती है? दिन-रात व्याख्यानों में सुनी जाने वाली बातों के बाद उसको, सोसाइटी के लिखित उद्देश्यों की जांच-पड़ताल करने की कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई।

इन दोनों प्रवृत्तियो को वैदिक भाषा मे श्रेय और प्रेय नाम दिया जा सकता है। आर्यसमाज को 'मिशन' मान कर धर्म-प्रचार के ध्येय से प्रेरित होकर काम करने वाली प्रवृत्ति को श्रेय कह सकते हैं और दूसरी को प्रेय।

परस्पर विरोध-भाव न होते हुए भी इस प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियॉ दोंनो दलों में बराबर बढ़ती चली जा रही थी। पृथिवी के पेट में ज्वालामुखी के फटने के सब सामान इकट्ठे हो रहे थे। दोनो ओर बारूद बिछ रहा था। उसको दियासलाई दिखाने की ही कमी बाक़ी थी।

स्कूल की पढ़ाई का विषय उपस्थित हुआ। यह विचार होने लगा कि उसमे हिंदी और सस्कृत की पढ़ाई का समावेश किस प्रकार किया जाय? संस्कृत पढ़ाने पर ऐसा बड़ा मतभेद नहीं था। मतभेद था इस पर कि संस्कृत पढ़ाई किस तरह जाय? यह विवाद शुरू होने से पहले 'प्रचारक' में भी डी. ए. वी. स्कूल और कालेज के लिये अपीलें निकला करती थीं और अलग स्कूल खोलने का यत्न करने वाले समाजों को वैसा न करके डी. ए. वी. कालेज के काम मे ही हाथ बॅटाने की सलाह दी जाती थी। मतभेद का श्रीगणेश स्कूल में संस्कृत की पढ़ाई की विधि को ही लेकर होता है। पण्डित गुरुदत्त जी ऋषि दयानन्द की पाठविधि के पूर्ण भक्त थे। वे अष्टाध्यायी पर लट्टू थे और वेद तक पहुॅचने के लिए उसको ही पहिली सीढ़ी समझते थे। उनके साथियों पर भी उनके इस विश्वास का इतना

गहरा प्रभाव पडा था कि मास्टर दुर्गाप्रसाद जी, जीवनदास जी, आत्माराम जी (अमृतसरी), प. रामभजदत्त जी चौधरी और मुंशीराम जी आदि की बगलों में भी उन दिनो अष्टाध्यायी दीखा करती थी। पण्डित गुरुदत्त जी ने ऋषि दयानन्द की योजना के अनुसार और उनकी पुस्तकों के ही आधार पर संस्कृत पढ़ाने पर ज़ोर दिया। स्कूल के संचालक हंसराज जी और लालचन्द जी इससे सहमत नहीं थे। कुछ समय विवाद, विचार और समझौते में निकल गया। पर, आर्य जनता में स्कूल में संस्कृत की पढ़ाई के अभाव की शिकायत बढ़ती ही गई। समाचार-पत्रो मे भी उसकी चर्चा होने लगी। कलकत्ता के 'आर्यावर्त' ने इस शिकायत की चर्चा सन् 1887 से ही शुरू कर दी थी। सन् 1889 से 'प्रचारक' में भी आर्य पुरुषों की शिकायत के लेख तथा पत्र निकलने शुरू हो गये थे। 'आर्य-पत्रिका' में किये गये समाधान से भी जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इस असन्तोष का रूप यह देखने मे आता है कि उपदेशक-क्लास खोलने का निश्चंय करके उसके लिये चन्दा इकट्ठा करने और अन्य सब योग्य व्यवस्था करने के लिये एक स्थायी कमेटी बनाई गई, जिसके मुंशीराम जी प्रधान थे, केदारनाथ जी मन्त्री, जीवनदास जी कोषाध्यक्ष और स्वामी रामानन्द जी उपेदशक। उक्त महानुभावो के अतिरिक्त पण्डित गुरुदत्त जी, रलाराम जी झेलम, धर्मचन्द जी अमृतसर, दयाराम जी गुजरात और सीताराम जी पेशावर आदि आर्य भाई भी इस विचार से सहमत थे। इस अस्थायी कमेटी के बनने के बाद शीघ्र ही पंजाब प्रतिनिधि-सभा की अन्तरंग-सभा ने उपदेशक-क्लास चलाने का निश्चय किया, मुंशीराम जी को उसके नियम आदि बनाने का काम सौपा गया और मन्त्री से कहा गया कि उपदेशक-क्लास के नाम से आने वाला रुपया अलग रखा जाय। इस आशय का प्रस्ताव अन्तरंग-सभा में सन् 1889 के अक्तूबर मास मे स्वीकृत किया गया था। उधर मुंशीराम जी ने अपने पत्र 'प्रचारक' में यह पहिले ही लिख दिया था कि जब तक कालेज-सोसाइटी उपदेशक-क्लास खोलना स्वीकार न करे तब तक उक्त कार्य के लिये सब धन पण्डित गुरुदत्त जी के पास भेजा जाय। इस सब कार्यवाही पर कालेज के सचालक आपे से बाहर हो गये। उन्होंने पण्डित जी पर भी नाना प्रकार के आक्षेप करने शुरू कर दिये। इन आक्षेपों से ही आलोचना-प्रत्यालोचना का काम शुरू हुआ। पर, पण्डित जी के प्रभाव ने उसको उग्ररूप धारण नही करने दिया। इस प्रकार आग सुलग ही रही थी कि पण्डित गुरुदत्त जी को भयानक बीमारी ने आ घेरा। सब आर्य भाई एक होकर उनकी सेवा-शुश्रूषा मे लग गये। सुलगती हुई आग में लपटें निकलनी ही बाक़ी थी कि पण्डित जी चल बसे और उनके बाद ही साईदास जी भी। दोनो

ओर के दो प्रभावशाली नेता उठ गये। ज्वालामुखी के मुख पर से आवरण हट गया। बारूद सुलग गयी।

संस्कृत को स्कूल की पाठविधि मे मुख्य स्थान दिलवा कर ऋषि दयानन्द की ही पाठविधि के अनुसार शिक्षा का क्रम नियत कराने के अभिलाषियों को अपने यतन में इतनी भी सफलता न मिली कि डी. ए. वी. कालेज में अलग ही उपदेशक-क्लास खोल दी जाती। कालेज के संचालक यूनिवर्सिटी से अपने स्कूल तथा कालेज का सम्बन्ध तोड़ने को तैयार न थे। वे समझते थे कि वैसा करने से कालेज टूट जायगा, उसके लिये न विद्यार्थी मिलेंगे और न रुपया ही। वह सम्भवतः ईमानदारी का मतभेद था, किंतु ईमानदारी अधिक दिन नहीं निभ सकी। जब तर्क-वितर्क और सार्वजनिक-विवाद से भी काम नही चला, तब सस्थाओं पर अधिकार जामने का यत्न शुरू हुआ। कालेज की मैनेजिंग सोसाइटी, लाहौर के आर्यसमाज और पंजाब की प्रतिनिधि-सभा एवं अन्तरंग-सभा मे अपना-अपना बहुमत करके अधिकार प्राप्त करने के यत्न के पीछे ही कलह ने भयानक रूप धारण किया। प्रजातन्त्र-संस्थाओं के सार्वजनिक चुनाव की सर्वव्यापक बुराइयो से आर्यसमाज भी बच नहीं सकता था। फिर तब, जब कि उसमें ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य की चिनगारियॉ पूरी तरह सुलग चुकी थी। एक-दूसरे को गिराने के लिये छिद्रान्वेपण होने लग गया था। मांस-भक्षण के सम्बन्ध में पहिले ही चर्चा शुरू थी। उसने अब इतना उग्र रूप धारण किया कि इस गृह-कलह को ऊपर से देखने वाले उसको ही इसका प्रधान कारण समझते हैं। मास-भक्षण का प्रश्न पजाब के बाहर भी फैला, किंतु उतना नही। मांस-भक्षण के साथ ही यह भी प्रश्न उठा कि ऋषि दयानन्द को कहाँ तक प्रमाणित माना जाय? मास-भक्षण के विरोधी उनको निर्भ्रान्त मानते और उनके 'सत्यार्थप्रकाश' आदि ग्रन्थो के एक-एक अक्षर को प्रमाण मानने का आग्रह करते थे। मास-भक्षण के समर्थक पहिले तो स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों और वैदिक शास्त्रो से अपने पक्ष के समर्थन करने का प्रयत्न करते थे। जब उसमे सफल नही होते थे, तब स्वामी दयानन्द को पूर्णत: प्रमाण तथा भूल से बिलकुल परे मानने से भी इनकार कर देते थे। इसी विवाद का एक रूप विचार-स्वातन्त्र्य भी था। वह यह कि हर एक व्यक्ति की अपनी कुछ स्वतन्त्रता है। अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सोचने और उसके अनुसार कुछ करने का भी उसे अधिकार है।

सम्वत् 1969 के 'प्रचारक' में 'आर्यगजट' के प्रतिवाद में मुशीराम जी ने तीन लेख लिखे थे, जिनमें इस गृह-कलह पर भी कुछ प्रकाश डाला गया था।

उन्होने लिखा था कि "मांस-भक्षण को वेदानुकूल मानना तो उस मुख्य मतभेद का एक गौण परिणाम है। मुख्य मतभेद क्या था? शिक्षा का आदर्श। स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त जी और उनके प्रशसक तथा शिष्य जिनमें प्रधान लाला रलाराम थे, यह कहते थे कि जब तक प्राचीन आर्य शिक्षा पद्धति का प्रवेश दयानन्द कालेज मे न होगा, तब तक ऋषि दयानन्द का उद्देश्य उससे पूर्ण नहीं हो सकेगा। किन्तु श्री हसराज जी तथा उनके साथी, जो अब कल्चर्ड कहलाते हैं, अधिकतः इगलिश तथा पदार्थ-विज्ञान की शिक्षा के पक्षपाती थे।...उस झगड़े की तह में आदर्श का मतभेद था। पुराने वैदिक समय का आदर्श सर्वोपरि रहे वा उसको यूरोपियन आदर्श के नीचे दबाया जावे? मतभेद का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि कल्चर्ड महाशय इस यूरोपियन धर्म-सूत्र के अनुयायी बन गये कि उद्देश्य पवित्र हो तो उसकी सिद्धि के लिये अपवित्र साधनो का प्रयोग करने में कोई दोष नही।"

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से लिखी गई अपनी जीवनी के तीसरे परिच्छेद का लिखना, मालूम होता है, चरित्रनायक ने देहावसान के कुछ ही दिन पहले शुरू किया था, क्योंकि उसके कुल तेरह ही पृष्ठ उनके अपने हाथ के लिखे हुए मिलते है। उन पृष्ठों मे इस गृह-कलह की ही कहानी शुरू की गई थी और उसका अभी उपोद्घात भी पूरा नहीं हुआ था। उस उपोद्घात् से यह पता लगता है कि लाहौर आर्यसमाज के संचालन की बागडोर एक ऐसे जत्थे के हाथ में थी, जो उसको अपने हाथो में से निकलने नही देना चाहता था। इस जत्थे मे जो लोग शामिल थे, वे लगभग सभी मांसाहारी थे। उनका पहिला सिद्धान्त यह था कि जैनियो के अहिसा व्रत की अति ने आर्य सन्तान को दास बनाया है, इसलिये उसका अतिक्रमण ही भारत का उद्धार कर सकता है। दूसरा यह था कि उद्देश्य पवित्र होने पर कैसे भी साधन काम मे लाये जा सकते हैं तीसरा यह कि सिवा उनके कोई और ऋषि दयानन्द के रहस्यपूर्ण गूढ उद्देश्य को नही समझ सकता। इसलिये भी वे नीतिमानों की अपनी ही गोष्ठी के हाथों मे आर्यसमाज का सचालन रखना चाहते थे।

ऋषि दयानन्द के निर्वाण के बाद परोपकारिणी-सभा का जो पहिला वार्षिकोत्सव हुआ था, उसमें इस जत्थे ने अपनी इस नीति का स्पष्ट परिचय दिया था। स्वर्गीय श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा और रावबहादुर गोपालराव देशमुख के प्रस्ताव पर वहाँ उपस्थित आर्य पुरुषों से कहा गया कि वे हस्ताक्षर करें कि उन सब बातों को सत्य मानते हैं, जिनका स्वामी जी उपदेश करते थे। वहाँ उपस्थित सबने हस्ताक्षर कर दिये, किन्तु लाहौर वालों ने हस्ताक्षर नहीं किये। दयानन्द-कालेज खोलने के

स्थान का प्रश्न आने पर भी वे सिवा लाहौर के और किसी दूसरी जगह को मानने को तैयार न हुए, हालॉकि फर्रुखाबाद वाले अपने वहॉ के लिये एक लाख से अधिक रुपया एकदम देने को तैयार थे। इन लोगों को अपनी 'क़ौमियत' और 'क़ौमी हमदर्दी' का भी बहुत अभिमान था। सबसे बड़ी बात यह थी कि ये लोग ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों को जंज़ीरों मे जकड़े रहना भी पसन्द नहीं करते थे। लाला रलाराम जी ने 27 पौष सम्वत् 1948 के 'प्रचारक' में एक विस्तृत लेख में यह प्रश्न किया था कि नास्तिक अर्थात् वेदों को न मानने वाले आर्यसमाज के अग्रणी और अधिकारी कैसे हो सकते हैं? उनको उस समय के लाहौर-आर्यसमाज के अधिकारियों के उक्त जत्थे के विरुद्ध यह शिकायत थी के वे वेदों को नही मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि लाहौर की इस नेता-पार्टी के असूल आर्यसमाज के असूलो की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थे। चरित्रनायक के अपने हाथ के लेख का सारांश यहॉ केवल इसलिये दिया गया है कि इससे लाहौरी आर्य-नेताओ की उस मनोवृत्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई भ्रम न रहे, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। शिक्षा के आदर्श-सम्बन्धी इस मतभेद का लाला लाजपतराय जी ने भी पण्डित गुरुदत्त जी की अंग्रेज़ी में लिखी गई जीवनी में वर्णन किया है और माना है कि यही मतभेद गृह-कलह का मुख्य कारण था।

संक्षेप में ये ही उस गृह-कलह के कारण थे, जिन्होने एक स्रोत से निकली हुई गंगा की पवित्र शीतल धारा की दो नहरें बना दी। श्रेय और प्रेय मार्ग की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियॉ जिन कारणों से एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग हो गई, उनमें पहिले ईमानदारी थी, फिर पारस्परिक छिद्रान्वेषण की मनुष्य की स्वाभाविक कमज़ोरी तथा अधिकार की लालसा का भी समावेश हुआ और उनका अन्त हुआ पारस्परिक सन्देह तथा अविश्वास में। पारस्परिक सन्देह तथा अविश्वास से फटे हुए हृदयो का मिलना सीमेण्ट की फटी हुई दीवार के जुड़ने से भी कहीं अधिक कठिन है।

(ख) उसका रूप

कालेज खुलने पर उसके प्रिंसिपल की नियुक्त का प्रश्न उपस्थित हुआ। साईदास जी, हंसराज जी की और दूसरे लोग पण्डित गुरुदत्त जी को कालेज का प्रिंसिपल बनाना चाहते थे। दोनों के शिक्षा के आदर्श मे गंगा जमुना से भी अधिक अन्तर था। पण्डित जी को प्रिसिपल न बना कर हंसराज जी को ही प्रिंसिपल बनाया गया। आपस की पहिली कसक इसी से पैदा हुई। पण्डित गुरुदत्त जी वेतन लेकर

कालेज मे प्रोफेसर बना नही चाहते थे और् अवैतनिक रूप में सेवाभाव से दो-तीन घण्टे वेद पढाने को बहुत उत्सुक थे। परन्तु कालेज के संचालकों को वेद की पढ़ाई की न इतनी इच्छा थी और न आवश्यकता ही। उन्होने उनको साइन्स पढ़ाने के लिये कहा, जिसके लिये वे तैयार नहीं हुए। इस असली घटना पर टीका-टिप्पणी यह की गई कि उनकी अभिलाषा प्रिंसिपल बनने की है। इस प्रकार पण्डित गुरुदत्त जी का कालेज से बिलकुल अलग रखा जाना भी उनके मित्रों को बुरी तरह खटका। यथार्थ बात को छिपा कर उन पर की गई टीका टिप्पणी ने आग में घी डालने का काम किया। पण्डित जी ने तो उस समय बड़ी गम्भीरता का परिचय दिया किन्तु उनकी मित्रमंडली उन पर होने वाले आक्षेपों को सहन नही कर सकी। साईदास जी, हसराज जी आदि के मांस-भक्षण की चर्चा होने लगी। दोनों ओर के लोग एक-दूसरे को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे और परस्पर छिद्रान्वेषण करने में लग गये। साईदास जी लाहौर-आर्यसमाज के प्रधान थे। मांस-भक्षण को लेकर उनको उससे अलग करने का प्रश्न भी उठाया गया। शीघ्र ही दोनो ओर हठ और दुराग्रह भी पैदा हो गया, जिससे परस्पर घृणा और मनोमालिन्य भी उत्पन्न हुआ। इसी बीच में पण्डित गुरुदत्त जी और साईदास जी का देहान्त हो गया। साईदास जी की जगह हंसराज जी लाहौर आर्यसमाज के प्रधान हुए। जिनको साईदास जी के ही प्रधान रहने मे आपत्ति थी, वे इन चुनाव से कब सन्तुष्ट हो सकते थे? साईदास जी का तो कुछ प्रभाव भी था, किन्तु हसराज जी उलटे अप्रिय थे। उनके अप्रिय होने का कारण एक तो उनका रूखा और कडा स्वभाव था, दूसरे उनके भाई मुलखराज ने खुल्लम-खुल्ला मास-भक्षण का आन्दोलन शुरू करके उनको और भी अधिक अप्रिय बना दिया था। इतने अप्रिय होने पर भी हंसराज जी कालेज के प्रिंसिपल, लाहौर-आर्यसमाज के प्रधान और पजाब-प्रतिनिधि-सभा के भी प्रधान थे। उनको इन पदों पर बनाये रखने तथा उनसे अलग करने के लिये प्रान्तभर के समाजो मे अपनी-शक्ति बढ़ाने का काम शुरू हुआ। 1891 का सम्पूर्ण वर्ष इस शक्ति के बढाने और परस्पर कटाक्ष तथा आक्षेप करने में ही बीता। इस वर्ष के अन्त मे हंसराज जी ने लाहौर-आर्यसमाज के प्रधान-पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर मास्टर दुर्गाप्रसाद जी प्रधान हुए। आप बहुत तेज स्वभाव के थे और पण्डित गुरुदत्त जी के अन्यतम अन्तरग साथी थे। आपके प्रधान होने के बाद आर्यसमाज के अधिवेशनो मे मांस-भक्षण की चर्चा ने जोर पकडा और मास खाने वालो पर सीधे आक्रमण होने लगे। लाहौर-समाज की अन्तरंग-सभा के अधिवेशन कुरुक्षेत्र के मैदान बन गये। नये

सदस्य बना कर और पुराने सदस्यो का अपने पास से चन्दा देकर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये जा-बेजा सब साधन काम में लाये गये। व्याख्यान, उपदेश, समाचार-पत्र आदि में पारस्परिक आक्रमणों के सिवा और कुछ नहीं होता था। जालन्धर के प्रायः सभी आर्यसमाजियां की सहानुभूति प्रारम्भ से ही पण्डित गुरुदत्त जी और उनके बाद मास्टर दुर्गाप्रसाद जी के साथ थी। मुंशीराम जी उनके नेता थे और उनके पत्र 'प्रचारक' ने मास्टर जी के दल का दिल खोल कर साथ दिया। 'प्रचारक' के मुक़ाबले में लाहौर से 'भारत-सुधार' पत्र निकाला गया, किन्तु उसके लेखों मे उतना बल नहीं था। मुंशीराम जी की उदार वृत्ति, सेवा के भाव, चरित्र के बल, सिद्धान्त के लिये हानि सहने तथा कष्ट उठाने के अभ्यास और अन्त तक मित्र का साथ निभाने के सद्गुणो से मास्टर जी के दल को विशेष बल मिला। उनकी लेखनी में जो शक्ति थी, वह भी 'प्रचारक' के द्वारा उनके काम आई। लाहौर में मास्टर जी के दल का, स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त जी के कारण, विद्यार्थियो और नवयुवको पर विशेष प्रभाव था। बाहर के समाजों में मुशीराम जी का पहिले ही अच्छा प्रभाव और प्रतिष्ठा थी। 'प्रचारक' की धाक भी अच्छी जमी हुई थी। मास्टर जी और मुंशीराम जी मे अतिथि-सेवा का एक विशेष गुण था। इसलिये उनके मित्रों की संख्या भी बहुत थी। मास-भक्षण का प्रश्न सामने आने पर उपदेशक और संन्यासी भला कब उनसे अलग रह सकते थे? इस प्रकार वाणी, लेखनी और प्रचार की तीन प्रबल शक्तियाँ उनके साथ थीं। इसीलिये लाहौर से बाहर के समाजो पर भी उनका ही विशेप प्रभाव था। सन् 1892 का वर्ष भी इसी प्रकार के झगड़े मे बीता। एक-दूसरे के लिये असभ्य, अश्लील एव गन्दी भाषा का प्रयोग करना, परस्पर लाछन लगाना और अपमानित करना, साधारण बातें थीं। साधारण सभासदो को बहका कर अपने पक्ष मे लाने के लिये सभी साधन काम मे लाये गये। एक-दूसरे की निजी चिट्ठियाँ तक चुरा कर समाचार-पत्रो मे छापी गई। सन् 1892 के अन्त में लाहौर-आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर गृह-कलह की अग्नि बडे जोरो से धधक रही थी। हसराज जी के दल के लोग समझ गये कि स्थानीय समाज उनके हाथ में नही रह सकता इसलिये उन्होंने कालेज का पूरा अधिकार जाये रखने का यत्न किया। स्वर्गीय लालचन्द जी एम. ए के मकान पर सम्भवत· अक्तूबर के महीने मे हंसराज जी के दल की सभा हुई। बच्छोंवाली-समाज-मन्दिर पर अधिकार करने के प्रश्न पर विचार हुआ। कुछ लोग पुलिस की सहायता तक लेना चाहते थे। अन्त मे अलग होने का ही निश्चय किया गया। दूसरे दिन अनारकली मे भगत ईश्वरदास जी के मकान पर दल की

एक सभा होकर अलग होने का निश्चय हो गया। अनारकली में समाज की वर्तमान जगह ही पहिले किराये पर ली गई, फिर उसको ख़रीद लिया गया। नवम्बर में आर्यसमाज का सोलहवाँ उत्सव भी दो जगह हुआ। दयानन्द ऐंगलो-वैदिक-हाई-स्कूल कालेज वालों के हाथ में था। उनकी ओर से होने वाला उत्सव वहाँ हुआ, दूसरा बच्छोवाली समाज-मन्दिर में। धर्म-चर्चा के अवसर पर मास-भक्षण की ही चर्चा हुई और उसको लेकर आपस में डण्डा भी चल गया। वैसे दोनों ओर के उत्सव सफलतापूर्वक हो गये। पर, आपस में सन्देह और अविश्वास इतना अधिक घर कर गया था कि दोनों ओर के लोग अपने-अपने समाज-मन्दिर पर रात और दिन बराबर पहरा रखने लगे। स्कूल के मकान में, जो सम्मिलित सम्पत्ति थी, कालेज वालों का उत्सव करना मास्टर जी के दल को सहन नहीं हुआ। एक तो वे उस आर्यसमाज को ही अनियमित मानते थे, दूसरे संयुक्त सम्पत्ति को इस प्रकार काम मे लाना स्पष्ट ही अनुचित था। मास-भक्षण के समर्थन मे कुछ ट्रैक्ट भी छाप कर इस उत्सव पर बँटवाये गये थे। इस प्रकार कालेज दल की ओर से मास-भक्षण का खुल्लम-खुल्ला समर्थन किया जाने लगा था। लालचन्द जी ने प्लेटफार्म से उसका समर्थन करते हुए यहाँ तक कहा था कि आर्यसमाज के दस नियमो में मांस-भक्षण का कहीं भी निषेध नहीं है और उसका धर्म अथवा सदाचार के साथ भी कोई सम्बन्ध नही है। लाहौर-आर्यसमाज में कलह ने ऐसा रंग दिखाया कि उस वर्ष चार चुनाव हुए। लाहौर से बाहर के समाजों का युद्ध-क्षेत्र प्रतिनिधि-सभा का वार्षिक अधिवेशन बना। इस ऐतिहासिक अधिवेशन की कार्यवाही सायंकाल 6 बजे शुरू होकर दूसरे दिन सवेरे 6 बजे तक होती रही। इसमे महात्मा-दल का बहुमत था। कालेज वालो ने अडगा नीति से काम लिया। इस पर भी उनको परास्त होना पडा। हंसराज जी की जगह मुशीराम जी प्रतिनिधि सभा के प्रधान और ईश्वरदास जी की जगह दुर्गाप्रसाद जी मन्त्री चुने गये। इस प्रकार प्रनिनिधि सभा भी जब हाथ से निकल गई, तब कालेज का पूरा अधिकार बनाये रखने का अन्तिम यत्न किया गया। उसके लिये कालेज सोसाइटी के नियम तक बदले गये और उनके अर्थो का अनर्थ करते हुए नयी व्याख्या भी की गई। दूसरे दल के सभासदों की सख्या कम करके अपना बहुमत बनाने के लिये जा-बेजा सब कार्यवाही की गई। 28 मई, 1893 को कालेज सोसाइटी का वह अधिवेशन हुआ, जिसके बाद दोनो दल फिर कभी दृढ़ता के साथ एक नही हो सके। स्कूल मे वह अधिवेशन रखा गया और उसके दरवाजे पर डण्डो वाले स्वयसेवको को तैनात किया गया। दूसरे दल के लोग भी 'धर्म पर जान जाती है तो जाने दो' के गीत

गाते हुए शक्ति आजमा कर अन्तिम फैसला करने की ही इच्छा से प्रेरित होकर वहाँ गये। कालेज वालों ने जिसको चाहा, उसको ही भीतर जाने दिया। जब कुछ लोगों ने अन्दर जाने का आग्रह किया तो दरवाजे पर डण्डा चल गया। कुछ लोगों के सिर तक फूट गये। दोनों ओर से पुलिस में रिपोर्ट भी दर्ज़ कराई गई। दूसरे दिन अधिवेशन में बहुत गरम बहस हुई। भक्तराम जी के कुछ शब्दों पर उनसे माफ़ी मॉगने के लिये कहा गया, तो दूसरी ओर से भी माफ़ी माँगने की बात उठाई गई। मुंशीराम जी यह घोषणा करके अपने सब साथियों के साथ वहॉ से उठ कर चले आये कि–''तुम हमको इस शानदार मकान से निकाल सकते हो, पर वेद और धर्म हमारे हृदय में से नहीं निकाल सकते।'' हंसराज जी सरीखे मितभाषी व्यक्ति ने भी मुशीराम जी और दुर्गाप्रसाद जी पर प्रतिनिधि सभा की दृष्टि से आवेश में आकर यहॉ तक कह दिया–''धिक्कार है प्रधान को और धिक्कार है मन्त्री को।'' भक्तराम जी के इन शब्दों पर कि 'यहॉ सब कार्यवाही धर्मविरुद्ध हो रही है', लाला लाजपतराय जी सरीखे व्यक्ति भी आवेश में आ गये और उन्होने भी हंसराज जी के शब्दों को दोहराया। नेताओं के आवेश का जब यह हाल था, तब अनुयायियों के आवेश का अनुमान सहज में किया जा सकता है।

इस प्रकार लाहौर आर्यसमाज, प्रतिनिधि-सभा और कालेज तीनों की दृष्टियों से दोनों दल बिलकुल अलग-अलग हो गये, कितु दोनों ही निर्भर करते थे सर्वसाधारण आर्य जनता पर। इसलिये आर्य जनता को अपने पक्ष मे करने की कोशिशों से लाहौर में प्रगट हुई गृह-कलह की यह अग्नि समस्त पजाब मे दावानल की तरह फैल गई। सन् 1893 से 1897 तक के चार वर्ष इसी महायुद्ध की भेट हो गये। पजाब का ऐसा कोई भी समाज नही बचा, जिसने इस महायुद्ध मे भाग नही लिया।

इस महायुद्ध में मुख्य विवादात्मक प्रश्न मांस-भक्षण का बन गया, यद्यपि उसके प्रारम्भिक काल में यह बिलकुल गौण था। ऐसा प्रतीत होता है कि मास-भक्षण को पहिले व्यक्तिगत कमजोरी समझ कर उसकी उपेक्षा की जाती रही। परस्पर मतभेद होने पर जब एक-दूसरे की आलोचना और छिद्रान्वेषण होने लगा, तब उसका समर्थन वेद, शास्त्र और ऋषि दयानन्द के नाम से होने लगा। उसमें भी जब सफलता न मिली, तब आर्यसमाजों में उसके अनुकूल लोकमत बनाने और उसके लिये व्यवस्थाये मॉगने की चेष्टा की जाने लगी। दूसरी ओर से यह आवाज उठाई गई कि मांस-भक्षण और उसका समर्थन करने वाला आर्यसमाज का सभासद् नहीं रह सकता। कुछ समाजों ने ऐसे प्रस्ताव भी स्वीकृत किये और उनके अनुसार

कठोरता से भी काम लेना शुरू कर दिया। जोधपुर मे मास-भक्षण के सम्बन्ध मे किये गये यत्नो को सक्षेप मे यहॉ दे देना आवश्यक है। इस एक उदाहरण से गृह-कलह के पीछे काम करने वाली मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

जोधपुर-राज के प्रबन्धकर्त्ता मेजर-जनरल सर प्रतापसिंह ऋषि दयानन्द के परम भक्त और वैदिक धर्म के अनुयायी होते हुए भी यह मानते थे कि क्षत्रिय-राजपूतों को अपनी वीरता क़ायम रखने के लिये मास अवश्य खाना चाहिये। लाहौर में मांस का प्रश्न उठते ही सन् 1893 में साधु प्रकाशानन्द को जोधपुर इसीलिये भेजा गया कि वे वहॉ से कालेज दल का समर्थन करावे। साधु प्रकाशानन्द ने वहॉ अच्छा जाल बिछाया और समाचार-पत्रो के सम्पादकों तथा उपदेशकों से मांस-भक्षण के पक्ष में व्यवस्थाये दिलवाने की अच्छी लीला रची। मांस-भक्षण के समर्थन के लिये पारितोषिक के रूप मे लाहौर के 'भारत-सुधार' को 100 रु. और फिरोजपुर के 'आर्यगज़ट' को 200 रु. दिलवाये गये। इसी प्रकार कुछ आर्य पण्डितों के भी हाथ गरम किये गये। आगरा-कालेज के संस्कृत के हैड पण्डित ठाकुरप्रसाद जी ने 'राजस्थान-समाचार' मे मांस-भक्षण के सम्बन्ध मे लेख लिख कर उसको वेदानुकूल सिद्ध करने का चैलेज दिया। इसका उनको यह इनाम मिला कि जोधपुर-आर्य समाज का उनको हैड पण्डित बना दिया गया। बम्बई के स्वामी गट्टुलाल और स्वामी अचेतानन्द ने भी मास-भक्षण का समर्थन करके अपना मतलब सीधा किया। जोधपुर-आर्यसमाज मे इस आशय के प्रस्ताव भी स्वीकृत किये गये कि "प्रतिष्ठित आर्यसमाजी और सद्गृहस्थो से यह पता चला है कि वेदो में मास-भक्षण लिखा है और स्वामी जी के ग्रन्थो से विदित हुआ है कि हानिकारक जीवों को मारने की आज्ञा वेदो मे है, इसलिये हमारा समाज मास-भक्षण को पाप नही समझता ओर सब समाजो से निवेदन है कि मास-भक्षण को पाप मानने वालों के व्याख्यान कराने की आवश्यकता नहीं।" जोधपुर-आयर्ससमाज की ओर से मास-भक्षण के समर्थन में पॉच पुस्तिकाये भी निकाली गई। पण्डित लालमणि को मास-भक्षण का समर्थन करने पर 50 रु. महीने की नौकरी दिलवाने और प. कालूराम को भी कुछ ऐसी ही आशा दिलवा कर मास-भक्षण का समर्थन करवाने के लिये लिखे गये साधु प्रकाशानन्द के कुछ पत्र भी पकडे गये। साधु प्रकाशानन्द का साहस इतना वढा कि उसने मेरठ से पण्डित गगाप्रसाद जी. एम. ए. और इलाहावाद से पण्डित भीमसेन जी की निमन्त्रण-पत्र भिजवा कर जोधपुर बुलवा भेजा। पण्डित गुरुदत्त जी के बाद प. गंगाप्रसाद जी की विद्वत्ता की आर्यसमाज मे धाक थी।

प. भीमसेन जी ऋषि दयानन्द के शिष्य और इलाहाबाद से निकलने वाले 'आर्य-सिद्धान्त' के सम्पादक थे। पण्डित भीमसेन जी की दृढता पर लोगों को सन्देह था। पण्डित लेखराम जी को मांस-विरोधी-दल की ओर से पण्डित भीमसेन जी को सम्हालने के लिये भेजा गया। पण्डित भीमसेन जी और पण्डित गंगाप्रसाद जी 2 अगस्त सन् 1893 को वहाँ पहुँचे। पण्डित गंगाप्रसाद जी ने साधु प्रकाशानन्द के इशारे पर खेलने से साफ़ इनकार कर दिया। पण्डित भीमसेन जी 4 अगस्त को महाराज प्रतापसिंह से मिले और दबे शब्दों में कह आये कि वेद मे तो मांस-भक्षण का खण्डन है, किन्तु हिंसक पशुओं का वध पाप नहीं, इसलिये उनका मांस खाने में दोष भी नहीं है। बस, साधु प्रकाशानन्द ने इतने ही पर चारों ओर फैला दिया के पण्डित जी ने मांस-भक्षण का समर्थन किया है। पण्डित लेखराम जी ने 5 अगस्त को वहाँ पहुँच कर पण्डित भीमसेन जी को आडे हाथों लिया और उनको दबाया कि वे स्पष्ट ही मांस-भक्षण को दोषयुक्त बतावें। दूसरे दिन पण्डित जी जब विदाई लेने गये तो मांस-भक्षण का स्पष्ट खण्डन कर आये। लोगो की यह आम धारणा है कि यदि पण्डित भीमसेन जी विदाई के समय वैसा न करते तो उनको एक हज़ार भेट में मिल जाते, किन्तु उसके आधे 500 रु. ही मिले। जोधपुर में की गई साधु प्रकाशानन्द की ये सब हरकतें इतनी घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगीं कि लाहौर वालों को भी कहना पडा कि हमारा जोधपुर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में लाहौर या पजाब पर तो उसका प्रभाव ही क्या पड़ना था? राजस्थान-प्रतिनिधि-सभा ने बडे साहस का परिचय दिया। उसने जोधपुर के प्रस्तावों का विरोध किया और साधु प्रकाशानन्द को समाज से अलग कर दिया। अजमेर-आर्यसमाज ने मास-भक्षण और उसका समर्थन करने वालों को समाज की सभासदी से अलग करने का प्रस्ताव भी स्वीकृत किया।

जोधपुर के यत्न मे असफल होने के बाद मास-भक्षण के समर्थको ने परोपकारिणी-सभा पर भी हाथ साफ किया। आगरा मे उसका एक अनियमित अधिवेशन 27 दिसम्बर सन् 1897 को करके कर्नल प्रतापसिह को सभापति उद्घोषित किया और मास-भक्षण के समर्थन में प्रस्ताव भी स्वीकृत करा लिया।

सन् 1897 तक इसी प्रकार की कार्रवाइयाँ होती रही और स्थान-स्थान पर दो समाजें बनाने का भी यत्न होता रहा। मांस-भषण के विरोधी समाज प्रतिनिधि-सभा के साथ रहे और दूसरे कालेज के साथ।

(ग) उसका परिणाम

इस गृह-कलह का परिणाम शुभ नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही आर्यसमाज की शक्ति को उससे बहुत बड़ा और गहरा धक्का लगा। उसकी प्रतिष्ठा और प्रचार में भी बाधा पहुँची। संयुक्त तथा सुसंगठित आर्यसमाज कुछ और ही शक्ति होता। पर, स्वनामधन्य लाला लाजपतराय जी का यह मत है कि इससे समाज को लाभ ही हुआ है। उन्होंने अपनी जीवनी मे लिखा है कि "वहाँ हिम्मत, उत्साह और साहस से उन्होंने, दोनों दलों के लोगों ने, समाज की सेवा में वे त्याग किये, जो इतिहास में पूजने योग्य हैं और सदा याद रहेंगे। वूढ़े और युवक, अमीर और गरीव सवने अपनी शक्ति और हैसियत से बढ़ कर काम किया। कालेज की सहायता के लिये सब एक एक महीने की अपनी आमदनी पहले ही दे चुके थे। बहुत से नियमित रूप से मासिक चन्दा भी देते थे, कितु अब फिर नये सिरे से चन्दे लिये गए और सबने खुशी-खुशी दिये। महात्मा दल ने वेद-प्रचार-कोष, कन्या-महाविद्यालय और स्थानीय स्कूलों के लिये उसी हौसले से चन्दे दिये। लोगों को यह सन्देह होने लगा कि कदाचित् दोनो दल अपना चन्दा बढ़ाने के लिये ही लड़ रहे हैं। दल की सेवा में कालेज के उत्साही युवक लाला साईंदास जी के बडे पुत्र लाला सुन्दरदास जी ने अपनी जान तक खो दी। इसी तरह महात्मा-दल के उत्साही युवक श्री लब्भूराम जी ने अपने को अपने दल की सेवा में बलि चढ़ा दिया। लाला हंसराज और लाला मुंशीराम ने भी अपने दायित्व को बहुत उत्साह, हिम्मत और सहनशीलता के साथ निभाया और अपने-अपने दल की सेवा में अपने को मिटा दिया।"

पर, मुशीराम जी की दृष्टि दूसरी थी। वे इस लाभ से सन्तुष्ट नहीं थे। उनकी दृष्टि में इस कलह से आर्यसमाज को हानि ही हानि हुई। सम्वत् 1966 मे आपने 'प्रचारक' में आर्यसमाज को दृढ़ करने के सम्बन्ध में कई लेख लिखे थे। पहिला लेख 14 ज्येष्ठ के अंक मे प्रकाशित हुआ था। लेख बहुत विस्तृत है और उससे मुशीराम जी के व्यक्तित्व और विचार-शैली का भी अच्छा परिचय मिलता है। लाला लाजपतराय जी के बताये हुए जिन लाभों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनको पूर्वपक्ष के रूप में देते हुए आपने उस लेख में लिखा था कि "यदि रुपये ही से सब उद्देश्य पूरे हो सकते हैं तो क्या दोनों दलों की सारी संस्थाओं की जायदाद लाहौर के एक राय रामशरणदास की जायदाद का मुकाबला कर सकती है? यदि उपदेशकों की संख्या पर ही वैदिक धर्म की उन्नति निर्भर

हो तो क्या छोटे से छोटे पौराणिक साधुओ के अखाडे के चेलों का भारत के सब आर्योपदेशक मुक़ाबिला कर सकते हैं? यदि घरेलू युद्ध की आरम्भिक तिथि से पहले की अवस्था के साथ उसके बाद की अवस्था की तुलना की जाय तो नफ़े नुक़सान का हाल भली प्रकार विदित हो जायगा। ऐसे आदमियों को अपनी ओर से पिछला चन्दा दाख़िल करके आर्य सभासद् बनाया गया जिन्होंने तीन-तीन चार-चार वर्षो से समाज मन्दिर में पैर नहीं रखा था। अतरंग-सभा में सम्मतियाँ विषय की उत्तमता के विचार से नहीं दी जाती थीं, प्रत्युत पार्टी के हानि-लाभ के विचार से दी जाती थीं। अपनी मतलब-सिद्धि के लिये घृणित से घृणित साधनो का भी प्रयोग होने लग गया था। जो लोग पहिले सोसाइटी के डर से दुराचारो से डरते थे, वे खुल्लम-खुल्ला दुराचार करने लग गये। क्या कोई इनकार कर सकता है कि इस झगड़े का असर दोनों दलो के आर्यसामाजिक पुरुषों के आचरणों पर नहीं पड़ा उपदेशकों के आचरणों पर भी कोई अंकुश नहीं रहा। मैं आधी दर्जन से अधिक ऐसे दृष्टांत बतला सकता हूँ कि जहाँ प्रतिनिधि-सभा के दुराचार के कारण निकाले हुए उपदेशक मांस-पार्टी ने अंगीकार कर लिये। दूसरी पार्टी वाले ऐसे उपदेशकों के नाम बतला सकेगे जिनको उधर से निकाले जाने पर घास-पार्टी में शरण मिली। अव्यवस्था का राज्य चारों ओर दिखाई देता है और परस्पर के अविश्वास की कोई सीमा नहीं रही। एक प्रात की संस्था के विरुद्ध दूसरे प्रात वाले बिना रोक-टोक काम करते हैं। विविध प्रांतों के नेताओं का आपस में ऐसा अविश्वास है कि उसके रहस्य पर से परदा हटाना सहस्रों टरल हृदयों पर ठेस लगाना होगा। कोई गिरा से गिरा हुआ दुराचारी भी देखने में नहीं आता, जिसके पीछे दस-बीस आदमी न लग जायँ और वह सारी आर्यसामाजिक संस्थाओं को अगूठा न दिखा सके।" मुशीराम जी का आशय प्रगट करने के लिये उस विस्तृत लेख मे से ऊपर बीच बीच की कुछ पंक्तियाँ ही दी गई है। दोनों दृष्टिकोण पाठको के सामने रखने के लिये इतने लम्बे उद्धरण देने आवश्यक समझे गये हैं। दोनो से ठीक ठीक आशय निकालने का काम पाठको पर ही छोड़ देना उचित प्रतीत होता है।

लाहौर-समाज के बाद प्राय: समस्त पंजाब में हर जगह दो दो आर्यसमाज हो गये। समाजों की संख्या की दृष्टि से प्रतिनिधि-सभा का बल अधिक रहा। कालेज तथा स्कूल और उनकी सब सम्पत्ति कालेज-दल के हाथ में रही। बच्छोवाली-समाज-मन्दिर, उसके पुस्तकालय तथा रजिस्टर आदि सब काग़ज़ पत्रो पर और पंजाब-प्रतिनिधि-सभा के सब अधिकार तथा रजिस्टर आदि पर महात्मा-दल

का एकतन्त्र अधिकार हो गया।

इस गृह-कहल का एक परिणाम यह भी हुआ कि महात्मा-दल ने कालेज के लिये अपील और चन्दा इकट्ठा करना बन्द करके 'वेद-प्रचार' के कोष की स्थापना की। गृह-कलह के पहिले वर्ष सन् 1892 के लाहौर-आर्यसमाज के सोलहवें उत्सव पर मुशीराम जी ने कालेज के लिये ही अपील की, किन्तु शर्त यह थी कि यह रुपया कालेज को केवल वेद की पढ़ाई के लिये ही दिया जाय। उसके बाद सन् 1893 के सत्रहवें उत्सव से केवल वेद-प्रचार के लिये ही अपील होने लगी। इस प्रकार प्रतिनिधि-सभा से सर्वथा निराश होकर कालेज-दल ने अपनी पंजाब-प्रादेशिक सभा की अलग स्थापना की। श्री मुरलीधर जी इसके पहले प्रधान और श्री ईश्वरदास जी पहले मन्त्री नियुक्त हुए। इस दल की समाजों के वार्षिकोत्सवों पर कालेज के लिये ही अपील होती और महात्मा-दल के समाज वेद-प्रचार के लिये अपील और धन संग्रह करते थे। दोनों का अलग-अलग सगठन हो गया और अलग-अलग काम होने लगा।

(घ) मुंशीराम जी की स्थिति

यह प्रकरण इस जीवनी मे अधूरा ही रहेगा, यदि इसमें यह न दिखाया गया कि मुशीराम जी की इस गृह-कलह में क्या स्थिति थी? मुशीराम जी शुरू से ही दृढ सिद्धांतवादी थे। मांस-भक्षण का प्रश्न उनके लिये सिद्धात और आर्यत्व की रक्षा का प्रश्न था। इसके सम्बन्ध में कोई समझौता करना उनके लिये सम्भव नही था। पण्डित गुरुदत्त जी पर किए जाने वाले कटाक्ष वे एक क्षण के लिये भी सहन नही कर सकते थे। इसलिए उन पर किये गये कटाक्षो का उन्होने शुरू मे ही इस प्रकार उत्तर दिया, जैसे कि वे उन पर ही किये गये थे। वैसे अपने पर किये जाने वाले आक्षेपो का उत्तर देने वाले भी वे अन्तिम व्यक्ति थे। गालियां की सख्या एक सौ एक तक पहुँचे बिना वे क़लम नही उठाते। पर, जब कलम उठती थी तब श्रीकृष्ण के सुदर्शन का ही काम करती थी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि पण्डित गुरुदत्त जी पर किये जाने वाले आक्षेपो मे सचाई, न्याय और सभ्यता की इतनी हत्या हो चुकी थी कि मुशीराम जी के लिये उनका और अधिक सहन करना सम्भव नहीं था। इतने पर भी मुशीराम जी शुरू-शुरू मे समझौते के लिये पूर्ण चेष्टा करते रहे। वे उसके लिये ही कई बार लाहौर गये और दोनो ओर के नेताओं के घरों पर भी उन्होने कितने ही चक्कर लगाये। इस यादव-लीला का भयानक और दुःखद परिणाम उनकी आँखो के सामने था। उन्होंने कुरुक्षेत्र

की लडाई को टालने का श्रीकृष्ण के समान ही अन्त तक सचाई के साथ पूरा यत्न किया।

सम्वत् 1946 में गुरुदत्त जी के प्रति भ्रम पैदा करके जब साईदास जी को उनसे दूर करने की चेष्टा की जा रही थी, तब मुंशीराम जी केवल इस चेष्टा को विफल बनाने के लिये ही लाहौर गये थे। वहाँ वह पहले गुरुदत्त जी से मिले और उन पर किये जाने वाले आक्षेपों के सम्बन्ध में उनसे बात-चीत की। फिर साईदास जी के पास जाकर उनसे कहा—"लाला जी! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता-पुत्र मे लोग तो द्वेष फैलाने का यत्न करते हैं। आप क्यो नही स्वयं गुरुदत्त से स्पष्ट बातचीत करते?" पण्डित जी से बातचीत कराने के लिये साईदास जी को अपने साथ उनके मकान पर भी लाये, किन्तु पण्डित जी घर नही थे। मुशीराम जी ने लिखा है—"यदि उस दिन पण्डित गुरुदत्त घर होते तो शायद आर्यसमाज का इतिहास ही बदल जाता, परन्तु वे बाहर भ्रमण को चले गये थे। मैं जालन्धर चला आया। जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त मित्रों के अनुरोध पर मरी पर्वत चले गये थे।" इस प्रकार मुशीराम जी के प्रारम्भिक यत्न सफल नही हो सके और आर्यसमाज के इतिहास का अगला अध्याय उनकी इच्छा के प्रतिकूल विषैली गृह-कलह की दुःखपूर्ण कहानी के लंका-काण्ड मे परिणत हो गया।

लाहौर-आर्यसमाज के सोलहवें उत्सव से पहले, जब कि लाहौर में दो आर्यसमाज बनने के सब लक्षण साफ़ दीख पड़ने लगे, तब भी मुशीराम जी नवम्बर 1892 में लाहौर गये और उन्होंने आपस की कलह को टालने का भरसक यत्न किया। कालेज वालों ने सुलह के लिये जो शर्ते पेश की उनका आशय यह था कि रविवार के सुबह एक दल की ओर से और शाम को दूसरे दल की ओर से अधिवेशन हुआ करे, सप्ताह के बाक़ी छः दिनो में तीन-तीन दिन बारी-बारी से समाज पर एक-एक दल का अधिकार रहे। पाँच वर्ष तक मास-लक्षण के सम्बन्ध में किसी भी ओर से कोई भाषण न हो और न किसी के विरुद्ध कोई कार्यवाही ही की जाय। लाहौर-आर्यसमाज की कुल जायदाद आधी-आधी बॉट ली जाय। मुंशीराम जी समझा-बुझा कर मास्टर दुर्गाप्रसाद जी के दल को उक्त शर्तो को मानने के लिये तैयार करके उनकी ओर से लाला लाजपतराय जी के पास गये। 16 नवम्बर की शाम को डा. परमानन्द के यहाँ मास्टर दुर्गाप्रसाद जी और ला लाजपतराय जी का आपस में मिलना तय हुआ। पर, नियत समय पर लाला जी ने वहाँ न आकर कहला भेजा कि सुलह की बातचीत न होगी। उसके बाद फिर मुशीराम जी लाला जी के घर पर उनसे मिले। पर, लाला जी ने उदासीनता दिखाई

और मुशीराम जी निराश होकर 17 नवम्बर को जालन्धर लौट आये। लाहौर के दोनों दलों की फूट से दु:खी होकर उत्सव के बाद आपने जालन्धर आकर 'प्रचारक' मे लिखा—'दोनों के सम्बन्ध में मैं अपनी क़लम से कुछ नही लिखूँगा' और लिखा भी कुछ नहीं। 27 ज्येष्ठ सम्वत् 1951 में आपने अपने दल के लोगों को, जिसको 'महात्मा-दल' नाम दिया गया, यह सलाह दी कि 'कालेज सोसाइटी मे जाने की इच्छा छोड़ दें, वेद-प्रचार-निधि में शक्ति भर चन्दा दें, स्त्री-शिक्षा में अपनी शक्ति लगावें, उपदेशकों का प्रबन्ध करें और जोधपुर के मास-भक्षण के निर्णय को वाममार्गी निर्णय समझ कर उससे तथा मूलराज-पार्टी, कल्चर्ड पार्टी से किनारा करके धर्म-प्रचार में लग जावें।' इसी सलाह के अनुसार आपने अपने को पारस्परिक विवाद से अलग रख कर रात-दिन धर्म-प्रचार के लिये एक करके अपने दल के सन्मुख एक आदर्श भी उपस्थित किया।

कलह के बाद भी 'प्रचारक' मे सुलह के लिये बराबर चर्चा की जाती रही। 29 वैशाख सम्वत् 1952 के 'प्रचारक' मे 'आर्यसमाज मे नफ़ाक' शीर्षक से मुशीराम जी ने एक लेख लिखा, उसमे बताया कि किस प्रकार घर की फूट मिट सकती है? आपस की फूट का दुष्परिणाम आपने बताया कि उससे आपस का प्रेम नष्ट हो गया है, समाज की प्रतिष्ठा को गहरी चोट लगी है, धर्मभाव नहीं रहा और एक-दूसरे को दबाने की बराबर चेष्टा की जा रही है। इन दुष्परिणामों का उल्लेख करने के बाद आपने सुलह के लिये यह प्रस्ताव उपस्थित किये कि (1) मांस-भक्षण की समस्या का हल यह हो सकता है कि उसका प्रचार करना बन्द कर दिया जाय, (2) डी. ए. वी. कालेज का झगडा मिट सकता है यदि उसमें प्राचीन सस्कृत की पढाई को स्थान दिया जाय, बोर्डिग में ब्रह्मचर्याश्रम की पद्धति के अनुसार कार्य हो और मैनेजिग कमेटी मे दोनो दलों का प्रतिनिधित्व बराबर-बराबर हो, (3) प्रतिनिधि-सभा को रजिस्टर करा दिया जाय और तहरीरी और तकरीरी प्रचार का योग्य प्रबन्ध किया जाय, (4) पिछली सब बातों को भुला कर परस्पर प्रेम किया जाय, (5) स्त्री-शिक्षा मे भी बराबर हाथ बँटाया जाय और (6) अधिकार की लालसा को तिलाजलि दे दी जाय।

यह सचमुच बड़े दु:ख का विषय है कि मुशीराम जी के इन सब यत्नो के बाद भी गृह-कलह शान्त नही हुआ और उसका अवश्यम्भावी परिणाम समस्त आर्यसमाज को भोगना पडा।

मुंशीराम जी ने गृह-कलह के इस विषैले वातावरण में बड़ी शान्ति, सहनशीलता और सयम का परिचय दिया। अपने पर होने वाले व्यक्तिगत कटाक्षो का कभी

जवाब नहीं दिया। अन्य भी कटाक्ष-पूर्ण लेखों को 'प्रचारक' में यथासम्भव कभी स्थान नहीं दिया। आपकी अनुपस्थिति में यदि कभी ऐसे लेख निकल भी गये, तो उनके लिये खेद प्रगट किया और भविष्य में सावधानी से काम लिया। सैद्धांतिक दृष्टि से मांस-भक्षण और शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में 'प्रचारक' में बहुत अधिक चर्चा हुई, किंतु इस चर्चा में भी कभी अन्याय, असभ्यता अथवा पक्षपात से काम नहीं लिया। दूसरे पक्ष के प्रति किये गये समान व्यवहार को दिखाने के लिये एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। हंसराज जी के बड़े भाई मुलखराज जी ने गोरखपुर-आर्यसमाज के मन्त्री ऊधोदास जी को आगे करके उनके ही नाम से मुंशीराम जी को यह सिद्ध करने के लिये चैलेंज दिया कि ऋषि दयानन्द मांसाहार के विरोधी थे और एक आर्य मांसाहार करने से आर्यत्व से च्युत हो जाता है? मुंशीराम जी ने चैलेंज स्वीकार करते हुए उनको लिखा कि आप पन्द्रह दिन मे अपना सब वक्तव्य लिख भेजें या आठ सप्ताह तक बराबर दो-दो पृष्ठ लेते चले जाये। आपका वक्तव्य समाप्त होने के बाद ही मैं लिखना शुरू करूँगा। अथवा, आप एक ट्रैक्ट लिखें और मैं भी जवाब में उतने ही पृष्ठ का ट्रैक्ट लिखूँगा। दोनों की एक साथ एक हजार प्रतियाँ छपवा कर छः सौ समाजों में बाँटी जाये और दो-दो सौ लेखक अपनी इच्छानुसार बाँट ले। या, दोनो अपना-अपना ट्रैक्ट लिख कर छपवायें, उसको चाहे मुफ़्त बँटवाये, या कीमत पर बेचे। इसमे पृष्ठो की क़ैद नही रहेगी। मुलखराज जी ने पहिली बात स्वीकार की और मांस-भक्षण के समर्थन में 'प्रचारक' में उनके सत्रह पत्र छपे। उनके बाद मुशीराम जी ने उनके खण्डन में लिखा। मुशीराम जी की सम्पादकीय उदारता, सज्जनता और समता को दर्शाने के लिये यह एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिये। सैद्धातिक दृष्टि से मास-भक्षण के आंदोलन मे लेखनी और वाणी से पूरा भाग लेते हुए भी मुशीराम जी का इस सम्बन्ध में आदर्श यह था कि 'मास-भक्षण के आन्दोलन से भय नही करना चाहिए। धर्मानुसार आचरण करने वाले के आचरण का प्रभाव सदा ही अधिक रहता है।' धर्मानुकूल आचारण करने वाला ही आपकी दृष्टि मे 'आर्य' था और आर्य सभासद वह था, जो आयर्स सिद्धातो के अनुसार आचरण करना स्वीकार करं और उसके लिये सचाई के साथ यत्न भी करे। आर्यसमाज को आप हस्पताल से उपमा देते हुए कहा करते थे कि इससे वही लाभ उठा सकता है जो इसके उपचार पर विश्वास रखता है और इसकी उपयोगिता को स्वीकार करता है। इसलिये आपकी दृष्टि में मास-भक्षण को उचित मानने वाला आर्य-सभासद् नहीं रह सकता था।

मुंशीराम जी की इस स्थिति को देखते हुए उनको इस महायुद्ध का 'योद्धा' अथवा 'कर्णधार' नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी समझा यह जाता है कि वे 'योद्धा' ही नहीं किन्तु 'कर्णधार' भी थे। असलियत यह है कि वे वीर, साहसी, सत्यप्रेमी, सिद्धान्तवादी, निर्भीक आन्दोलक और दृढ़ आर्य थे। इन गुणो ने ही उनको महात्मा-दल का नेता बना दिया और इस नेतृत्व के दायित्व को उन्होने बड़ी हिम्मत, पुरुषार्थ तथा सहनशीलता के साथ पूरा किया। इस कर्तव्यपरायणता का ही यह परिणाम हुआ कि मुंशीराम जी सिद्धान्तवादी दल के अप्रतिद्वन्द्वी नेता सहज में बन गये।

बाद में भी मुंशीराम जी ने इस गृह-कलह से पैदा हुए दो दलो को एक करने का कई बार यत्न किया था। सवत् 1966 में 'प्रचारक' में इसी दृष्टि से एक ज़ोरदार लेखमाला इस शीर्षक से शुरू की थी कि 'यदि उठती हुई इस आँधी से बचना है तो आर्यसमाज की सस्था को दृढ़ करो।' पर, विघ्न-सन्तोषी और दो दल बने ही रहने में स्वार्थ-साधन करने वालो ने इस लेखमाला का भी विपरीत ही अर्थ लगाया। फिर संन्यासाश्रम मे प्रवेश करने के बाद सन् 1925 के जुलाई-अगस्त के महीनों मे आपने प्रायः समस्त पंजाब का दौरा इसी निमित्त से किया था। कोई चौदह-पन्द्रह स्थानो पर आप स्वयं गये थे और देहली से निकलने वाले साप्ताहिक 'अर्जुन' में 'आर्यसमाज का सगठन' शीर्षक से एक लेखमाला भी इसी तात्पर्य से लिखी थी। इन सब यत्नो से यह स्पष्ट है कि इस गृह-कलह से आर्य-समाज की क्षीण हुई शक्ति का सन्ताप उनको आजीवन बना रहा। सन् 1907 में सूरत में जब कांग्रेस मे दो दल हुए थे तब भी आपने कांग्रेस वालो का ध्यान आर्यसमाज की इस गृह-कलह की ओर आकर्षित कर उनसे जोरदार अपील की थी कि वे आर्यसमाज की तरह कांग्रेस की दुर्दशा न करे और आर्यसमाज की फूट के इतिहास से कुछ तो शिक्षा ग्रहण करे।

इस गृह-कलह का सबसे भद्दा और गन्दा रूप यह था कि स्त्री-शिक्षा के के विषय को भी विवाद का विषय बना दिया गया था और जालन्धर के कन्या-महाविद्यालय पर भी तरह-तरह के आक्षेप किये जाकर उसके विरोध मे भी बहुत-से लेख लिखे गये थे। लाला लाजपतराय जी सरीखे व्यक्ति ने भी इस प्रवाह मे बह कर कन्या-महाविद्यालय के विरोध में अपनी लेखनी उठाई थी। 'प्रचारक' द्वारा मुशीरामजी और देवराज जी ने इस विरोध का अच्छा सामना किया था। 24 आषाढ सम्वत् 1951 से 'प्रचारक' के चार पृष्ठ केवल स्त्रियो की सेवा के लिये अलग कर दिये गये थे, जिनका सम्पादन देवराज जी करते थे।

स्वर्गीय लाजपतराय जी ने अपनी जीवनी मे इस कलह के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि "राय मूलराज को महात्मा-दल के और राय पेड़ाराम को काले-दल के लोग सरकार का भेदिया अथवा दूत समझते तथा कहते भी थे। लोगों का विचार था कि ये दोनों सज्जन सरकार के संकेत पर समाज में फूट डाल कर उसकी शक्ति को बिगाड़ रहे हैं।" लाला जी ने इनका न तो खण्डन ही किया है और न मण्डन ही। आर्यसमाज के उस समय के वर्तमान नेताओं मे से किसी को अथवा आर्यसमाज के इतिहास की खोज करने वाले किसी व्यक्ति को इस विषय पर अवश्य प्रकाश डालना चाहिये। आश्चर्य नहीं कि सदा ही भेद-नीति से काम लेने वाली सरकार का भी हाथ आर्यसमाज की उठती हुई शक्ति को दबाने में रहा हो और इस भेद-नीति में विफल होने के बाद ही सन् 1906-7 मे दमन-नीति से काम लिया गया हो।

7. आर्य-पथिक का बलिदान और उसका क्षणिक प्रभाव

6 मार्च सन् 1897 को आर्य-पथिक पण्डित लेखराम जी के साथ, शुद्ध होने के बहाने से आये हुए, एक मुसलमान ने विश्वासघात किया और उनके पेट मे छुरा भोंक कर उनकी हत्या कर दी। इस बलिदान का लाहौर की हिन्दू-जनता पर कुछ ऐसा असर हुआ कि हिन्दू और आर्य, सनातन और वैदिक का सब भेद-भाव भुला कर हिन्दू, जैनी, ब्राह्म और सिख सभी नगर निवासी उनकी अर्थी के साथ श्मशान भूमि तक गये। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज के दोनो दल अलग-अलग कैसे रह सकते थे? ता. 7 मार्च को श्मशान भूमि में चिता पर रखे हुए वीर लेखराम जी के शव को साक्षी रख कर दोनो ने एक होने का निश्चय किया। मुंशीराम जी अकस्मात् ही ता. 6 मार्च की शाम को लाहौर गये थे और स्टेशन पर ही दुर्घटना का समाचार सुन वहाँ से सीधे आर्य-पथिक के घर गये। पण्डित लेखराम जी की मुशीराम जी के साथ वैसी ही अन्तरंग प्रीति और श्रद्धा थी, जैसी कि पण्डित गुरुदत्त जी की उनके साथ भी मुशीराम जी ने सम्वत् 1971, सन् 1914, मे 'आर्यपथिक लेखराम' के नाम से उनकी जो जीवनी लिखी है, उससे दोनो के इस आत्मीय सम्बन्ध का पूरा पता लगता है। श्मशान भूमि में मुशीराम जी ने बहुत ही ओजस्वी, मार्मिक और हृदयवेधी वक्तृता देते हुए दोनो दलो से एक होने की अपील की। परिणाम यह हुआ कि हत्या के बाद के पहले ही रविवार को आर्यसमाज-बच्छोवाली में दोनो दलों का सयुक्त अधिवेशन पॉच बरस बाद हसराज जी के सभापतित्व मे हुआ। लाला लाजपराय जी के मकान पर सुलह का रास्ता तय किया गया। निश्चय हुआ कि "मास-भक्षण का प्रचार न किया जाय। हंसराज जी लाहौर के समाज के पहले के समान प्रधान हो। दोनो पक्ष मिलकर आर्यपथिक के हत्यारे का पता लगावें। इस काम के लिये बनाई गई कमेटी का मन्त्री लाला जी को बनाया गया। एक पक्ष के आठ व्यक्ति जिस काम का लिखित विरोध करे और कालेज तथा प्रतिनिधि-सभा के जिस काम का एक पक्ष

के पाँच व्यक्ति विरोध करें, उसको नही किया जाय। वेदप्रचार-निधि और कालेज-फ़ण्ड को बराबर का महत्त्व दिया जाय, दोनों के लिए एक साथ अपील की जाया करे।"

श्मशान भूमि में की गई यह सुलह श्मशान-वैराग्य ही साबित हुई। ऊपर से सुलह हो जाने पर भी भीतर के दिल साफ़ नही हुए थे। उनमें सन्देह, अविश्वास और मनोमालिन्य बराबर बना हुआ था। इस सुलह के बाद भी यह भय बना हुआ था कि कही कोई एक दूसरे को हड़प न जाय और कुचल न डाले। 16 फाल्गुन सम्वत् 1954 को एक करनाल-निवासी और 23 फाल्गुन को एक जानकार के इस सुलह के टूटने के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ लिखे हुए दो लेख 'प्रचारक' मे प्रकाशित हुए थे, जिनमे उसके कारणों पर विशेष प्रकाश डाला गया था। उन लेखों से यही पता लगता है कि मनो के भीतर का मैल दूर नहीं हुआ था। लाहौर-समाज का प्रधान-पद हंसराज जी को सौंप देने पर भी कालेज वालो ने अपनी प्रादेशिक-सभा भंग नहीं की थी, अपना पुस्तकालय तथा काग़ज़ पत्र आदि सब अलग ही रखे हुए थे। लेखराम-मेमोरियल-फण्ड के काम में उन्होने सहायता तो क्या करनी थी, उसमे विघ्न उपस्थित किए। परोपकारिणी सभा से प्रतिनिधि सभा ने 'सत्यार्थप्रकाश' के उर्दू मे अनुवाद करने का जो एकाधिकार प्राप्त किया था उसको रद्द करवाया गया और उसके छपवाने मे भी बाधा पैदा की गई थी। प्रतिनिधि-सभा की ओर से छपने वाली ऋषि दयानन्द की जीवनी के सम्बन्ध मे भ्रम फैलाया था। अन्तरग सभा की स्वीकृति मिल जाने पर भी मन्दिर की रजिस्ट्री प्रतिनिधि-सभा के नाम नहीं होने दी थी, कालेज की मैनेजिंग कमेटी में महात्मा-दल वालों को नहीं लिया था और एक रिक्त स्थान के लिये मुशीराम जी का नाम पेश किये जाने पर भी उसका समर्थन नही किया था और 'आर्य मेसेंजर' तथा 'आर्य-गज़ट' में प्रतिनिधि-सभा को बदनाम किया जाता था। ऐसे बहुत से आरोप कालेज-दल पर लगाये गए थे और ऐसी ही कुछ शिकायते भी उनके प्रति की गई थीं। परिणाम यह हुआ कि सुलह टूट गई। कुछ समय के लिए फिर पारस्परिक विरोध, आक्षेप, आलोचना आदि का बाज़ार गरम हो गया। अनारकली और बच्छोवाली में एक-दूसरे के विरुद्ध व्याख्यान होने लगे। समाचार-पत्रो मे गंदगी भरे हुए असभ्य तथा अश्लील लेख निकलने लगे। आर्यपथिक के बलिदान से पहले दोनों दलों की जो स्थिति थी वह स्थिर हो गई। दोनों सुलह की आशा छोड़ सदा के लिए एक दूसरे से अलग हो अपने अपने काम में लग गए।

8. प्रतिनिधि-सभा के प्रधान पद का दायित्व

आर्यसमाज के लिये सन् 1892 की संकटापन्न स्थिति और उसी समय पैदा हुए लडाई झगड़ों की ओर सकेत करते हुए मुंशीराम जी ने लिखा है–"पंजाब के समस्त आर्य-समाजों की प्रतिनिधि-सभा का वार्षिक चुनाव था, जिसमें मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा। वह सार्वजनिक जीवन हो गया।" वैसे तो उस समय के बाद से मृत्यु-पर्यन्त उनका जीवन सार्वजनिक ही रहा और आयु के साथ-साथ वह उत्तरोत्तर अधिक ही अधिक सार्वजनिक होता चला गया, किन्तु इस सार्वजनिक जीवन की अवधि नौ वर्ष की थी और ये नौ वर्ष पूरी तरह आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत हुए थे। वकालत भी साथ-साथ चलती थी, किन्तु वकालत के लिए आर्यसमाज की सेवा की कभी भी उपेक्षा नही की गई। आर्यसमाज के लिए वकालत की उपेक्षा अवश्य होती रहती थी और अन्त में ऐसी उपेक्षा हुई कि अदालत में जाना बिलकुल बन्द हो गया।

संगठन आर्यसमाज का जीवन है और प्रचार है उस जीवन का भोजन। प्रजासत्तात्मक प्रतिनिधि-शासन के सब सद्गुण आर्यसमाज के सगठन मे विद्यमान है। प्रत्येक आर्य सभासद् उस सगठन की इकाई है और भूमण्डल के समस्त आर्यो को एक माला मे पिरोना उसका आदर्श है। उस समय तक स्थानीय आर्यसमाजों के बाद केवल प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभाओ का ही संगठन हुआ था। प्रान्त के आर्यसमाजियों के पास प्रात की आर्य-प्रतिनिधि-सभा का प्रधान पद ही सबसे ऊँचा पद था, जिसे किसी विश्वासपात्र और कर्तव्यपरायण आर्य को सौप कर उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति का परिचय देते हुए वे उसकी प्रतिष्ठा कर सकते थे। सन् 1892 की संकटापन्न स्थिति में मुंशीराम जी को पंजाब के आर्य पुरुषों ने यह प्रतिष्ठा का पद देकर आपका गौरव किया था। ऐसे गौरव की रक्षा करने और अपने प्रति प्रगट किये गये जनता के विश्वास में पूरा उतने के लिये सचाई

के साथ यत्न करना शुरू से ही आपका कुछ स्वभाव-सा हो गया था। अपने को जालन्धर-समाज के प्रधान-पद के योग्य बनाने का जिस प्रकार आपने यत्न किया था, उसी प्रकार अब आप अपने ऊपर आई हुई प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद की जिम्मेवारी को निभाने में लग गये। प्रतिनिधि सभा का आज जो संगठित रूप दीख पड़ता है, उसको बनाने मे मुंशीराम जी का बहुत अधिक हिस्सा है। सबसे पहिला काम आपने यह किया कि प्रतिनिधि-सभा की अधीनता में 'वेदप्रचार-निधि' की स्थापना की। लाहौर-आर्य-समाज के सम्वत् 1951 (सन् 1893) के सत्रहवे उत्सव से प्रत्येक उत्सव पर 'वेदप्रचार' के लिये अपील होने लगी। प्रतिनिधि-सभा से सम्बद्ध समाज भी अपने उत्सवों पर वेदप्रचार के लिये अपील और चन्दा इकट्ठा करने लगे। सत्रहवें उत्सव की वेदप्रचार के लिये की गई पहिली अपील पर दो हजार से अधिक चन्दा इकट्ठा हुआ। लाहौर-आर्यसमाज के उत्सव पर तो मुशीराम जी अपील करते ही थे, प्रान्त के मुख्य-मुख्य समाजों के उत्सवों पर भी आपको जाना पडता था और वेदप्रचार के लिये अपील करने का काम आपके ही सुपुर्द किया जाता था। पहिली अपील में उक्त निधि द्वारा किये जाने वाले मुख्य कार्य ये बताये गये थे—'उपदेशक रखना, पुस्तक-प्रकाशन, उपदेशक तैयार करना, पुस्तकालय की स्थापना और लाहौर में विद्यार्थी-आश्रम खोलना।' उपदेशक रख कर वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य विशेष रूप मे संगठित ढंग से होने लगा। पहिले ही वर्ष में प्रतिनिधि-सभा के अधीन सात उपदेशक काम करने लगे। 'आर्य-पत्रिका' को भी प्रतिनिधि सभा का पत्र बना दिया गया। वह सभा की अधीनता मे प्रकाशित होने लगा। लाहौर-आर्यसमाज के 1893 के उत्सव पर होने वाले प्रतिनिधि-सभा के वार्षिक अधिवेशन मे फिर भी मुंशीराम जी ही प्रधान-निर्वाचित हुए। उस अधिवेशन में प्रचार के कार्य को और अधिक व्यवस्थित किया गया। प्रचार के लिये पृथक्-पृथक् विभाग बना दिये गये और प्रत्येक विभाग के अधिष्ठाता भी नियत कर दिये गये। सोलह उपदेशको की नियुक्ति करने का निश्चय किया गया। 24 दिसम्बर, 1895 को प्रतिनिधि सभा की रजिस्ट्री भी हो गई। इस प्रकार सभा को सुसंगठित करके प्रचार का भी उचित प्रबन्ध कर दिया गया। सम्वत् 1953, सन् 1896, के 'प्रचारक' के नये वर्ष के पहिले अंक में पिछले चार वर्षो के प्रतिनिधि-सभा के कार्य पर एक दृष्टि डाली गई है। उसमें बताया गया है कि पजाब-प्रतिनिधि-सभा के अनुकरण मे दूसरे प्रांतो की प्रतिनिधि-सभाओं की ओर से भी 'वेदप्रचार-निधि' की स्थापना की गई। पजाब में इन चार वर्षो में वेदप्रचार-निधि मे दस हजार रुपया खर्च हुआ और उपदेशकों ने चार हजार स्थानों

पर प्रचार किया। इस कार्य का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देवासुर-संग्राम मे प्रतिनिधि-सभा को विजय प्राप्त हुई। प्रान्त के अधिकांश समाजों की सहानुभूति सभा के साथ रही और उन्होंने उसके साथ मिल कर अथवा उसकी आधीनता मे रह कार्य करना स्वीकार किया। पजाब के बाहर नेपाल, हैदराबाद और मद्रास तक से उपदेशकों की मॉग आने लगी। मुंशीराम जी को पजाब के बाहर भी धर्मोपदेशों और व्याख्यानों के लिये जाने को बाध्य होना पड़ा।

आर्यसमाज में प्रवेश करने के समय मुंशीराम जी ने कहा था कि 'भाड़े के टट्टुओं से धर्म-प्रचार नहीं हो सकता' और 'प्रचारक' मे भी वे स्वेच्छा-भाव से अवैतनिक रूप में प्रचार का कार्य करने के लिये आर्य भाइयों से प्रायः अपील किया करते थे। वैसे जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से प्रचार-कार्य मे अपने को लगा कर उन्होंने इस सचाई का परिचय भी दिया था, किन्तु अब बड़े पैमाने पर उस सचाई की परीक्षा का अवसर उपस्थित हुआ। मुशीराम जी उसी लगन और धुन के साथ प्रचार के विस्तृत क्षेत्र मे कूद पड़े, जिसके साथ वे आज तक अपने प्रदेश दुआबा में लगे हुए थे। अहोरात्र उनको समाज की ही चिन्ता रहने लगी। तीस दिन में बीस-बीस दिन और कभी तीस के तीस ही दिन धर्म-प्रचार के लिये समाजों में लगने वाले दौरो के अर्पण होने लगे। बचा हुआ समय 'प्रचारक' के सम्पादन और आर्य पुरुषो के साथ आर्यसमाज-सम्बन्धी होने वाले पत्र-व्यवहार मे लगने लगा। इन दौरो मे आपके मुख्य साथी पण्डित लेखराम जी होते थे। उनको भी प्रचार की धुन थी और वे लाहौर से राजपूताना, राजपूताना से पेशावर, पेशावर से कलकत्ता, कलकत्ता से हरिद्वार तक की लम्बी दौड़ लगाया करते थे। इसी से आर्य जनता उनको उनके नाम की अपेक्षा 'आर्यमुसाफिर' अथवा 'आर्यपथिक' के नाम से अधिक जानती है। मुशीराम जी के इन दौरो का यह क्रम सन्यास-आश्रम मे प्रवेश करने के बाद भी जारी रहा। इस प्रसग मे सन् 1899 तक के दौरो की ओर ही सकेत करना अभीप्ट है। मुशीराम जी इन दौरों को 'धर्म-यात्रा' कहा करते थे और इन यात्राओं में केवल व्याख्यान ही नहीं देते थे, अपितु पूरे अर्थो मे प्रचार का कार्य किया करते थे। सन् 1894 की कोटा की धर्मयात्रा की 'प्रचारक' मे जो रिपोर्ट दी गई है, उससे पता चलता है कि इन यात्राओं में आप आर्यसमाजो की स्थिति का बहुत गहरा अध्ययन करते थे, अधिवेशनों की कार्यवाही की पूरी छानबीन कर उनकी कमियों को दूर करते थे, आर्य पुरुषो को व्यक्तिगत जीवन के सुधार तथा सामुदायिक जीवन की उन्नति के लिये परामर्श दिया करते थे। उनको अपनी कमज़ोरियों को दूर करने के उपाय बताते थे, वैदिक सिद्धान्तों के

सम्बन्ध में पैदा होने वाली शंकाओं का समाधान करते थे और सार्वजनिक संस्थाओ का समालोचनात्मक वर्णन करते हुए सामाजिक बुराइयों की चर्चा विशेष रूप मे करते थे। इसी वर्ष गर्मी की छुट्टियों में 31 अगस्त को मुंशीराम जी जालन्धर से लाहौर जाते हैं। वहाँ दो दिन प्रतिनिधि-सभा का काम करते हैं। 3 सितम्बर को सियालकोट में व्याख्यान देते हैं। 4 को लाहौर आ जाते हैं। 5 को लुधियाना, 6 को फ़िल्लौर, 7 को अम्बाला छावनी, 8 को अम्बाला शहर, 9 को करनाल-पानीपत और 10 को देहली में व्याख्यान देते हैं। उसके बाद अगले वर्ष की मुहर्रम की छुट्टियों में फिर दौरे पर जाते हैं। 22 जून को जालन्धर से चलकर 23 को वज़ीराबाद, 26 को गुजरात, 27 को गुजरांवाला, 28 को रावलपिण्डी, 30 को खुशहालगढ़, 1 जुलाई को कोहाट, 2 को बन्नू, 6 को डेराइस्माइलखाँ और 9 को मुलतान में व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आते हैं। सन् 1896 में राजपूताना की धर्म-यात्रा की, जिसमें अजमेर और शाहपुरा आदि में व्याख्यान दिये। शाहपुराधीश से भी मुलाक़ात की। इस दौरे का एक उद्देश्य परोपकारिणी सभा को जगाना भी था, जिसके लिये 'प्रचारक' में भी निरन्तर आन्दोलन किया जा रहा था। सन् 1898-99 की उस महत्त्वपूर्ण धर्म-यात्रा का वर्णन आगे दिया जायगा, जो गुरुकुल की स्थापना के लिए तीस हजार रुपया इकट्ठा करने के संकल्प से की गई थी। इन धर्मयात्राओ में होने वाले धर्म-प्रचार के अलावा पंजाब प्रांत और बाहिर के कुछ समाजों के उत्सवों पर भी आपको जाना पड़ता था। आर्यपथिक पण्डित लेखराज भी ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए अन्तिम शब्द ये कहे थे कि "आर्यसमाज में लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिये।" मुंशीराम जी ने इन शब्दो को सुना था और उनके सन्देश को पूरा करने के लिए अपने पास से पैसा लगा कर उनके और अपने लिखे हुए कुछ ग्रन्थो को छपवाया भी था। अक्तूबर सन् 1898 से 'आर्यमुसाफ़िर' के नाम से उर्दू का पत्र अलग ही निकालना शुरू कर दिया था। आप ही उसके सम्पादक थे और श्री वज़ीरचन्द्र जी विद्यार्थी सहायक-सम्पादक।

इस प्रकार वाणी और लेखनी द्वारा अहोरात्र निरन्तर प्रचार का कार्य करते रहने का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि शरीर गिरने लगा। बीमारी ने उसको अपना घर बना लिया। सन् 1896 में आपको उन्निद्र-रोग हो गया। सोलह दिन तब बिल्कुल नीद नहीं आई। पर्वत पर जाकर कुछ विश्राम किया तो शरीर सम्हला, किन्तु प्रचार द्वारा उस पर होने वाला अत्याचार तो निरन्तर ही जारी रहा। उससे उसको कभी छुट्टी नही मिली।

इन दिनों 'प्रचारक' द्वारा किये जाने वाले प्रचार के सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि उससे पता चलता है कि मुंशीराम जी ने 'प्रचारक' के अपना होते हुए भी उसे सभा का ही मुख-पत्र बना दिया था। सन् 1896 मे 'प्रचारक' के वर्षारम्भ के मुख्य लेख में आपने लिखा था कि "समाचार-पत्र हर एक धनी पुरुष छाप सकता और चला सकता है, किन्तु जनता का प्रेम-पात्र होना उसके लिये सुगम नहीं है। इस पत्र का सम्बन्ध आर्यसमाज के आन्दोलन के साथ है, इसलिये उसकी उन्नति में इसकी उन्नति, उसकी कमजोरी में इसकी कमज़ोरी, उसकी बीमारी में इसकी बीमारी और उसकी सेहत में इसकी सेहत है।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि मुंशीराम जी ने अपने ही समान अपने पत्र को भी आर्यसमाज के प्रचार के साथ तन्मय कर दिया था। आर्य पुरुषों से वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने की विशेष जोरदार अपीलों के साथ-साथ 'प्रचारक' में उनकी व्यक्तिगत कमज़ोरियों की कड़ी से कडी आलोचना की जाती थी। अपने पिता की मृत्यु पर डा. परमानन्द के दाढ़ी-मूँछ मुंडवाने का सख़्त प्रतिवाद किया गया। कच्ची-पक्की का झगड़ा मिटा कर जात-पॉत के दायरे को तोड़ने का आर्य-पुरुषों से आग्रह किया गया। आर्य बिरादरी के निर्माण की आवश्यकता बताते हुए विवाहो की समस्या हल करने के लिये रजिस्टर खोलने का प्रस्ताव किया गया। स्त्री-शिक्षा के मार्ग की सबसे बडी बाधा बाल-विवाह को दूर करने पर जोर दिया गया। विवाह आदि के खर्च घटाने और विधवाओ के वैधव्य-दुःख की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया। जात-बिरादरी की पचायतो और घर की स्त्रियों के भय के नाम से मृतक-श्राद्ध आदि अवैदिक प्रथाओं में फँसे हुए आर्यसमाजियो से कहा गया कि आर्यसमाज और बुजदिली का कोई जोड़ नहीं है। आर्यसमाजियों को बताया गया कि सिद्धान्त तो निर्जीव है, उनमे प्राण-प्रतिष्ठा तो तब ही होगी, जब कि आर्य पुरुष उनके अनुकूल आचरण करेंगे। आर्यसमाज के उत्सव और उसका सगठन केवल पैसा जमा करने के लिये नहीं है वे आर्यसमाजियों के जीवन को उन्नत बनाने के साधन हैं। प्रत्येक आर्य सभासद को वर्ष में एक नया आर्य सभासद बना कर अपनी बिरादरी को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। समाज का मुख्य कार्य खण्डन नही, मण्डन है। खण्डन उद्देश्य नहीं, केवल साधन है। उपदेशको को चाहिये कि खण्डन की अपेक्षा अपनी सचाई पर अधिक प्रकाश डाला करें। 'प्रचारक' द्वारा किये जाने वाले ऐसे प्रचार से यह स्पष्ट है कि मुंशीराम जी ने अपनी शक्ति, साधन तथा समय का सदुपयोग उन दिनों समाज के मण्डनात्मक अथवा रचनात्मक कार्य के लिये ही किया था और इस

प्रकार प्रधान-पद के गौरवपूर्ण दायित्व को सचाई तथा ईमानदारी के साथ निभाया था। सबसे बड़ी और प्रशंसनीय बात यह थी कि प्रतिनिधि-सभा के प्रधान की हैसियत से उसका वर्षों तक इस प्रकार कार्य करते हुए भी आपने अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य अथवा धर्मयात्रा का खर्च सभा से कभी नहीं लिया। इससे पहिले भी समाज पर अपना किसी तरह का कोई ख़र्च नहीं डाला। 'आर्य-पत्रिका' ने प्रतिनिधि-सभा के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए आने वाले सभासदों को प्रतिनिधि-सभा से मार्ग-व्यय देने का जब प्रश्न उठाया, तब 'प्रचारक' ने उसका विरोध किया। सन् 1894 या 95 में आपको आर्यसमाज की ओर से विदेशों मे प्रचार के लिये भेजने का प्रस्ताव 'आर्य पत्रिका' ने किया। उसके लिये विशेष चन्दा भी इकट्ठा होना शुरू हो गया। पर, आपने स्पष्ट ही लिख दिया कि मुझ में इतनी योग्यता नहीं, मेरे पास समय भी नहीं और अभी अपने ही देश में कार्य पूरा नहीं हुआ है। उसके के बाद भी यह प्रश्न उठा, किन्तु, आप सदा उससे उदासीन रहे।

प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद के दायित्व को इस कर्तव्यपरायणता के साथ पूरा करने का ही यह परिणाम था कि सन् 1892 से चार वर्षो तक बराबर आप ही उसके प्रधान निर्वाचित होते रहे और आर्य-पथिक की हत्या के बाद जब समाज के लिए असाधारण सकट का समय आया तब फिर आपको ही प्रधान चुना गया। स्वास्थ्य और अन्य कारणों से आप बीच-बीच मे इस पद से अलग होते रहे, किन्तु इन आठ-नौ वर्षो मे लगभग सात-आठ बार आप ही उसके प्रधान निर्वाचित हुए। प्रतिनिधि-सभा के वर्त्तमान रूप का ढॉचा आपका ही तैयार किया हुआ है और उसमे प्राण-प्रतिष्ठा भी आपके द्वारा ही की गई थी।

9. पण्डित गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ और मुक़दमा

कालेज-दल के लोगों ने अपनी सब शक्ति और समय कालेज को ही उन्नत बनाने मे लगा दिया। प्रचार का सब काम महात्मा-दल पर आ पड़ा। मत-मतान्तरों और अन्य सम्प्रदायो की समीक्षा तथा खण्डन का सब काम भी उसको ही करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि विरोधियो के सब आक्रमण उस पर ही होने लगे। इसलिये दूसरों की दृष्टि में महात्मा-दल का अप्रिय होना स्वाभाविक था। कालेज-दल वाले दूसरों की दृष्टि में अप्रिय होने के इस कठिन मार्ग से यथा-सम्भव बचने की भी चेष्टा करते थे। संघर्ष के सब अवसरो को वे यत्नपूर्वक टालते थे। सिखो का प्रेम सम्पादन करने के लिये 'सत्यार्थप्रकाश' मे से सिखो को चिडाने वाले प्रकरण को निकाल देने का प्रस्ताव भी एक बार उनकी ओर से किया गया था। डी. ए. वी. स्कूल अथवा कालेज द्वारा शिक्षा के उस क्रम में विरोध अथवा संघर्ष का अवसर ही कहाँ था, जिसमे न तो संस्कृत की शिक्षा ही अनिवार्य थी और न खान-पान तथा आचार-विचार का ही ऐसा कोई प्रतिवन्ध था। कालेज वालों ने पानी की बहती हुई धारा के साथ बहना शुरू किया। उलटी दिशा में तैरने का यत्न करने वाले महात्मा-दल को पुराण-मतवादी हिन्दुओं, मुसलमानो, ईसाइयो, थियोसोफिस्टो, देव-समाजियों आदि सभी के साथ लोहा लेना पडा। कुछ स्वार्थ-साधकों ने संघर्ष और विवाद के ऐसे अवसर से खूब लाभ उठाया। सनातनधर्मावलम्बी जनता की मूढ़-भावना और अन्ध-श्रद्धा को धन पैदा करने का साधन बना लिया। आर्य-समाजियो को गाली देना, शास्त्रार्थ के लिये चैलेज देना और उनके प्रतिकूल दो-चार व्याख्यान देने पर रोटी का सवाल हल कर लेना कुछ कठिन नहीं था। कुछ लिखने और समाचार-पत्र निकालने का हुनर आने पर अपना उल्लू सीधा करना बायें हाथ का खेल था। पण्डित गोपीनाथ कुछ ऐसा ही चलता पुर्ज़ा आदमी था। अपने को वह उच्च घराने का काश्मीरी पण्डित बताता था। सनातनी लोगो में वह नेता माना जाता था। सनातनधर्म-सभा का मन्त्री, 'सनातनधर्म-गजट' का

सम्पादक और 'अख़बार-ए-आम' का वह संचालक था। उसने ये सब बड़प्पन आर्यसमाजियों को गालियाँ देकर, उनके प्रति विष फैला कर और उनके साथ शास्त्रार्थो के झूठे मोर्चे लेकर ही पैदा किया था। उसके पत्र की भाषा इतनी अश्लील, गन्दी और वाहियात रहती थी कि कुछ लोग आर्यसमाज की ओर से उस पर मुक़दमा चलाने की भी कई बार चर्चा किया करते थे। पर, मुंशीराम जी धर्मकार्यो में क़ानून की सहायता लेने के प्रायः विरुद्ध रहते थे और ऐसा करना वे कमीनापन समझते थे। वे बहुत समय तक चुप रहे। अन्त में गोपीनाथ ने मुशीराम जी को ही ललकारा और गन्दगी से भरे हुए लेख द्वारा उनको शास्त्रार्थ के लिये चैलेंज दिया। मुंशीराम जी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में ही थे। आपने चैलेंज स्वीकार करते हुए लिखा—'लाहौर, जालन्धर, रोपड़ अथवा करतारपुर में जहाँ कहीं भी आप चाहे शास्त्रार्थ कर सकते हैं।' रोपड़ और करतारपुर का उल्लेख इसलिये किया गया था कि उसने अपने चैलेंज में इन स्थानों पर आर्यसमाजियों को हराने का उल्लेख किया था। कुछ पत्रव्यवहार होने के बाद लाहौर मे शास्त्रार्थ होना तय हुआ। 26 और 27, 29 और 30 नवम्बर सन् 1898, सम्वत् 1955, को गोपीनाथ के साथ मुंशीराम जी के लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर पहिले बच्छोवाली-समाज-मन्दिर में 'वेद किन ग्रन्थों का नाम है' विषय पर, फिर हिन्दू होटल मे 'मूर्तिपूजा' पर वे सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुए, जिनका आर्यसमाज के धार्मिक इतिहास में विशेष स्थान है। इन शास्त्रार्थो में छः से दस हजार तक की उपस्थिति होती थी। जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव पर भी तारीख़ 30 और 31 दिसम्बर को फिर मुंशीराम जी के गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ हुए। इस प्रकार गन्दगी फैलाकर बढ़ने वाला मनुष्य सदा ही फल-फूल नहीं सकता, एक-न-एक दिन उसका पतन अवश्य होता है। गोपीनाथ के भी पतन के दिन शुरू हो चुके थे। सम्वत् 1956, सन् 1899, की होली पर उसने अपने पत्र मे आर्यसमाज पर रग छिड़कते हुए 'होली के चुटकलों' में कुछ गन्दगी उँडेली थी। सरकार की ओर से उसके लिये उस पर 153 अ, 202 और 505 धाराओं के अनुसार मुक़दमे चलाये गये। दोष स्वीकार करते हुए अदालत से उसने माफ़ी माँगी और सरकारी वकील ने भी सजा न देकर जुर्माना और नेकचलनी के लिये दो मुचलके ले लेने की सिफ़ारिश की, किन्तु लाहौर के डिपुटी कमिश्नर ने उन लेखों को सनातनियों तथा आर्यसमाजियों मे वैमनस्य पैदा करने वाला और सनातनियों को फ़ोश तरीक़े से भड़काने वाला ठहरा कर तीन महीने और एक महीने की सख़्त क़ैद की सज़ा दे ही दी। अपील करने पर यह सजा जुर्माने में परिणत हो गई थी।

गोपीनाथ को इस मुक़दमे में इतना नीचा देखना पड़ा कि वह आर्यसमाज और मुंशीराम जी से बदला लेने की ताक में बराबर रहने लगा। उसको भड़काने वाली ऐसी ही एक घटना और हो गई। रोपड़ में सनातनधर्मावलम्बियों ने आर्य पुरुषों के सामाजिक बहिष्कार की घोषणा की और समाचार-पत्रों में उसके सम्बन्ध में लेख भी लिखे। सीताराम जैनी का लेख 'जैनधर्म श्रावक' में और स्थानीय धर्म-सभा के मन्त्री और उपमन्त्री के लेख गोपीनाथ के 'सनातनधर्म गज़ट' में निकले थे। रोपड़ के आर्य पुरुषों की ओर से श्री सोमनाथ और श्री इन्द्रचन्द्र ने सीताराम जैनी, स्थानीय धर्म-सभा के मन्त्री तथा उपमन्त्री और गोपीनाथ के विरुद्ध मानहानि के मुक़दमे दायर कर दिये। सीताराम जैनी ने पहिली ही पेशी पर माफ़ी माँग ली और कह दिया कि मैं आर्यो को बिरादरी से खारिज़ नहीं समझता। दूसरी पेशी पर धर्म-सभा के मन्त्री, उपमन्त्री और गोपीनाथ को माफ़ी माँगने के लिये विवश होना पड़ा। साथ में 100 रुपया हरजाना भी देना पड़ा। 4 सितम्बर सन् 1901 को यह मामला इस तरह निबट गया। गोपीनाथ के जले पर नमक छिड़का गया। लोगों में फैलाया गया कि इस मुक़दमे में असली हाथ मुंशीराम जी का था। पर, वस्तुस्थिति यह थी कि रोपड़ के आर्यसमाजियों को इस बुरी तरह सताया गया था कि उनको विधर्मियों और अछूतों से भी गया-बीता ठहरा कर उनका पानी बन्द कर दिया गया था; नाई, धोबी, हज्जाम, कहार तक रोक दिये गये थे; उनके यहाँ काम करने वाले कहारों तक को अपनी बिरादरी से खारिज करा दिया गया था; गरमी में बच्चे बीमारी में तड़फते रहते थे और पानी का एक घड़ा भी किसी कुएँ से भरना नहीं मिलता था। इस विकट परिस्थिति में आर्य पुरुष और क्या करते? अस्तु, इस प्रकार दो बार नीचा देखने के बाद फरवरी सन् 1901 मे 'प्रचारक' के 1, 8 और 15 फरवरी 1901 के कुछ लेखों के आधार पर लाहौर के फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट मि. क्लेवर्ड की अदालत में गोपीनाथ ने मुंशीराम जी पर 'प्रचारक' के सम्पादक के नाते, वजीरचन्द जी विद्यार्थी पर सहायक सम्पादक के नाते और बस्तीराम जी पर मैनेजर के नाते मानहानि का दावा दायर कर दिया। 26 अप्रैल, 1901 को मुक़दमे की पहली पेशी हुई। रोपड का और यह मुक़दमा— दोनों ऊपर के शास्त्रार्थो से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। इसलिये सनातनियों और आर्यो में इसकी धूम मच गई। गोपीनाथ ने अपने बयान में अपनी पारिवारिक, सामाजिक तथा सार्वजनिक प्रतिष्ठा का बहुत बढ़िया चित्र अंकित किया और वैसे ही गवाह भी भुगता दिये। 'सिविल मिलिटरी गजट' और 'कोहनूर' से माफ़ी मँगवाने के अभिमान में वह चूर था। कभी-कभी तो ऐसा ही मालूम

होता था कि मुंशीराम जी मुक़दमा हार जायेंगे। पर, डुबोने वाले से तारने वाला बलवान् होता है। एक दिन शाम को सफ़ाई पेश करने की तैयारी की गहरी चिन्ता में मग्न मुंशीराम जी कोठी के बरामदे में टहल रहे थे कि एक अजनबी आदमी आया और चिट्ठियों का एक बण्डल उनके हाथ में देकर चला गया। सनातन-धर्माभिमानी गोपीनाथ के जीवन का वह कच्चा चिट्ठा था। 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट' के हिसाब की जाँच-पड़ताल करने वाले आफ़िस के मुंशी करीमबख़्श को उन चिट्ठियों के आधार पर सफ़ाई की ओर से गवाह पेश किया गया। उसके विस्तृत बयान का आशय यह था—"मैं छोटी अवस्था से गोपीनाथ को जानता हूँ। हम दोनों लँगोटिये दोस्त हैं। स्कूल में भी साथ-साथ पढ़े हैं। गोपीनाथ बहुत-सी वेश्याएँ रखता है, जिनमें कुछ के नाम हैं बरकतजान, मुन्नीजान, नाज़, मोतीजान। मोतीजान पर गोपीनाथ मुग्ध था। अनारकली की एक यहूदिन के साथ भी उसका बुरा सम्बन्ध था। इन वेश्याओं के पास उसके और उसके पास उनके पत्र, जिनमें से कुछ अदालत में भी पेश किये गये थे, मेरी मार्फ़त आते जाते थे। गोपीनाथ ने मुझको बताया कि उसको काश्मीर से पन्द्रह हजार रुपया मिला था। हज़ार-दो-हज़ार क़ीमत की घड़ी महाराजा पूँछ से मिली थी। गोपीनाथ मुझ से कहा करता था कि रुपया मक्कारी से ही पैदा होता है। 'राम-राम जपना पराया माल अपना' की वह प्राय मिसाल दिया करता था। सभाओं पर जाता हुआ भी औरतें साथ ले जाया करता था। गोपीनाथ को ज़िद्दी, बदमाश और चालाक कहा जा सकता है। उसने मेरे साथ और मेरे सामने 'बीफ़', गाय का मास, कई बार खाया है। उसकी रखी हुई सब वेश्यायें मुसलमान थीं। उनके साथ वह एक ही रक़ेबी में खाया करता था। शराब भी पिया करता था।"

छः मास मुक़दमा चलने के बाद दो सितम्बर सन् 1901 को मजिस्ट्रेट ने फैसला सुनाते हुए बस्तीराम जी को तो एकदम ही बरी कर दिया। मुंशीराम जी और वज़ीरचन्द्र जी को बरी करते हुए मजिस्ट्रेट ने जो लम्बा फ़ैसला लिखा उसमें गोपीनाथ की सब क़लई खुल गई। मजिस्ट्रेट ने फ़ैसले में लिखा—"गोपीनाथ गर्दू ब्राह्मण तो क्या, काश्मीरी भी है कि नहीं, इसमें भी सन्देह है। उसके पिता ने अपने ख़ानदान की ऐसे पास के सम्बन्ध की स्त्री से विवाह किया, जिसको हिन्दू बुरा मानते हैं। 'अख़बार-ए-आम' में गोकुशी पर लिखे हुए लेख उसके ही हैं और ये उसके अपने दिमाग़ की शरारत की उपज हैं, जो मुसलमानों को खुश करने के लिये लिखे गये हैं। वह एक धोखेबाज़ आदमी है, जो अपने नफ़े के लिये हिन्दू जनता को धोखा देता रहा है। वह हर एक सार्वजनिक काम स्वार्थ या पैसे

के लिये ही करता मालूम होता है। पैसा जमा करने का कोई अवसर उसने ख़ाली नहीं जाने दिया। बिना प्रयोजन अपीलें करके उसने जनता से पैसा बटोरा है और रियासतों से भी रुपया हासिल किया है। इसमें आम जनता का फ़ायदा है कि गोपीनाथ सरीखे लोगों का चाल-चलन खोल कर सबके सामने रखा जाय। सनातनधर्म-सभा और सनातनधर्म को इस मुक़दमे से यदि कोई चोट लगी है तो उसकी ज़िम्मेवारी गोपीनाथ पर है, क्योंकि उसने उनको इस मुक़दमे में घसीटा है और आज तक वह अपने को उनका दोस्त कहता रहा है।"

इस मुक़दमे की यह सफलता मुंशीराम जी की एक असाधारण विजय थी। हजारों की संख्या में जनता ने अदालत में जमा हो कर इस विजय पर आपको बधाई दी और आपका अभिनन्दन किया। गोपीनाथ को लेने के देने पड़ गये। उसके पापी जीवन पर पड़ा हुआ परदा उठ गया। उसकी असलियत लोगों पर प्रगट हो गई। इस मुक़दमे से पता लगता है कि आर्य पुरुषों के लिये वह समय कितना विकट था और मुंशीराम जी को उस विकट परिस्थिति में किस असाधारण साहस के साथ काम करना पड़ता था? 'बंगवासी' और 'वैंकटेश्वर-समाचार' आदि सनातनी पत्रों में होने वाली टीका-टिप्पणी का जवाब भी 'प्रचारक' द्वारा मुंशीराम जी को ही देना पड़ता था।

इन दिनों में ही सुमित्रादेवी का विवाह डा गुरुदत्त जी के साथ जाति-बन्धन तोडकर आपकी ही प्रेरणा से किया गया था। उस पर आर्यसमाजी-पत्रों तक ने आप पर टीका-टिप्पणी की थी। कुछ सिद्धांतवादी आप पर इसलिये खंगहस्त हुए थे कि आपने अपनी बड़ी पुत्री वेदकुमारी का विवाह जातिबन्धन तोड़ कर नही किया था। संयुक्त-प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभा का मुख-पत्र 'आर्यमित्र' तो आप पर इसीलिये रुष्ट था कि आप जात-पॉत तोड़ कर गुण कर्म स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था कायम करने पर ज़ोर देते थे। सिद्धांत की आड़ में आप पर रोष प्रकट करने वालो के तब मुँह बन्द हो गए, जब आपने सन् 1901 के नवम्बर मास में अपनी दूसरी कन्या अमृतकला का विवाह डा. सुखदेव जी के साथ उनकी आर्थिक अवस्था के बहुत साधारण होते हुए भी जन्मगत जात-पॉत का बन्धन तोड़ कर, घर वालों के पूरा विरोध रहते हुए भी, कर दिया। इसकी अच्छी चर्चा हुई, क्योंकि आर्यसमाज मे जातिबन्धन तोड़ कर किये गये विवाहों में यह दूसरा ही विवाह था। उस समय आर्यसमाज में सिद्धांतवादियों ने एक 'आर्य-भ्रातृ-सभा' का संगठन किया था, जिसके सदस्यों ने पहली कन्या के विवाह को लेकर मुंशीराम जी पर आलोचना

की बौछार कर दी थी। उस सभा के सिद्धांतवादी आर्य वीर नेता अब तक भी जन्मगत जात-पाँत के दलदल में धँसे हुए हैं। इसी से मुंशीराम जी के उस चरित्रबल का पता लगता है, जिसका परिचय आपने सन् 1901 में दिया था। सिद्धांत का प्रश्न उपस्थित होने पर आपने सदा इसी प्रकार उत्कृष्ट चरित्र-बल का परिचय दिया और आर्यसमाज के नेतृत्व को कभी दाग़ नहीं लगने दिया।

10. गुरुकुल का स्वप्न

गुरुकुल मुंशीराम जी के जीवन का बहुत पुराना स्वप्न था। एक जगह आपने लिखा था—"उस समय मैं दयानन्द एंग्लो-वैदिक-कालेज को ही पुत्रों के लिये गुरुकुल समझता था। इसलिये कन्या गुरुकुल को स्थापित करने के लिए फ़िरोज़पुर की पुत्री-पाठशाला को उन्नत करने का प्रस्ताव मैंने किया था।" इन शब्दों से दयानन्द-एंग्लो-वैदिक-कालेज के सम्बन्ध में शुरू-शुरू में लोगों की जो धारणायें थीं, उनका भी पता लगता है। मुंशीराम जी ने भी ऐसी धारणा से ही कालेज की स्थापना का समर्थन और 'प्रचारक' द्वारा उसके लिये आंदोलन किया था। समस्त आर्यजनता के साथ-साथ मुंशीराम जी को भी कालेज से निराश होना पड़ा। न केवल कालेज की, किन्तु वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्याश्रम की पद्धति का अभाव आपको बहुत खटका करता था। कालेज के लिये स्थिर स्थान नियत करने का प्रश्न उठने पर 'प्रचारक' में आपने लिखा था कि सरकारी कालेजों पर तो हमारा अधिकार नहीं, किन्तु अपने कालेज पर इतना अधिकार हो सकता है कि उसके लिये शहर से दूर जगह ली जाये और कालेज का स्थिर-भवन शहर मे न बना कर शहर से दूर बनाया जाय। वर्णाश्रम-पद्धति के पुनर्जीवित करने का प्रश्न उठने पर आप प्रायः 'प्रचारक' में लिखा करते थे कि 'आश्रमव्यवस्था के बिना वर्णव्यवस्था क़ायम नही हो सकती। आश्रमों पर ही वर्ण निर्भर है। जब गुरुकुल नहीं हैं, तब आश्रम-पद्धति का उद्धार कैसे हो?' गुरुकुल सम्बन्ध में इस प्रकार की चर्चा तो 'प्रचारक' में प्रायः शुरू के अकों से पढ़ने को मिलती है, किन्तु उसके लिये स्पष्ट प्रस्ताव 8 आषाढ सम्वत् 1953 के अंक में किया हुआ मिलता है। उस अंक से 'सन्तान को आर्य क्यों कर बना सकते हो?' के शीर्षक से एक लेखमाला शुरू की गई थी। शहर के वातावरण के बुरे प्रभाव से पैदा होने वाली बुराइयों का उल्लेख करने के बाद आपने एक स्पष्ट योजना गुरुकुल के सम्बन्ध में पेश की थी। उसका आशय यह था कि 20 आर्य पुरुष ऐसे चाहिये जो अपनी

सन्तान के लिये 15 रु. प्रति-मास ख़र्च कर सकें। अमृतसर के पास नदी के किनारे ऐसा प्राकृतिक सौन्दर्य है, जहाँ परीक्षण के लिये गुरुकुल खोला जाय। अपने दो बालकों को उसमें भेजने का निश्चय प्रगट करके आपने अठारह और ऐसे आर्य पुरुषों के लिये अपील करते हुए उस लेखमाला को समाप्त किया। दूसरे लेख में बताया गया था कि इस प्रकार गुरुकुल खुलने में 300 रु. महीना की आमदनी होगी। 120 रु. महीना संस्कृत के पण्डित और दूसरे विषय पढ़ाने वाले अध्यापकों पर व्यय होगा। 6 रु. प्रति माह प्रति विद्यार्थी के हिसाब से 120) भोजन-ख़र्च होगा। बाकी 60) में 10 विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। 'आर्य पत्रिका' ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और लिखा कि अच्छा हो यदि आर्य-सार्वभौमि-प्रतिनिधि सभा का संगठन करके उसके अधीन गुरुकुल खोला जाय—तब तक आर्य सार्वदेशिक सभा की स्थापना नहीं हुई थी। आर्य-समाजी पत्रों में इस प्रस्ताव पर अच्छी चर्चा हुई। पक्ष-विपक्ष में ख़ूब लिखा जाने लगा। कालेज-दल के लोग तो इस प्रस्ताव का उपहास ही करते थे और वे कुछ द्वेषभाव से उसके विरुद्ध आन्दोलन भी करते थे, किन्तु महात्मा-दल के भी ऐसे लोग कुछ कम नहीं थे, जिनको ऐसा गुरुकुल खोलने में भारी आपत्ति थी। मुंशीराम जी का प्रारम्भ से ही यह मत था कि आर्य-प्रतिनिधि-सभा की ओर से उसकी अधीनता में गुरुकुल खोला जाय, किन्तु कुछ लोगों को भय था कि प्रतिनिधि-सभा पर गुरुकुल का भार डालने से प्रचार-कार्य में बाधा पहुँचेगी। उसकी परिमित शक्ति इतना बड़ा भार सहन नहीं कर सकेगी। कुछ लोगों का यह भी ख़याल था कि जंगल के एकान्त में रह कर केवल संस्कृत पढ़ने वाले बालक नहीं मिलेगे और वर्तमान शिक्षा के साथ संस्कृत का पढ़ाना सम्भव नहीं होगा। बालकों के चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में पूछा जाता था कि माँ-बाप की अपेक्षा अध्यापक इस सम्बन्ध में क्या अधिक काम कर सकेंगे? जालन्धर में वैदिक-आश्रम और दुआबा-हाईस्कूल खोला गया था। कुछ लोग सस्कृत की पढ़ाई की आवश्यकता उनके ही द्वारा पूरी कर लेने की बात भी कहते थे। नूरमहल के श्री जगन्नाथ जी आर्य गुरुकुल के उक्त प्रस्ताव के पहले समर्थकों में से थे। उन्होंने प्रत्येक आर्यसमाजी से एक-एक रुपया गुरुकुल के मकान आदि बनाने के लिये देने की अपील की थी और 25 रु. मुंशीराम जी के पास भेज भी दिये थे। इससे मुंशीराम जी को इतना उत्साह मिला कि आप गुरुकुल की स्कीम तैयार करने में लग गये। आर्यसमाज-गोविन्दपुर के उपप्रधान श्री विशनदास जी ने ज़िला गुरुदासपुर में गुरुकुल या उसकी शाखा खुलने पर उसके लिये ज़मीन और एक हजार रु. एक साथ देने का वायदा किया। लाला मोहनलाल जी ने

अपने गॉव में दो घमाऊँ ज़मीन और 50 रु. वार्षिक देने की घोषणा की। दोनों आर्य पुरुषों ने अपने एक-एक बालक को भी गुरुकुल में भेजना स्वीकार कर लिया। बरार प्रान्त के अकोला ज़िले के पातूर-निवासी श्री शिवरत्नसिंह जी वर्मा ने अपने चचेरे भाई श्री गोविन्दसिंह जी वर्मा मन्सफदार की ओर से सूचित किया कि यदि आर्यसमाज प्राचीन पद्धति पर गुरुकुल क़ायम करे तो वे इस लोकहितकारी काम में दस हज़ार रुपया देने का वायदा करते हैं। साथ वे अपने प्रिय पुत्र धर्मसिंह को भी वहाँ भेंजेंगे। 3 आश्विन सम्वत् 1954 के 'प्रचारक' में 'आश्रम-व्यवस्था और उसकी बुनियाद' शीर्षक से इस सम्बन्ध में जो लेख निकला था, उसका अंश यहाँ दिया जाता है। इससे 'प्रचारक' की अपनी उस विशेष भाषा का भी पता चल जायगा जो उसकी एक विशेषता थी। उस लेख में लिखा गया था—"यह मुबारक तहरीक पण्डित गुरुदत्त जी की जीवनी में ही शुरू हो गई थी। उनकी मृत्यु के बाद कुछ समय की ख़ामोशी के बाद फिर इस मज़मून पर तहरीरी काम शुरू हो गया था। सन् 1895 के दौरे मे हमने अकसर जगहों में धार्मिक आर्य भाइयो से बातचीत की। अकसर उन्होंने अपनी सन्तान तो गुरुकुल में भेजना स्वीकार किया। बहुत से सज्जन आर्थिक सहायता करने को भी तैयार हैं। लेकिन दूसरो कार्यो का बोझ इतना रहा कि उस समय कोई तरीक़ा बरामद न हुआ। पर, सुलगी हुई धर्म की यह अग्नि बुझी नहीं। चुनांचे लाला जगन्नाथजी बजाज नूरमहल ने अपने कारख़ाने मे कुछ हिस्सा गुरुकुल का क़ायम किया और एक साथ 25 रु. पेशगी उसमें से भेज भी दिये। इसके बाद पं. लेखराम जी आर्यमुसाफ़िर के धर्म पर बलिदान होते ही अन्य कामों के बोझ ने आ दबाया। फिर भी हम इस सवाल पर बराबर विचार करते रहे। इसमें शक़ नही, कि हम भी सुस्त हो चले थे, लेकिन निराशा को पाप समझते हुए हमने आशा नहीं छोडी थी और कुछ समय तक इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने का निश्चय कर लिया था। इसी बीच मे श्रीगोविन्दपुर के आर्य भाइयों ने अजीब धार्मिक जोश दिखाया और उसके बाद ही बाबू शिवरतनजी वर्मा ने कुमार गोविन्दसिंह जी मन्सफ़दार का साहसपूर्ण निश्चय ज़ाहिर किया। ये दोनों निश्चय यदि पूरे हो जायँ तो गुरुकुल का खुलना कुछ भी मुश्किल नहीं है। अलबत्ता श्रीगोविन्दपुरी भाइयों की शर्त ठीक नहीं है। मगर, हमको यक़ीन है कि लाला विशनदास और लाला मोहनलाल जी आदि भाई कभी भी अपनी इस शर्त पर हठ नहीं करेंगे हर एक फ़ैसले को आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब पर छोड देंगे। आर्य-प्रतिनिधि-सभा का नाम सुन कर हमारे पाठक आश्चर्य करेंगे। पर, उनको मालूम हो कि जो अपील वेद-प्रचार-फ़ण्ड

के लिये सभा के प्रधान और मन्त्री की ओर से प्रकाशित हुई थी उसमें गुरुकुल खोलने की ओर इशारा मौजूद है। इस समय जब कि आर्यप्रतिनिधि-सभा की अन्तरंग-सभाने आर्य-विद्यार्थी-आश्रम लाहौर को ग़ैर-ज़रूरी ठहरा दिया है, तब पूरी आशा बँध जाती है कि सभा गुरुकुल को अपनी अधीनता में खोलने को तैयार हो जायगी। हमने इरादा कर लिया है कि श्रीगोविन्दपुर आर्यसमाज के जलसे मे, जो कि 3 और 4 अक्तूबर सन् 1897 को होगा, शामिल होंगे और उस समय अपने भाइयों को प्रेरित करेंगे कि वे अपना दान नक़द देवें, जिससे उन सज्जनों के दिलों को ढारस मिले, जो कि गुरुकुल के लिये मुद्दत से व्याकुल हो रहे हैं।" लेख के अन्त में आर्य भाइयों से तन, मन, धन से इस पवित्र काम में सहायता करने की ज़ोरदार अपील करते हुए लिखा गया था–"इस तहरीक से हमदर्दी रखने वाले आर्य-भाई श्रीगोविन्दपुर के जलसे में शरीक हों और जो कुछ भी इस यज्ञ में प्रारम्भिक भेंट करना चाहते हैं, साथ में लावें। अगर न आ सकें तो अपनी हमदर्दी और मदद के वायदे की सूचना पत्र से दें। जिन सज्जनों के पुत्र 12 वर्ष से कम आयु के हैं वे अपने पुत्रों को धर्म के अर्पण करने की प्रतिज्ञा करें, ताकि उनके किये हुए हौसले से उत्साहित होकर श्रीगोविन्दपुर से ही आर्य-प्रतिनिधि-सभा की सेवा में एक निश्चित निवेदन-पत्र भेजा जा सके। पढ़ाई के काम के लिये हमने दो धार्मिक पुरुषों को तैयार किया है। पाठ-विधि महर्षि दयानन्द स्वयं तैयार कर गये हैं। हमें सिर्फ़ उन विषयो का सिलसिला बाँधना होगा और अन्य भाषाओ विशेषतः व्यावहारिक विद्याओं का उनमें समावेश करना होगा; जो आर्यसमाज के विद्वान धार्मिक सभासदो की सहायता से प्रतिनिधि-सभा तैयार कर सकेगी।" इतने लम्बे उद्धरण को यहाँ इसलिये दिया गया है कि पाठकों को पता लग सके कि मुंशीराम जी के जीवन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य का बीजारोपण किस प्रकार किन कठिन परिस्थितियों में किया गया था और उसके लिये आर्य जनता का कितना विश्वास, प्रेम, सहृदयता तथा सहायता उनको प्राप्त हुई थी? इससे यह भी स्पष्ट है कि अपने द्वारा किये जाने वाले इस महान कार्य के सम्पन्न करने का सब श्रेय वे आर्यसमाज को ही देना चाहते थे। उनके लिये यह कुछ कठिन नहीं था कि दस-पाँच प्रभावशाली पुरुषों की एक कमेटी बना कर गुरुकुल खोल लेते। गुरुकुल तो खुल जाता, किन्तु वैसा करना आर्यसमाज के संगठन के प्रतिकूल होता। अपने को संगठन के अधीन कर देना और उसके सामने अपने व्यक्तित्व को भुला देना मुंशीराम जी के जीवन का एक बहुत बड़ा सद्‌गुण है। इसलिये गुरुकुल खोलने का आन्दोलन करते हुए उनका सब ज़ोर इस बात पर

था कि आर्य-प्रतिनिधि-सभा उनके खोलने का निश्चय करे और उसकी ही अधीनता में उसका संचालन हो।

श्रीगोविन्दपुर आर्यसमाज के उत्सव पर ता. 3 अक्तूबर सन् 1897 की रात को 9 बजे आर्य भाइयों की सभा हुई, जिसमें बहुत से बाहिर से आये हुए आर्य भाई भी सम्मिलित हुए। गुरुकुल के सम्बन्ध में बहस हुई। सर्वश्री मुंशीराम जी, रामभजदत्त जी चौधरी, सीताराम जी लाहौर-निवासी, केसरीमल जी दीनानगरी, मुन्शी मुकुन्दराम जी श्रीगोविन्दपुरी आदि ने बहस में भाग लिया। सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि "आर्य पुरुषों की यह कान्फ्रेन्स श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि-सभा पजाब की सेवा में यह निवेदन करना अत्यन्त आवश्यक समझती है कि गुरुकुल शीघ्र ही खोला जाय।" इस प्रस्ताव को सभा के पास भेजने का अधिकार मुंशीराम जी को दिया गया। इसके बाद समाचार-पत्रों में इस विषय की विशेष चर्चा होने लगी। प्रतिनिधि-सभा के उस समय के उत्साही मन्त्री श्री जयचन्द्र जी ने यह विचार उपस्थित किया कि गुरुकुल खोलने का आंदोलन करने के लिये 15-20 आर्य पुरुषों की एक कमेटी बनाई जाय, समाचार-पत्रों में गुरुकुल खोलने की आवश्यकता के सम्बन्ध मे ज़ोरदार लेख निकला करें, डेपुटेशन द्वारा 20-25 हज़ार रुपया जमा किया जाय। आर्यसमाज मुकेरियां के श्रद्धा-सम्पन्न मन्त्री श्री मुंशीराम जी ने अपील करते हुए लिखा कि प्रत्येक प्रतिनिधि-सभा को अपने-अपने प्रांत मे गुरुकुल खोलना चाहिये और पंजाब-प्रतिनिधि-सभा के अधीन प्रत्येक समाज को कम से कम सौ-सौ रुपया इकट्ठा करके सभा के पास भेजना चाहिये। आपने बताया कि 175 आर्यसमाजे इस प्रकार पौने दो लाख रुपया सहज में इकट्ठा कर सकती हैं। इस प्रकार गुरुकुल के सम्बन्ध में उत्साहजनक चर्चा होने लगी। आर्य पुरुषों की इस तैयारी और उत्साह के बाद प्रतिनिधि-सभा चुप कैसे रह सकती थी?

ता. 26 नवम्बर सन् 1898 के स्मरणीय अधिवेशन में प्रतिनिधि-सभा ने गुरुकुल खोलने और ऋषि दयानन्द के अधूरे वेद-भाष्य को पूरा करने के सम्बन्ध मे प्रस्ताव स्वीकृत किये और निश्चय किया कि दोनों कार्यो के लिये आठ-आठ हज़ार रुपया जमा हो जाने पर ये काम शुरू किये जायेंगे। गुरुकुल की योजना तैयार करने का काम मुशीराम जी के सिपुर्द किया गया। आपने शीघ्र ही योजना सभा को सौंप दी। सभा की ओर से उसको प्रचार के लिये छपवाया गया। यह सब होने के बाद भी काम मे ढील होते देख कर मुशीराम जी से नही रहा गया। उन्होंने आषाढ़ सम्वत् 1956, अगस्त 1898, के 'प्रचारक' मे यह घोषणा कर

दी कि जबतक गुरुकुल के लिये 30 हज़ार रुपया इकट्ठा न कर लेंगे, घर में पैर नहीं रक्खेंगे। आर्य पुरुषों में उत्साह तो पूरा था, किंतु देश की अवस्था अनुकूल नहीं थी। चारों ओर दुर्भिक्ष फैला हुआ था। समाचार-पत्र पढ़ने वालों के अलावा गुरुकुल का नाम भी किसी ने नहीं सुना था और गुरुकुल की स्पष्ट कल्पना तो बहुत ही कम लोगों के सामने थी। ऐसी विपरीत और कठिन अवस्था में ऐसी प्रतिज्ञा करके उसको पूरा करना आपका ही काम था।

इन नौ मास के लम्बे दौरों की कथा बहुत बड़ी, रोचक और शिक्षाप्रद है। उस सबको विस्तार के साथ यहाँ देना सम्भव नही है। 25 भाद्रपद सम्वत् 1856, 26 अगस्त सन् 1898 को जालन्धर से इस भीष्म प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये निकलते ही पहला कटु अनुभव यह हुआ कि पिछले चार-पॉच वर्षो से गुरुकुल के लिये जो लोग लम्बी-लम्बी बातें बनाया करते थे, वे सब ढीले दीख पड़े। पण्डित रामभजदत्त चौधरी ने पूरा साथ देने का विश्वास दिलाया और साथ दिया भी। पं. पूर्णचन्द्र जी और मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी भी अच्छे सहायक सिद्ध हुए। नबीबख़्श बैरागी और पं. शिवनाथ जी जालन्धर से ही साथ हुए और अन्त तक साथ रहे। सभी जगह स्थानीय आर्य पुरुषों ने पूरे उत्साह का परिचय दिया, यथाशक्ति स्वय सहायता की और दूसरों से भी कराई। दौरे के पहले हिस्से का कुछ विस्तृत विवरण देने से सारे दौरे का विशद चित्र पाठकों के सामने स्वयं अंकित हो जायगा। ता. 26 अगस्त को जालन्धर से विदा होकर उसी दिन शाम को 6 बजे गुरुकुल-भिक्षा-भण्डली, गुजरानवाला पहुॅची। वहॉ मुंशीराम जी के ता. 26 और 27 को दो व्याख्यान हुए और 592 रु. जमा हुए। 28 को लालामूसा से 36 रु. 8 आ. मिले। 29 को लूनमियानी पहुॅचे, जहॉ 30 को लाला ज्वालाप्रसाद जी की वह ज़मीन देखी, जो उन्होंने गुरुकुल के लिये देने का वायदा किया था। वहॉ से रावलपिडी होते हुए 31 को पेशावर गये। वहॉ से आर्य पुरुषों ने अभी न आने के लिये तार दिया था, किंतु वह तार मुंशीराम जी को मिला न था। एक तो मद्रास-प्रचार के लिये उसी समय वहॉ 1000 रु. इकट्ठा हो चुका था, दूसरे वहॉ दुर्भिक्ष की भी शिकायत थी। इस पर भी वहॉ 1655 रु. इकट्ठे हुए। पॉच सौ से कुछ अधिक स्कूल के लिये जमा किया गया था, वह उसी फ़ण्ड मे दे दिया गया। 5 सितम्बर को रावलपिंडी आये। यहाँ के श्री ख़ुशीरामजी ने पांच हज़ार देने का वायदा किया था, किंतु यहॉ पहुँचने से पहिले ही उनका आकस्मिक देहावसान हो गया था। 6 को कोहमरी और 8 को फिर रावलपिंडी में मुक़ाम हुआ। दोनों स्थानों से 1850 रु. की प्राप्ति हुई। 10 को गुजरात से 842 रु.

प्राप्त हुए। 11 को लालामूसा और 14 को वज़ीराबाद होते हुए 16 को सियालकोट पहुँचे, जहाँ से 650 रु. की भिक्षा प्राप्त हुई। इसी बीच में जम्मू से रामभजदत्त जी 253 रु. कर लाये थे। 18 को वज़ीराबाद से 500 रु. हुआ। 18 से 22 तक लायलपुर, सांगला, अकालगढ़, रामनगर आदि में कार्य किया गया। 22 को लाहौर होते हुए 23 को भिक्षा-मण्डली जालन्धर आ गई। इन दौरों में जालन्धर आने पर मुंशीराम जी दुआबा-हाई-स्कूल या समाज-मन्दिर में ही ठहरा करते थे। एक दिन जालन्धर में विश्राम लेकर 24 सितम्बर को शिमला जाने का विचार था, किंतु वहाँ जाना स्थगित करके अम्बाला और सहारनपुर होते हुए 24 की रात को आप अकेले ही हरिद्वार गये। हरिद्वार जाने का उद्देश्य गुरुकुल के लिये कोई उपयुक्त स्थान ढूँढना था। इसी उद्देश्य से आपने हरिद्वार के आस-पास विशेष कर गंगा के ऊपर ऋषिकेश की तरफ़ बहुत-सी जमीन देखी। पर, आपको गंगा के पार चण्डी पहाड़ के नीचे की ही जगह अधिक पसन्द आई। उस जगह में हरिद्वार से मिलने वाले सब लाभ तो प्राप्त थे, किंतु उससे होने वाली हानियों से वह जगह सुरक्षित थी। हरद्विार आने वाले तीर्थ-यात्रियों को गुरुकुल की ओर आकर्षित करने का ध्यान मुंशीराम जी को उस समय से ही था। दूसरे दिन रामभजदत्त जी भी हरिद्वार पहुँच गये। उनको एक दिन के लिये वहाँ छोड कर आप देहली चल दिये। 26 सितम्बर की रात को यहाँ पहुँचे। पहुँचते ही आर्य-पुरुषों ने निराशा का चित्र खींचना शुरू कर दिया। पर, मुशीराम जी इस प्रकार निराश होने वाले नहीं थे। दूसरे दिन ग्वालियर से पं. पूर्णानन्द जी, प. गंगादत्त जी, प. सूरजप्रसाद जी और हरिद्वार से पं. रामभजदत्त जी भी आ गये। यहाँ टाउन्हाल में भी व्याख्यान हुए। स्थानीय आर्य पुरुषों की निराशा में भी 778 रु. नक़द इकट्ठा हो गया और 800 रु. के लगभग के वायदे हो गये। यहाँ 5 अक्तूबर तक काम हुआ। लगभग 5 सप्ताह की इस यात्रा मे 8 हजार रुपया मिलने की सूचना 'प्रचारक' में दी गई थी। इस यात्रा में एक-दो अच्छी मनोरंजक घटनायें हुई। रावलपिडी जाने के लिये टागा किराये पर किया गया। टांगे के अड्डे वाले ने टांगे के किराये की रसीद 'गुरुकुल' के नाम से काटी। उसे ठीक करने के लिये जब उससे कहा गया तब भी उसके लिये अपनी भूल का मालूम करना कठिन था। मुंशीराम जी को यह गुरुकुल के ही नाम से जानता था। समझाने पर उसको मालूम हुआ कि मुंशीराम जी और गुरुकुल मे क्या भेद है? रावलपिडी में आर्य भाई तक कहने लगे कि लोग तो गुरुकुल का नाम तक नहीं जानते, वे उसके लिये पैसा क्या देंगे?

दूसरी यात्रा का आरम्भ लाहौर से 16 अक्तूबर को हुआ। इस यात्रा में लायलपुर, मुलतान, डेराइस्माइलखां, मुजफ़्फ़रगढ़, सागला, उसके आसपास के बहुत से स्थानों और अमृतसर में काम हुआ। मुलतान में काले-दल वालों ने पर्याप्त विघ्न डाले और गुरुकुल के सम्बन्ध में तरह-तरह के भ्रम भी फैलाये। फिर भी वहाँ से 1500 नक़द और 600 रु. के वायदे हुए। अमृतसर में अच्छा काम हुआ। वायदों के साथ 2000 रु. का चन्दा हुआ। लाहौर-आर्यसमाज का उत्सव आ जाने से अमृतसर का काम बीच में ही छोड़ना पडा। उत्सव पर व्याख्यानों द्वारा गुरुकुल के सम्बन्ध में अच्छा प्रचार हुआ।

इस यात्रा में यह अनुभव हुआ कि गुरुकुल के सम्बन्ध में किस प्रकार का भ्रम फैलाया जाता है। सबसे बड़ा भ्रम यह था कि गुरुकुल के लिये लड़के कहाँ से आवेंगे? अपने लड़कों को गुरुकुल भेजने का वायदा केवल पिताओं ने किया है, माताओं ने नहीं। 25 वर्ष की आयु तक लड़कों को ब्रह्मचारी नहीं रखा जा सकता। माना कि लड़कों का मन, आत्मा और शरीर दृढ़ होगा, किंतु वे गुरुकुल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद करेंगे क्या? अपना राज्य हुए बिना गुरुकुल की स्कीम सफल नहीं हो सकती। जब दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक-कालेज के लोगों ने चन्दा जमा करके समाजों को धत्ता बता दिया है तब इसका क्या प्रमाण है कि गुरुकुल वाले भी ऐसा नहीं करेंगे? ये तो कुछ ऐसे भ्रम थे जिनमें सभ्यता की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया गया था, किन्तु ऐसे बेहूदा और निराधार भ्रम भी फैलाये जाते थे जो केवल उपहास की सामग्री होते थे। इस भ्रमपूर्ण और विरोधी वातावरण में मुंशीराम जी कभी निरुत्साहित नहीं हुए। अढ़ाई मास में 11 हज़ार नक़द जमा हुआ। वायदों की रक़म मिलाकर 20 हजार से ऊपर हुआ होगा।

तीसरी यात्रा भी पंजाब मे ही हुई। चौथी यात्रा मे हैदराबाद दक्षिण और कांग्रेस के अवसर पर लखनऊ भी जाना हुआ। हैदराबाद-दक्षिण मे बीमार हो जाने से कुछ अधिक काम नही हुआ, किन्तु लखनऊ कांग्रेस पर प्रचार बहुत अच्छा हुआ। लाहौर के बैरिस्टर श्री रोशनलाल जी, जो उस समय आर्य-प्रतिनिधि सभा पजाब के मन्त्री थे, और श्री जीवनदास जी की सलाह से लखनऊ कांग्रेस, सन् 1898, पर गुरुकुल के प्रचार की दृष्टि से ही मुशीराम जी ने जाने का निश्चय किया और उनके साथ आप 22 दिसम्बर को जालन्धर से चल दिये। श्री गगाप्रसाद जी वर्मा और श्री विशननारायण जी दर के उद्योग से ता. 29 दिसम्बर को कांग्रेस-पण्डाल में कांग्रेस समाप्त होते ही लखनऊ के रईस श्री श्यामानारायण जी के सभापतित्व में गुरुकुल के सम्बन्ध में मुंशीराम जी का व्याख्यान हुआ। उपस्थिति

बारह सौ से ऊपर थी। गुरुकुल की योजना की छपी हुई 1500 प्रतियाँ बॉटी गई। सोशियल-कान्फ्रेन्स में भी आप सम्मिलित हुए। वहाँ भी गुरुकुल के सम्बन्ध में अच्छी चर्चा हुई। गुरुकुल की स्कीम की प्रतियॉ समाप्त हो गई थीं। माँग अभी बहुत थी। स्टेशन पर मिलने वाले लोगों ने भी आपसे उसकी मांग की। इस चर्चा से बड़ा लाभ हुआ। भारत के दूर-दूर प्रांतों से आये हुए लोगों तक और उनके द्वारा उनके प्रांतों तक गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का सन्देश पहुँच गया। लखनऊ में चन्दे के लिये अपील जान बूझ कर नहीं की गई थी, क्योंकि संयुक्त-प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभा भी गुरुकुल खोलने का विचार कर रही थी।

इन यात्राओं का विवरण 'प्रचारक' तथा दूसरे समाचार-पत्रों में भी बराबर निकला करता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि दूर-दूर से गुरुकुल के लिये पैसा आने लगा। अफ्रीका-प्रवासी भाइयों ने विशेष उत्साह का परिचय दिया। उनके पास से 500, 1000 और 1600 रु. तक की रक़में प्राप्त हुई। लखनऊ जाने से पहिले 20 हज़ार रुपया जमा हो चुका था। गुजरानवाला के वैदिक-आश्रम में उन लड़कों को लेना शुरू कर दिया गया था, जो गुरुकुल खुलने के समय तक वहाँ ही रह कर गुरुकुल मे भरती होने की तैयारी करते थे। सन् 1898 के दिसम्बर शुरू में मुशीराम जी ने अपने दोनों पुत्रों—हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र—को भी आश्रम मे भेज दिया था। 11 दिसम्बर को पण्डित गगादत्त जी आश्रम के आचार्य हुए, उनकी देख-रेख में 34 विद्यार्थियो ने ब्रह्मचर्य की पद्धति के अनुसार जीवन बिताते हुए गुरुकुल के लिये तैयार करनी शुरू कर दी थी।

8 अप्रैल सन् 1900 को मुंशीराम जी की भीष्म-प्रतिज्ञा पूरी हो गई और 30 हज़ार से भी अधिक, लगभग 40 हज़ार, रुपया नकद जमा हो गया। लाहौर-आर्य-समाज मे इस सकल्प की पूर्ति के उपलक्ष्य में विशेष उत्सव मनाया गया। मुंशीराम जी का जलूस निकाला गया और समाज-मन्दिर मे आपका अभिनन्दन किया गया। उस दिन आर्य भाइयो की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। जिस प्रिय वस्तु का स्वप्न देख कर वे मुग्ध हुआ करते थे, उसका मूर्त रूप अब उनकी ऑखों के सामने नाचने लगा। गुरुकुल की स्थापना को पागलपन कहने वालों को भी पता लग गया कि जिसको वे पागलपन समझ रहे थे, वह एक सचाई थी और उस सचाई के पीछे श्रद्धा, लगन तथा तपस्या की भावना काम कर रही थी। इस प्रकार घर के सब काम-काज का त्याग कर, फलती-फूलती हुई वकालत को लात मार कर, संसार की मोह-माया से ऊपर उठ कर केवल गुरुकुल की स्थापना के स्वप्न के पीछे गॉव-गॉव घूमने वाले मुंशीराम जी को समाज

ने 'महात्मा' पद से विभूषित किया। एक साध के पीछे सर्वस्व न्योछावर करने वाले महापुरुष ही वस्तुतः 'महात्मा' हैं। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के समय तक 'मुंशीराम जी' की अपेक्षा 'महात्मा जी' के नाम से ही लोग आपको अधिक जानते रहे। लिखने-बोलने में आपके लिये इस नाम का ही अधिक उपयोग होता था। महात्मा मुंशीराम जी की इस तपस्या ने दूसरे प्रान्तों की प्रतिनिधि-सभाओं में भी हलचल पैदा कर दी। उनका ध्यान भी गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की ओर आकर्षित हुआ। संयुक्त-प्रान्तीय-प्रतिनिधि सभा ने भी 20 हजार रुपया जमा करके गुरुकुल खोलने का निश्चय किया।

तीसरा-भाग (वानप्रस्थ)

(क)

गुरुकुल

1. सर्वमेध-यज्ञ, 2. कांगड़ी में गुरुकुल, 3. विस्तार, 4. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, 5. लोकप्रियता, 6. भ्रम और विरोध, 7. गुरुकुल और प्रकाश-पार्टी, 8. सरकार की तिरछी नज़र, 9. आकर्षण और विशेषतायें, 10. गुरुकुल में महात्मा गांधी, 11. असिद्ध स्वप्न, 12. गुरुकुल से जुदाई।

1. सर्वमेध-यज्ञ

गुरुकुल की स्थापना के सम्बन्ध में 'जो बोले सो कुण्डा खोले' की कहावत महात्मा मुंशीराम जी पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने शिक्षा की जिस पुरातन आर्ष पद्धति को पुनर्जीवित करने पर अपने ग्रन्थों में ज़ोर दिया है, उसके लिये महात्मा जी के हृदय में कुछ ऐसी स्फूर्ति पैदा हुई कि वे उसके पीछे भिखारी बन गये। गुरुकुल की स्थापना का प्रस्ताव आपने ही आर्य जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। उस प्रस्ताव को मूर्त्त रूप देने के लिये आपको ही गॉव गॉव घूम कर गले में भिक्षा की झोली डाल कर चालीस हज़ार रुपया जमा करना पड़ा और घर-बार त्याग कर स्वयं भी गुरुकुल में आकर बसेरा डालना पड़ा। उसके आचार्य और मुख्याधिष्ठाता होकर उसको पालने-पोसने और आदर्श शिक्षणालय बनाने का सब काम भी आपको ही करना पड़ा। हृदय के दो टुकड़े—दोनों पुत्र—शुरू में ही गुरुकुल को अर्पण कर दिये गये थे। फलती-फूलती हुई वकालत का हरा पौधा भी गुरुकुल के ही पीछे मुरझा गया था। पहले ही वर्ष सम्वत् 1959 मे, आपने अपना सब पुस्तकालय गुरुकुल को भेंट किया। सम्वत् 1964 में लाहौर-आर्यसमाज के तीसवें उत्सव पर 'सद्धर्म-प्रचारक' प्रेस भी, जिसकी कीमत आठ हज़ार से कम नहीं थी, गुरुकुल के चरणों पर चढ़ा दिया। तीसर हजार से अधिक लगा कर खड़ी की गई जालन्धर की केवल एक कोठी बाक़ी थी। उसको भी सम्वत् 1968 में गुरुकुल के दसवें वार्षिकोत्सव पर गुरुकुल पर न्यौछावर कर दिया। सभा ने उसको बीस हज़ार में बेच कर वह रक़म गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा की। यह सब उस हालत में किया गया था जब कि सिर पर हज़ारों का ऋण था और गुरुकुल से निर्वाहार्थ भी आप कुछ नहीं लेते थे। कोठी दान करते हुए सभा के प्रधान के नाम लिखे एक पत्र में आपने लिखा था—"मुझे इस समय 3600 रु. ऋण मद्धे देना है, वह मैं अपने लेख आदि की आय से चुका दूँगा। इस मकान से उस ऋण का कोई सम्बन्ध नहीं है।" इस

पर भी छिद्रान्वेषी लोगों के ये आक्षेप थे कि आप अपने पुत्रों के लिये कुछ भी न छोड़कर पीछे उन पर कर्ज़ का भार लाद जायेंगे। मुंशीराम जी ने वह सब ऋण उतार कर और सन्तान को गुरुकुल की सर्वोच्च शिक्षा से अलंकृत करके ऐसे सब लोगों के मुँह बन्द कर दिये थे। इस प्रकार तन, मन, धन सर्वस्व आपने गुरुकुल को अर्पण कर दिया। अध्यापकों एवं कर्मचारियों पर भी इसका इतना असर पड़ा कि प्रायः सबने अपने वेतन में कमी कराई और एक-एक मास का वेतन गुरुकुल को दान में दिया। अन्त में आपने अपना स्वास्थ्य भी गुरुकुल के पीछे मिट्टी कर दिया। सम्वत् 1965 में आपको लाहौर में 'हरनिया' का आपरेशन तक कराना पड़ा। पर, वह कष्ट सदा के लिये ही बना रहा। पेटी बाँधने पर भी वह कष्ट कभी-कभी उग्र रूप धारण कर लेता था। कई बार पाँच-पाँच, छः-छः मास के लिए डाक्टर बाधित करके आपको क्वेटा, कसौली आदि पहाड़ी स्थानों पर भेजते थे, पर आपको दो-एक महीने में ही गुरुकुल की चिन्ता वहाँ से वापिस लौटा लाती थी। गुरुकुल के लिये चन्दा इकट्ठा करने के लिये जो दौरे आपको करने पड़ते थे, उनसे स्वास्थ्य को बहुत धक्का लगता था। सम्वत् 1967, 68 और 99 मे गुरुकुल से विद्यार्थियो का शुल्क हटा दिया गया था। उन वर्षों में आपको बजट की पूर्ति के लिए जो कठोर परिश्रम करना पडा, उसका स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा। सम्वत् 1971 में आपने गुरुकुल के लिये 15 लाख की स्थिर निधि जमा करने को कठिन परिश्रम शुरू किया ही था कि स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। मानो, अपने स्वास्थ्य की ही आपने उस सर्वमेध-यज्ञ में अन्तिम आहुति दी थी, जिसका अलौकिक अनुष्ठान आपने अपने जीवन रूपी यज्ञकुण्ड में किया था। आपने अपने को गुरुकुल के साथ इस प्रकार तन्मय कर दिया था कि आपके व्यक्तित्व और गुरुकुल के अस्तित्व को एक दूसरे से अलग करने वाली किसी स्पष्ट रेखा का अंकित करना सम्भव नहीं था। वैसे मुंशीराम जी के हृदय में इस सर्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान की भावना बहुत पहले ही पैदा हो चुकी थी। सम्वत् 1947, सन् 1891, की पंजिका के 5 पौष, 12 जनवरी, के पृष्ठ मे लिखा हुआ है—"मातृभूमि के पुनरुद्धार के लिये बड़े तप-युक्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता है। बार-रूम में वकील भाइयों के साथ इस पेशे के धर्माधर्म विषय में बातचीत हुई। मैं बार-बार अपने आत्मा से प्रश्न कर रहा हूँ कि वैदिक धर्मकी सेवा का व्रत धारण करते हुए क्या मैं वकील रह सकता हूँ? मार्ग क्या है? कौन बतलाएगा? अपने स्वामी परम पिता से ही कल्याण-मार्ग पूछना चाहिये। यह संशयात्मकता ठीक नहीं। अपने देश तथा धर्म की सेवा के लिये पूरा आत्म-समर्पण

करना चाहिये। परन्तु परिवार भी एक बड़ी रुकावट है। सन्दिग्ध अवस्था मे हूँ। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिए। कृष्ण भगवान् ने कहा है—'संशयात्मा विनश्यति'। पिता! तुम ही पथ-प्रदर्शक हो" यही नहीं, एक वर्ष पहिले सम्वत् 1946 के 15 माघ की पंजिका में भी लिखा हुआ है—"गृहस्थ मुझे अन्तरात्मा की आवाज़ सुनने से रोकता है, नहीं तो बहुत काम हो सकता। फिर भी जो कुछ कर सकता हूँ, उसके लिये परमात्मा को धन्यवाद है।" ऐसे उद्धरण और भी दिये जा सकते है और उनकी समर्थक कुछ घटनायें भी, किन्तु इतने ही से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशीराम जी, गृहस्थ और वकालत दोनों के बन्धन काट कर, देश और धर्म की वेदी पर पूरे आत्म-समर्पण अथवा सर्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान की तैयारी बहुत पहिले ही से कर रहे थे। इसीलिये पतिव्रता पत्नी के असामयिक देहावसान के बाद पैंतीस-छत्तीस वर्ष की साधारण आयु, छोटे-छोटे बच्चों के लालन-पालन की विकट समस्या और मित्रों व सम्बन्धियों का सांसारिक प्रलोभनो से भरा हुआ अत्यन्त आग्रह होने पर भी मुंशीराम जी फिर से गृहस्थ में फँसने का विचार तक नहीं कर सकते थे। निवृत्ति के मार्ग की ओर मुँह किये हुए महात्मा के लिये प्रवृत्ति के मार्ग का अवलम्बन करना सम्भव नहीं था। इसी से गुरुकुल की सेवा में आत्म-समर्पण करने का अवसर उपस्थित होने पर फलती-फूलती वकालत भी रुकावट नहीं बन सकी। राजभवन की मोह-माया और ममता के सब बन्धन एक साथ तोड़ कर घोर तपस्या के लिये जंगल का रास्ता पकड़ने वाले बुद्ध के समान मुशीराम जी ने भी, वेद की इस वाणी को हृदयंगम करते हुए कि 'उपव्हरे गिरीणां सगमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत' चण्डी पहाड़ की तराई में हरिद्वार की गंगा के उस पार विकट जगलो का रास्ता पकड़ा। कहते हैं, त्यागी दयानन्द ने भी सन् 1824 के कुम्भ के बाद सर्वत्यागी हो कर केवल लँगोटी रख तपस्या को पूर्णता तक पहुँचाने के लिये इन्हीं जंगलों का रास्ता पकड़ा था। गुरुकुल की वह भूमि, मुशीराम जी के सर्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की यज्ञभूमि होने से, प्राचीन ऋषि-मुनियो की दण्डकारण्य की भूमि के समान ही आपके लिए 'तपोभूमि' बन गई। उठती हुई आयु के वैभव-सम्पन्न होने के जीवन के सर्वश्रेष्ठ भाग को उस बीहड़ जंगल मे गुरुकुल के रूप में पूर्ण-स्वतन्त्र-उपनिवेश बसाने में लगा देने के कारण उस भूमि को आपकी 'कर्मभूमि' कहना चाहिये। गंगा की धारा के प्राकृतिक कोप के प्रतिकूल एक नयी सृष्टि की रचना करने वाले महात्मा मुंशीराम जी ही उस भूमि के ब्रह्मा थे। उस भूमि का छोटे से छोटा परिवर्तन भी आपकी आँखों के सामने हुआ था। गुरुकुल की वाटिका मे लगाये गये एक-एक पौदे और उसमें

बखेरे गये एक-एक बीज को आपका आशीर्वाद प्राप्त था। उस भूमि में खड़े किये गये मकानों की नींव तक में भरी हुई एक-एक रोड़ी और उस रोड़ी पर जमाई गई एक-एक ईंट में आपके त्याग की भावना कुछ ऐसी समाई हुई थी, जैसे आपने अपने हाथों से ही उनको चुना था। घूमने की सड़कें, खेलने के मैदान और आश्रम तथा विद्यालय के दालान, सारांश यह कि गुरुकुल की सबकी सब रचना आपके महान व्यक्तित्व की जीती-जागती निशानी थी। ब्रह्मचारी और कर्मचारी ही नहीं, उस भूमि के पशु, पक्षी, वनस्पति और जंगम सृष्टि तक में आपके सर्वस्व अर्पण की स्पष्ट छाया दीख पड़ती थी। मुंशीराम जी के लिये यह सर्वस्व-अर्पण अथवा सर्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान 'एक विस्तृत गृहस्थ का बोझ' था। आपके सार्वजनिक जीवन के जिस भाग को इस जीवनी में 'वानप्रस्थ' का नाम दिया जा रहा है, उसके लिये आप कहा करते थे—"मैं अधिकतर गृहस्थ में फँस गया हूँ।' आपका यही विस्तृत गृहस्थ 'गुरुकुल कांगड़ी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

2. कांगड़ी में गुरुकुल

महात्मा मुंशीराम जी के सर्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान के लिये यजमान भी आपको आपके ही सरीखे एक उदाराशय महानुभाव सहज में मिल गये। उन्होंने इस यज्ञ को सफल बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी। हरिद्वार के पार चण्डी पर्वत की तराई का स्थान मुंशीराम जी को कुछ ऐसा जँच गया था कि पंजाब में कई स्थानों पर मुफ़्त मिलने वाली भूमि भी उसकी तुलना में आपको नहीं जँचती थी। आपके ही आग्रह को मानते हुए 29 जुलाई सन् 1900 को आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग-सभा ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि हरिद्वार के पास गुरुकुल के लिये ज़मीन ख़रीद कर मकान आदि बनाये जायें। प्रथम, अधिष्ठाता मुंशीराम जी नियुक्त किये गये और ज़मीन ख़रीदने, मकान बनवाने तथा अध्यापकों आदि की नियुक्ति का सब काम भी आप पर ही छोड़ा गया। पर, यहाँ वैसी अनुकूल भूमि का मिलना इतना सहज नहीं था। जो भूमि पसन्द की जाती थी, उसकी क़ीमत इतनी चढ़ा-बढ़ा कर माँगी जाती थी कि उसका सौदा पटना कठिन हो जाता था। नजीबाबाद के रईस स्वनामधन्य चौधरी मुन्शी अमनसिंह जी के मन में कुछ ऐसी पवित्र भावना पैदा हुई कि उन्होंने लगभग उसी स्थान पर, जो मुंशीराम जी के मन में बैठ चुका था, अपना कांगड़ी-गाँव और उसके आस-पास की सब 1200 बीघा भूमि उस पवित्र कार्य के लिये अर्पण करने का संकल्प कर लिया। पहिले जब यह समाचार मुंशीराम जी तक पहुँचाया गया, तब आपने समझा कि पड़ी हुई जंगली ज़मीन के पैसे खड़े करने को ही यह प्रस्ताव किया गया है। फिर चौधरी जी ने नजीबाबाद-आर्यसमाज के मार्फ़त आर्य-प्रतिनिधि-सभा-पंजाब को अपने शुभ-संकल्प की सूचना दी। इस पर 22 अक्तूबर सन् 1901 को सभा मे यह अन्तिम निश्चय किया गया कि चौधरी जी की उदारता के लिये उनको धन्यवाद किया जाय और उनकी दी हुई भूमि में मकान आदि बनाकर आगामी होली की छुट्टियों में 21, 22, 23 और 24 मार्च सन् 1902 को गुरुकुल का

उद्घाटनोत्सव किया जाय। 20 नवम्बर को मुंशीराम जी ने कनखल पहुँच कर नजीबाबाद वालों की कोठी में डेरा जमा लिया। हिंसक तथा भयानक जानवरो से घिरे हुए, दिन में भी मनुष्यों के लिये दुर्गम, जंगल को साफ़ करा-कर फूंस की कच्ची झोंपडियॉ खडी की जाने लगीं और उद्घाटनोत्सव की तैयारियॉ बड़े उत्साह के साथ होने लगीं। ऐसा अनुमान किया गया कि उत्सव पर कम से कम एक हज़ार यात्री अवश्य पहुँचेंगे। इसलिये उत्सव के ख़र्च के लिये दो हज़ार रुपए की अपील की गई। रुपया आना शुरू हो गया और वर्षो की आशा को मूर्त रूप में देखने की उत्सुकता से प्रेरित आर्य-पुरुष होली की छुट्टियों के दिन अंगुलियों पर गिनने लगे। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार इस उत्सव पर भी एक बड़ा विघ्न आ उपस्थित हुआ। हरिद्वार में प्लेग फैल गया। 19 जनवरी सन् 1902 को अन्तरंग-सभा को विवश होकर यह निर्णय करना पड़ा कि उद्घाटन का उत्सव सार्वजनिक रूप में न करके निजी तौर पर किया जाय; उत्सव के लिये आया हुआ रुपया दाताओं को लौटा दिया जाय और यदि वे स्वीकार करें तो ब्रह्मचारियो को गुजरांवाले से कांगड़ी लाने का ख़र्च उस रुपये से पूरा किया जाय। अन्तरंग-सभा के इसी अधिवेशन में ब्रह्मचारियों को गुजरांवाले से कागड़ी लाने का भी निश्चय किया गया। समाचार-पत्रों में यह सूचना दे दी गई कि किसी को भी निजी तौर पर निमन्त्रण नहीं दिया जायगा और किसी के ठहरने का प्रबन्ध भी नहीं किया जा सकेगा। जो कोई भी आवे, अपने कष्ट का ध्यान रख कर आवे और अच्छा हो यदि स्त्रियों तथा बच्चों को साथ में न लाया जाय।

गुरुकुल के चौदहवें वार्षिक-उत्सव पर अपील करते हुए महात्मा मुशीराम जी ने उस दृश्य का उत्साहप्रद वर्णन किया था, जब कि 34 बालकों के साथ उन्होंने हिस्र पशुओं से घिरे हुए इस सघन वन में पहिली बार प्रवेश किया था। उस दृश्य की कल्पना ही कितनी मधुर, सुन्दर और उत्साहप्रद है? जिनको उस दैवी दृश्य को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे सचमुच धन्य हैं। गुजरांवाले से रेल के रिज़र्व डब्बे में सब ब्रह्मचारी आचार्य पण्डित गगाप्रसाद जी के साथ विदा होकर फाल्गुन बदी 10 सम्वत् 1958, 2 मार्च सन् 1902, को मध्याह्न के बाद लगभग शाम को 4 बजे हरिद्वार स्टेशन पहुँचे। मुंशीराम जी और उनके उन दिनों के अन्यतम साथी, गुरुकुल में 'भण्डारी' के नाम से प्रसिद्धि पाये हुए, श्री शालिग्राम जी जालन्धर से मण्डली के साथ हो गये थे। आगे आगे ऋषि दयानन्द का बड़ा चित्र और 'ओ३म्' का झण्डा था। ब्रह्मचारी पंक्ति बॉधे हुए वेद मन्त्रों का पाठ करते हुए हरिद्वार के कुछ भाग और कनखल के मुख्य बाजारों में से होते हुए

निकले। लोगों ने समझा कि दयानन्दियों का भी यहीं कहीं कोई अखाड़ा खुलने वाला है, गुरुकुल की उनको कुछ भी कल्पना नहीं थी। सब बालकों और उनके साथ के कार्यकत्ताओं मे बड़ा उत्साह था। चार मील चलने के बाद भी किसी ने थोड़ी सी भी थकान अनुभव नहीं की। गुरुकुल-भूमि पहुँच कर सबने गंगा में स्नान किया और बड़े आनंद के साथ भोजन किया। वस्तुतः इसी दिन गुरुकुल की स्थापना हुई थी। उस समय वहाँ केवल थोड़ी-सी झोंपड़ियाँ थीं, जो किसी प्राचीन ऋषि-आश्रम की याद दिलाती थीं। ऑधी और वर्षा का इतना प्रकोप था कि कोई भी दिन शांति से नहीं बीतता था। जंगल भी ऐसा भयानक था कि गुरुकुल से जिस कांगड़ी गॉव को पहुँचने में अब केवल पॉच मिनट लगते हैं, उस समय डेढ़ घंटा से कम न लगता था। गंगा के उस पवित्र तट पर, जिस पर पीछे दिन-रात ब्रह्मचारी खेला और घूमा करते थे, शाम की अँधियारी के बाद अकेले जाना उस समय एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य था।

इस प्रकार स्थापना हो जाने पर भी उद्घाटन का उत्सव होली की छुट्टियों में 21, 22, 23 और 24 मार्च को हुआ। बिलकुल निजी तौर पर किये जाने और किसी भी सज्जन को निमन्त्रण-पत्र न भेजने पर भी उत्सव पर पॉच सौ आर्य स्त्री-पुरुष पहुँच ही गये थे। पहिले तीनों दिन सवेरे होम और मध्यान्होत्तर सत्संग होता रहा। चौथे दिन फाल्गुन पूर्णमासी को 45 ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ-संस्कार हुआ और चैत्र बदी प्रतिपदा को नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू हो गई। चारों दिन के होम मे एक सौ रुपया ख़र्च हुआ और वेदारम्भ संस्कार के बाद 600 रुपया भिक्षा में प्राप्त हुआ। आर्य-प्रतिनिधि-सभा के उस समय के प्रधान श्री रामभजदत्त चौधरी, स्वामी दर्शनानन्द, वज़ीरचन्द जी विद्यार्थी आदि के व्याख्यान और प्रवीणसिंह जी तथा बृजलाल जी के भजन हुए। धर्मवीर स्वर्गीय पण्डित लेखराम जी की वीर पत्नी ने दो हज़ार रुपये दान मे दिये। इस रक़म के अलावा चार सौ और भी जमा हुए। जो संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में देश की स्वतन्त्र शिक्षण-संस्थाओं में प्रमुख मानी जा रही है, जिसने शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परीक्षण को सफल कर दिखाया है, जिसने शिक्षा-कला के विशेषज्ञ लोगों के विचार तथा आदर्श को भी बदल दिया है और जो अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के हृदय की सन्तान होने से—'हृदयादधिजायसे'—उनका एकमात्र वंशधर-स्मारक है, उसके प्रारम्भ, स्थापना अथवा उद्घाटन की कहानी इतनी-सी ही है। संसार में सभी शुभ कार्यो का प्रारम्भ प्रायः बहुत छोटे से होता है। गुरुकुल इस समय जितना विशाल अथवा महान दीख पड़ता है उसका प्रारम्भ उतना ही अल्प अथवा छोटा

था। हज़ारों को अपनी शीतल छाया का स्वर्गीय सुख पहुँचाने बाले बट वृक्ष का बीज कितना छोटा होता है? आज बटवृक्ष से भी अधिक फैले हुए गुरुकुल का बीज उसके बीज से भी छोटा था।

बाद में मुन्शी अमनसिंह जी ने भी गुरुकुल के लिये सर्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर डाला और अपनी जमा की हुई सब रक़म भी गुरुकुल की भेंट कर दी। वह रक़म ग्यारह हज़ार रुपया थी।

3. विस्तार

गुरुकुल के विस्तार की कहानी बहुत रोचक, विस्तृत, शिक्षा-प्रद और महत्त्वपूर्ण है। गुरुकुल का विस्तार और उसका इस समय का रूप स्वतः ही एक ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ को इस जीवनी के कुछ पृष्ठों में देना सागर को गागर में भरने के समान दुस्साहस-मात्र है। इन पृष्ठों में उसका केवल परिचय दिया जा सकता है। उस नवजात शिशु के समान गुरुकुल बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ता चला गया, जिसका लालन-पालन माता-पिता द्वारा बड़ी सावधानी और तत्परता के साथ किया जाता है। किसान अपनी खेती और माली अपने बग़ीचे के लिये जितनी कड़ी मेहनत करता है, उससे कही अधिक कड़ी मेहनत गुरुकुल के लिये उसके संचालकों ने की थी। पहिले ही वर्ष में झोंपड़ियों के साथ-साथ कच्चे मकान बनाने शुरू कर दिये गए थे। जो स्थान बाद में दुमंज़िला मकान बनने पर 'लाल किले' के नाम से मशहूर हुआ था, उसी स्थान पर गुरुकुल का मुख्य द्वार बना कर उसके उत्तर की ओर मुख्याधिष्ठाता, डाक्टर, सन्ध्या-हवन, पानी, औषधालय, आश्रम आदि के लिए कमरे बनाए गए थे और दूसरी ओर पढ़ाई के कमरे, स्टोर-रूम, भोजन-भण्डार, रसोई आदि के बनाने का विचार किया गया। शुरू-शुरू में इन इमारतों पर 7500 रु. लगाया गया था। बाद में बीचों-बीच यज्ञशाला बनाई गई। स्थापना के समय की झोंपड़ियों के बाद गुरुकुल की पहिली इमारतों का इतना ही घेरा था। ब्रह्मचारियों की संख्या और आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ इमारतें भी बढ़ती चली गई। सात-आठ वर्षो में ही यह घेरा केवल आश्रम के लिये छोड़ दिया गया और विद्यालय (पढ़ाई) के लिये दूसरी इमारतें खड़ी की गई। विक्रमी सम्वत् 1965 में महाविद्यालय की स्थापना होने पर उसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये महाविद्यालय के विशाल भवनों का निर्माण किया गया। महाविद्यालय का आश्रम भी अलग बनाया गया। आचार्य जी का बँगला, परिवार-गृह, बढ़ईख़ाना, गोशाला, उत्सव के लिये टिन-शेड, व्यायामशाला, बग़ीचा,

बग़ीचे में स्नानगृह आदि की क्रमशः ऐसी वृद्धि होती गई कि 'गुरुकुल' की अपने में पूर्ण, स्वायत्त और स्वतन्त्र उपनिवेश-सरीखी एक नयी ही बस्ती बस गई। महात्मा जी के एक मित्र-मजिस्ट्रेट मि. हावर्ट चिट्ठी के पते पर आपको 'गवर्नर आफ गुरुकुल-कालोनी' लिखा करते थे।

सम्वत् 1964 मे अधिकारी-परीक्षा का सूत्रपात हो कर 1965 में गुरुकुल में महाविद्यालय-विभाग की स्थापना हुई। गुरुकुल की परीक्षाओं में अधिकारी परीक्षा ही सबसे अधिक कठिन समझी जाती है। सम्वत् 1968 में गुरुकुल ने विश्वविद्यालय का रूप धारण किया, जब कि दो स्नातकों को 'विद्यालंकार' की पदवी से विभूषित कर उनको प्रमाण-पत्र दिया गया। गुरुकुल का दीक्षान्त-संस्कार भी गुरुकुल की एक विशेषता है। जब आचार्य स्नातकों को विदाई का सन्देश देता है, तब उत्सव के निमित्त पधारे हुए वहाँ उपस्थित दस-पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुषों की आँखों से अश्रुधारा बह निकलती है। पहले दीक्षान्त-संस्कार पर दिये गये महात्मा जी के भाषण की कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं इन पंक्तियो से पाठकों को ब्रह्मचारियो के प्रति आचार्य की ममत्व की भावना और गुरुकुल के सम्बन्ध की उच्च आकांक्षा का भी परिचय मिलेगा। उस भाषण मे आचार्य जी ने कहा था—"यज्ञरूप परमात्मा धन्य है, जिसकी अपार कृपा से आर्य-समाज के रचे हुए इस ब्रह्मचर्य-आश्रम-रूपी महान्-यज्ञ का पहिला चरण आज समाप्त होता है। आर्य जाति का कौन ऐसा सभासद है, जिसे सहस्रों वर्षो से लुप्त हुए इस दृश्य का आज पुनः प्रदर्शन कर प्रसन्नता न हो रही हो। गुरुकुल के स्नातको' तुम गुरुकुल रूपी वृक्ष के पहले फल हो। सारे सभ्य संसार की आँखें तुम पर लगी हुई हैं। परमात्मा आशीर्वाद करें कि तुम संसार में धर्म और शान्ति फैलाने के साधन बन कर अपने कुल के यश को सारे संसार में फैलाओ। तुम्हारा कर्तव्य इस कारण भी अधिक है कि पीछे आने वाले स्नातक तुम्हारा अनुकरण करेंगे। उनके लिये केवल तुम ही आदर्श होगे। मैं जानता हूँ कि तुम को बडी कठिनाई होगी, जब कि तुम्हारे लिये इस समय कोई जीवन आदर्श नहीं है। परन्तु मुझे पूर्ण आशा है कि तुम्हारे आचार्य और उनके दूसरे सहकारियों ने जो जो प्रयत्न तुम्हारी शिक्षा को पूर्णतया फलदायक बनाने के लिये किये हैं, वे अवश्य अत्युत्तम फल लावेंगे और तुम पीछे आने वाले स्नातकों के लिये एक अत्युच्च आदर्श बनोगे। मैं आज आर्यसमाज को भाग्यशाली समझता हूँ, जिसके लगातार यत्नों को सफलता प्राप्त हुई है। आर्यसमाज के जिन सभासदों और सेवकों ने कठिन से कठिन आँधियों का भी सामना करते हुए अपने विश्वास को दृढ़ रखा, उन्हें आज अपना सिर परमात्मा के सामने धन्यवाद के

साथ झुका देना चाहिये। इस यज्ञमण्डप में उपस्थित देवियों और सभ्य पुरुषो से मेरी प्रार्थना है कि वे सब एकत्रित होकर इन स्नातकों को अशीर्वाद दें, जिससे वे अपने धर्म और अपने देश के यश को देश-देशांतरों में पहुँचाने मे कृतकार्य हों। हे करुणामय दयालु पिता! तुम वीर्य और ज्योति के भण्डार हो। हम सबको बल दो कि हम वीर्यवान् होकर उस तेज को धारण करें जिसके दृश्य-मात्र से सब दुख हमसे दूर हो जायें।" कितने मार्मिक, हृदयस्पर्शी और भावपूर्ण शब्द हैं! जिस दीक्षांत-संस्कार पर महात्मा जी ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे, उसके हृदयग्राही दृश्य की कल्पना करना कुछ कठिन नहीं है।

सम्वत् 1967 में कांगड़ी-गॉव का गुरुकुल का वह स्थान बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिये इतना अपर्याप्त जॅचने लग गया था कि कुछ श्रेणियों को दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये दूसरे स्थान की खोज की जाने लगी थी, किन्तु शाखा-गुरुकुलों के खुलने का उपक्रम शुरू हो जाने से वह प्रश्न बिना किसी कठिनाई के हल हो गया।

4. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

गुरुकुल का प्रबन्ध शुरू से ही पंजाब की आर्य-प्रतिनिधि-सभा की अन्तरंग-सभा के अधीन है। पर आंतरिक प्रबन्ध की सब जिम्मेवारी मुख्याधिष्ठाता पर है और शिक्षा का प्रबन्ध आचार्य के अधीन है। सम्वत् 1966 में अध्यापक-सभा और उपाध्याय-सभा की स्थापना की गई। इन सभाओं से न केवल प्रबन्ध और पढ़ाई की व्यवस्था में ही सहायता मिलती थी, किन्तु गुरुकुल के लिये चन्दा इकट्ठा करने के काम में भी समय-समय पर अच्छी सहायता मिलती रहती थी। छोटे से छोटे अध्यापक ही नहीं, साधारण से साधारण कर्मचारी से लेकर ऊपर तक सबके सब एक ही भावना से प्रेरित होकर अपने कर्तव्य-पालन में लगे रहते थे। एक बड़े परिवार की तरह गुरुकुल का काम चलता था। मशीन के पुर्ज़ों की तरह सब अपने अपने कर्तव्य-पालन में दत्तचित्त रहते थे। झाड़ू लगाने वाला मेहतर और चपरासी भी गुरुकुल को अपना समझता था। बात यह थी कि महात्मा जी की आंतरिक भावना का सब पर ऐसा ही असर पड़ता था, जैसे कि सूर्य के प्रकाश से अन्य सब नक्षत्र प्रकाशित होते है। सत्तरह वर्ष तक महात्मा जी ही गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य रहे। आपकी तपस्या, त्याग, सेवा और कर्तव्य-पालन की भावना छोटे से छोटे कर्मचारी में भी समाई हुई थी।

मुख्याधिष्ठाता के नीचे प्रत्येक श्रेणी पर दिन-रात चौबीस घण्टों के लिये एक अधिष्ठाता रहता है, जो कि थोड़ा-बहुत पढ़ाई का काम भी करता ही है। यह अधिष्ठाता मुख्याधिष्ठाता का ऐसा प्रतिनिधि होता है कि प्रत्येक ब्रह्मचारी अपने को मुख्याधिष्ठाता के ही अधीन समझता है। सात-आठ वर्ष की आयु में माता-पिता को छोड़ कर शहरों से दूर उस जंगल में जाकर रहना, दो-चार दिन में ही माता-पिता आदि सबको भूल जाना और उनके अभाव को कभी स्वप्न में भी अनुभव न करना उस पितृ-प्रेम का ही परिणाम समझना चाहिये, जो उनको गुरुकुल में मुख्याधिष्ठाता के प्रतिनिधि अधिष्ठाताओं से मिलता है। अधिष्ठाताओं

का अपने शिष्यों के प्रति स्नेह, ममता और अपनापन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की अन्तरात्मा है। महात्मा मुंशीराम जी तो उस प्रेम, ममता और अपनेपन की साक्षात् प्रतिमा थे। छोटे-छोटे बालकों के साथ वे बालकों की तरह ही मिलते और उनमें जाकर अपने को भी भूल जाते थे। बड़े ब्रह्मचारियों के साथ ही नहीं, छोटों के साथ भी गेंद, कबड्डी, कोटला-छपाकी आदि खेलना आपको अपने बड़प्पन के प्रतिकूल नहीं मालूम होता था। गुरुकुल के उत्सव पर प्रायः सभी ब्रह्मचारियों के संरक्षक-सम्बन्धी उनसे मिलने के लिये गुरुकुल आते हैं। सातवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त अपने किसी भी संरक्षक के न आने से एक बार बड़ा उदास हो गया। महात्मा जी ने यह समाचार मालूम होते ही उसको अपने पास बँगले पर मिलने के लिये बुलाया। ब्रह्मचारी बहुत हँसता हुआ लौट कर आया और आकर अपने साथियों से बोला—'हम भी अपने पिताजी से मिल आये।' ऐसी अनेक घटनाएँ प्रायः घटती रहती थीं। इस पितृ-प्रेम का ही यह परिणाम हुआ कि स्नातक होने के बाद भी ब्रह्मचारी आपको 'पिताजी' के नाते से ही पत्र लिखते थे और अपने को 'आपका पुत्र' लिखने तथा कहने में विशेष गर्व अनुभव करते थे। हवन-सन्ध्या, भोजन, स्नान, खेल आदि ब्रह्मचारियों के सब दैनिक व्यवहार का वे स्वयं ही निरीक्षण किया करते थे। विशेष अवसरों पर होने वाले खेलों का निरीक्षण और संचालन तक स्वयं करते थे। विजयदशमी पर होने वाले तीन-चार दिन के सब खेलों में आप बराबर उपस्थित होते थे। बाहिर से किसी टीम के गुरुकुल आने पर अथवा गुरुकुल की टीम के कहीं बाहर जाने पर आपका हृदय ब्रह्मचारियों की जीत का समाचार जानने के लिये बराबर उछलता रहता था। अपने खिलाड़ियों की हिम्मत का आपको यह सच्चा गर्व था कि वे कहीं हार नहीं सकते।

आधी रात को उठ कर भी सारे आश्रम का एक चक्कर आप अवश्य लगाया करते थे। ब्रह्मचारियों को अपने हाथ से भोजन कराने और भोजन के समय बराबर उपस्थित रहने में विशेष आनन्द अनुभव करते थे। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र से भी अधिक ज़िम्मेवारी का है। महात्मा जी इस ज़िम्मेवारी को जिस तत्परता के साथ निभाते थे, उसी का यह परिणाम होता था कि अधिष्ठाताओं तथा अध्यापकों को भी उसके निभाने में सदा तत्पर रहना पड़ता था। एक बहुत पुराने अधिष्ठाता कर्तव्यनिष्ठ होते हुए भी केवल इसलिये गुरुकुल से अलग किये गये कि वे ब्रह्मचारियों को बेजा पीटते थे और बार-बार कहने पर भी उन्होंने अपने इस स्वभाव को नहीं बदला। एक दूसरे अधिष्ठाता को ब्रह्मचारियों के भोजन पर अनावश्यक प्रतिबन्ध लगा कर कठोर व्यवहार करने के कारण पृथक् किया गया

था। प्रतिनिधि-सभा में उनके पृथक् करने का प्रश्न उपस्थित होने पर महात्मा जी ने इन कारणों को प्रगट करने में संकोच नहीं किया।

एक निजी पत्र में आपने अपनी गुरुकुल की दिनचर्या के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था—"मुझे एक पल का भी अवकाश नहीं है। प्रातः 5॥ बजे लिखना आरम्भ करता हूँ। 11॥ बजे तक लिखने, डाक देखने और उत्तर लिखवाने मे लगा रहता हूँ। इसी बीच में दो घण्टे पढ़ाता हूँ। भोजन करके आध घण्टा आराम करके फिर 5 बजे तक वही मेज पर बैठ कर काम। 5 बजे से फिर मिस्तरी-ख़ाना, इमारत, बाटिका, खेलों इत्यादि का निरीक्षण करता हूँ। रात के 9 बजे तक यही सिलसिला रहता है। यह एक बार लिखता हूँ। इसलिये नहीं कि शिकायत है, प्रत्युत इसलिये कि निजू पत्र न लिखने के कारण समझ में आ जावें।" सच कहा जाय तो गुरुकुल में महात्मा जी का निजू जीवन कुछ था ही नहीं। कई बार रात को उठ कर घण्टों गुरुकुल के सम्बन्ध में विचार करते रहते थे और कभी-कभी आपकी आँखों से आँसू तक बहने लग जाते थे।

किसी ब्रह्मचारी को कभी कोई कडी सज़ा देने का अवसर नहीं आता था। कभी एक-आध-बार ऐसा कोई अवसर आया भी तो आपको उसके लिये मर्मान्तक वेदना होती थी। ब्रह्मचारी को सज़ा क्या देते थे, साथ में अपने को भी सज़ा दे लेते थे। सबसे बड़ी सज़ा यह होती थी कि ब्रह्मचारी अनुभव करे कि उसने अपराध किया है और भविष्य में वैसा अपराध न करने का वह संकल्प करे।

किसी ब्रह्मचारी के बीमार पड़ने पर महात्मा जी के लिये रात को सोना भी दूभर हो जाता था। उसके पीछे रात-दिन एक कर देते थे। सम्वत् 1965 मे गुरुकुल में टाइफ़ाइड की बीमारी फैली। ब्रह्मचारी नवीनचन्द्र का उसी बीमारी में देहांत भी हो गया। अन्य कई ब्रह्मचारियों की अवस्था भी चिन्ताजनक हो गई थी। 4 भाद्रपद सम्वत् 1965 के 'प्रचारक' में गुरुकुल-समाचार के शीर्षक में ब्रह्मचारी नवीन की मृत्यु का जो दुःखपूर्ण समाचार लिखा गया था, उसकी कुछ पंक्तियों से पता चलता है कि ऐसी बीमारी के दिनों में महात्मा जी कितने चिन्तित रहते थे। वे स्वयं लिखते हैं—"13 अगस्त के दिन को उसे, ब्रह्मचारी भीष्म को, दस्त लगे मैं पहिली रात का जगा हुआ अभी दो घंटे ही सोया था कि फिर बुलाया गया। रात भर फिर जागते व्यतीत हुए। एक और ब्रह्मचारी को दस्त थे और दर्द कभी इधर कभी उधर। डाक्टर सुखदेव जी, जो 90 रातों के जागे हुए थे, बड़े ही कष्ट में रहे।"

एक बार ब्रह्मचारी परमानन्द पहाड़ी पर जंगल में वृक्ष से गिर पड़ा। उसकी

अवस्था इतनी अधिक चिन्ताजनक हो गई कि उसके बचने की आशा नहीं रही। उसके लिये आपने कितनी ही रातें जाग कर बिताई। इसी प्रकार चीते के शिकार मे ब्रह्मचारी महेन्द्र घायल हो गया। उसकी अवस्था भी बहुत चिन्ताजनक हो गई। उसको औषधोपचार के लिये लाहौर भी भेजना पड़ा। उसके लिये आपने न मालूम कितने दिन एक सरीखी चिन्ता में बिताये थे? लाहौर से उसके सर्वथा निरोग होने का समाचार आने पर गुरुकुल में उत्सव मनाया गया था। वह उत्सव महात्मा जी के महीनों बाद चिन्तामुक्त होने की निशानी था।

तीन सौ ब्रह्मचारियों में आप प्रत्येक का नाम तो जानते ही थे, उनमें से प्रत्येक के स्वास्थ्य और उसकी पढाई की सब रिपोर्ट भी आपकी जिह्वा पर उपस्थित रहती थी। ब्रह्मचारियों से इतना अधिक परिचित रहते थे कि उनके संरक्षकों के गुरुकुल आने पर उनकी चाल अथवा सूरत से ही उनको पहचान लेते थे और परिचय देने से पहिले ही पूछ लेते थे कि क्या आप अमुक ब्रह्मचारी से मिलने आये हैं?

ब्रह्मचारियों को ख़तरो से खेलने का आदी बना कर साहसी बनाने का आप विशेष ध्यान रखते थे। आस-पास की दुर्गम पहाड़ियों की एक-एक चट्टान से ब्रह्मचारी परिचित थे। चारों ओर के घने जंगलो का एक-एक पत्ता ब्रह्मचारियों ने छाना हुआ था। गगा की धारा-उपधाराओ की चप्पा-चप्पा गहराई-चौडाई ब्रह्मचारियों ने नापी हुई थी। जंगलों और पहाड़ो में घूमते हुए कितनी ही बार ब्रह्मचारियों का सामना शेर-हाथी आदि से हुआ। पर, वह घूमना कभी बन्द नहीं किया गया। बरसाती बाढ़ की गगा की तेज धारा मे तैरते हुए कई बार ब्रह्मचारी डूबते-डूबते बचे। कभी-कभी मगरमच्छों से भी मुक़ाबला हुआ। पर, वह तैरना बराबर जारी रहा। मछलियो के समान तैरना ब्रह्मचारियों के लिये स्वाभाविक था। उसको सिखाने के लिये न कोई प्रबन्ध था और न कोई यत्न ही करना पड़ता था। दसवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी सत्यपाल बाढ़ के दिनो मे बढ़ती हुई धारा के पार तो हो गया, पर लौट न सका। रात को नौ बजे सोने के समय बिस्तर ख़ाली देख कर उसकी खोज की गई। पता चला कि ब्रह्मचारी पार ही रह गया है। महाविद्यालय के कुछ तैराक ब्रह्मचारी उसी समय पार गये और सत्यपाल को खोज लाये। इधर किनारे पर आते ही महात्माजी ने ब्रह्मचारी के सत्साहस के लिये उसकी पीठ ठोकी। चण्डी पहाड़ के ऊपर से शहतीरों के बेड़े बना कर तैरते हुए आने का ब्रह्मचारियों को विशेष शौक़ था। कभी-कभी दिन भर ब्रह्मचारी पानी में ही तैरते रहते थे। कई बार बाढ़ का भय इतना बढ़ जाता था कि गुरुकुल का जीवन

संकटापन्न हो जाता था। ब्रह्मचारी मिट्टी की टोकरियाँ और फावड़े लिये हुए रातों जाग कर पानी का सामना करते थे। गुरुकुल के आस-पास के गाँव फूँस के बने होने से उनमें प्रायः आग लग जाती थी। कभी-कभी आधी रात को भी ऐसी दुर्घटना हो जाती, तो ब्रह्मचारी 'एलार्म बैल' के बजते ही इकट्ठे हो कर उस गाँव में जा पहुँचते थे। गुरुकुल में भी ऐसी दुर्घटनाएँ कई बार हुईं। ऐसे अवसरों पर ब्रह्मचारी जान पर खेल कर भीषण अग्निकाण्ड का दमन बड़े साहस के साथ करते थे। एक समय नजीबाबाद के जंगलों में डाकुओं ने अड्डा आ जमाया। चारो ओर 'त्राहि-त्राहि' मच गई। गुरुकुल के पास से ही हो कर वे हरिद्वार और कनखल पर भी हाथ साफ़ कर आया करते थे। गुरुकुल आने का उन्हें कभी साहस नहीं हुआ। एक बार सुनने में आया कि कांगड़ी-गाँव डाकुओं ने लूटना शुरू कर दिया है। बात की बात में महात्मा जी ब्रह्मचारियों का एक दल साथ लेकर वहाँ जा पहुँचे। संकट के ऐसे किसी भी समय में ब्रह्मचारियों को कमरों में बन्द करके सुरक्षित रखने का आपने विचार तक नहीं किया, अपितु ऐसे अवसरों को संकट का सामना करते हुए ब्रह्मचारियों में सत्साहस पैदा करने का साधन बनाते रहे। साँप-बिच्छू तो गुरुकुल के कोने-कोने में बिखरे हुए थे। बिच्छू डसने की दुर्घटनायें प्रायः होती रहती थीं। ज़हरीले से ज़हरीले महा भयानक काले फणी नाग कितने ही ब्रह्मचारी पकड़ते और मारते थे, कई बार अजगर भी पकड़े और मारे गये, पर गुरुकुल के समस्त जीवन में कभी एक भी दुर्घटना साँप के डसने की नहीं हुई। न कोई कभी पानी में डूबा, न जंगल में किसी हिंस्र पशु के आक्रमण का कभी कोई शिकार हुआ और न कभी ऐसी कोई दूसरी ही दुर्घटना हुई। सब कुल वासी इसको महात्माजी की तपस्या का पुण्य-प्रताप समझते थे। निःस्सन्देह, महात्माजी के व्यक्तित्व, आत्म-विश्वास और श्रद्धा का ऐसा ही कुछ अनहोना प्रभाव था कि गुरुकुल ऐसे सब संकटों से बराबर बचा रहा। अठारह वर्ष में तीन सौ ब्रह्मचारियों में केवल दो मृत्यु हुईं। एक ब्रह्मचारी नवीन की, टाइफाइड की बीमारी से और दूसरी ब्रह्मचारी भीम की, टिहरी की यात्रा में पहाड़ पर से फिसल कर 250 फीट नीचे आ गिरने से। संकटों से घिरी हुई ऐसी जगह में ऐसा निरापद जीवन बिताने का अभिमान सिवा गुरुकुल के और किस संस्था को है?

5. लोकप्रियता

गुरुकुल के वार्षिक उत्सव गुरुकुल की बढ़ती हुई लोकप्रियता की साक्षी हैं। सन् 1903 में 10 मार्च से 13 मार्च तक गुरुकुल का पहिला उत्सव हुआ था। उसमें चार हज़ार स्त्री-पुरुष उपस्थित हुए थे, 20 हज़ार चन्दा हुआ था और 19 ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार। दूसरा उत्सव 28 फरवरी से 2 मार्च तक सन् 1904 मे हुआ था, जिसमें पचास हजार की उपस्थिति थी, 21 हज़ार चन्दा और 21 नये ब्रह्मचारी भरती हुए थे। छठे उत्सव पर पचास हजार की उपस्थिति और 54500 रुपये का चन्दा हुआ था। सातवें पर साठ हजार यात्री आये और 3 लाख 28 हज़ार रुपया जमा हुआ था। प्रत्येक उत्सव पर इस उपस्थिति तथा चन्दे में साधारणतया वृद्धि ही होती रही और वैसे भी दानी-मानी सज्जन गुरुकुल की आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करते रहे। इन उत्सवों की भी कुछ विशेषतायें हैं जिनका सम्बन्ध गुरुकुल के ही साथ है। इन उत्सवों का प्रबन्ध भारत के स्वराज्य का छोटा सा चित्र है। 50-50 हज़ार की भीड़ का प्रबन्ध पुलिस की सहायता के बिना ऐसा सुन्दर और सन्तोषजनक होता है कि किसी की सूई तक चोरी नहीं जाती। अस्तेय-भाव इस उत्सव के अवसर पर लोगो में कुछ ऐसा जाग्रत होता है कि सोने-चॉदी के आभूषण, बटुए आदि गिरे हुए या कही छूटे हुए भी किसी को मिलते तो वह कार्लालय में पहुँचा देता। एक बार एक व्यक्ति ने रिपोर्ट दी कि उसका 500 रुपये का एक नोट, दस गिन्नी और पाँच-पॉच के दो नोट कहीं गिर गये हैं। थोड़े समय बाद दूसरा आया और वह सब रक़म कार्यालय मे जमा करा गया। सतयुग की साक्षी देने वाली ऐसी कितनी ही घटनायें प्रतिवर्ष उत्सव के अवसर पर प्रायः देखने और सुनने में आती थीं। पुस्तकों और खाद्य पदार्थो के अलावा कोई दूसरी चीज उत्सव पर नही बिक सकती। पुस्तकों के लिये भी कुछ नियम हैं। अश्लील, भ्रष्ट और गन्दा साहित्य गुरुकुल की सीमा मे आना वर्जित है। खाद्य पदार्थो में विदेशी चीनी के सामान की दुकान नहीं आ

सकती। और सब सामान का निर्खनामा भी गुरुकुल की ओर से नियत किया जाता है। गुरुकुल के उत्सव इसकी स्पष्ट साक्षी हैं कि गुरुकुल का उत्सव आर्यसमाज के लिये कुम्भ का पर्व है और गुरुकुल आर्यसमाज की विद्या एवं बुद्धि का केन्द्र है।

गुरुकुल के उत्सव के ऐसे प्रबन्ध की प्रशंसा महात्मा गांधी ने सन् 1924 में बेलगॉव-कांग्रेस के सभापति के अन्तिम भाषण में करते हुए उसको कांग्रेस के लिए आदर्श बताया था। आपने कहा था—"मेरी राय में प्रतिनिधियों के खाने और रहने के ख़र्च के बारे में स्वामी श्रद्धानन्द जी से नसीहत लेनी चाहिये। मुझे याद है कि उन्होंने अपने गुरुकुल के सन् 1916 के उत्सव पर आने वाले मिहमानों के लिये जिस तरह के फूस के छप्पर डलवाये थे, उसमें दो हज़ार से अधिक ख़र्च नहीं हुआ था। भोजन के लिये दुकानें थीं रहने के लिये किसी से कुछ भी ख़र्च नहीं लिया था। इस तरह कोई 40 हज़ार लोग गुरुकुल के मैदान में बिना दिक्कत और प्रायः बिना किसी ख़र्च के रह सके थे। चाहे कांग्रेस उसकी हरफ़ बे-हरफ़ नकल न करे, किन्तु उसको ही सामने रख कर बेहतर और ज्यादह सस्ता इन्तज़ाम करना निहायत ज़रूरी है।"

उत्सवों से तो गुरुकुल के प्रति आर्य-जगत् के बढते हुए प्रेम और आकर्षण का सामुदायिक परिचय मिलता है, किंतु ऐसी घटनायें भी कुछ कम नहीं हैं जिनसे लोगों के व्यक्तिगत प्रेम और आकर्षण की साक्षी मिलती है। सम्वत् 1968 के वैशाख मास में महात्मा जी को मुरादाबाद से महाशय लक्ष्मीनारायण जी का पत्र आया कि—"मुझ बूढ़े को यहाँ आकर दर्शन दीजिये और साथ ही कुछ भेंट भी ले जाइये।" महात्मा जी वहाँ पहुँचे तो वृद्ध महाशय ने तीन हज़ार का चैक उनके चरणों में गुरुकुल की भेंट चढ़ा दिया। इसी वर्ष 2 ज्येष्ठ को आगरा के पेंशनर डिपुटी कलेक्टर ईश्वरीप्रशाद जी गुरुकुल पधारे। गुरुकुल का निरीक्षण करने के बाद महात्मा जी से कहा—"मुझे कुछ दान करना था। भारतवर्ष के सब विद्यालयों की रिपोर्ट आदि देखीं, किंतु कहीं भी वेदों की पढ़ाई का प्रबन्ध देखने में नहीं आया। यहाँ मेरा सन्तोष हो गया। बतलाइये किस काम में थोड़ा सा दान दूँ, जो वेद पढने वाले छात्रों के काम आवे?" थोड़ी बातचीत के बाद ही आपने महात्मा जी के सामने 5100 रुपए के पाउण्ड, नोट आदि का ढेर लगा दिया। ऐसे श्रद्धासम्पन्न सात्विक दानों की कितनी ही साक्षियाँ यहाँ दी जा सकती हैं। कितनी ही विधवा देवियों ने अपने भरण-पोषण की कुछ भी परवा न कर गुरुकुल को हज़ारों रुपया एक समय एक हाथ से दिया है। बाद में लाख-लाख की रक़म

देने वाले और अपने अनुपम दान से गुरुकुल की एक-एक शाखा खुलवाने वाले भी कितने ही दानी पैदा हो गये, पर फिर भी गुरुकुल आम जनता की संस्था है। सर्व-साधारण के भरोसे पर चलने वाली इतनी बड़ी कोई दूसरी संस्था भारत में नहीं है। बढ़ते-बढ़ते गुरुकुल का ख़र्च प्रति वर्ष लाख-सवा लाख तक पहुँच गया, किंतु उस सबकी पूर्ति के लिये आम जनता की उदारता का ही सहारा रहा है। गुरुकुल को अन्य संस्थाओं के समान न सरकारी कोष से कभी कोई सहायता प्राप्त हुई, न किसी नरेश को 'राजर्षि' का मान देकर गुरुकुल ने उससे लाखों की याचना की और न किसी लखपति अथवा करोड़पति की थैली का मुँह ही गुरुकुल के लिये खुला। सर्व-साधारण पर निर्भर करते हुए लाखों के ख़र्च को पूरा करना गुरुकुल की ऐसी विशेषता है, जो उसको अन्य सब संस्थाओं से ऊपर उठाये हुए है। यही विशेषता उसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस लोकप्रियता की और भी अधिक उत्कृष्ट साक्षी यह है कि गुरुकुल के लिये जब भी कभी किसी सामान की ज़रूरत होती थी, 'प्रचारक' में सूचना देने पर वह सामान गुरुकुल पहुँच जाता था। थाली, लोटे, कटोरे और कपड़े तक की आवश्यकता की सूचनायें 'प्रचारक' में प्रायः पढ़ने में आती है। गुरुकुल सर्वसाधारण का है, इसीलिये उसको सर्वसाधारण के सामने अपनी छोटी से छोटी आवश्यकता को भी उपस्थित करने में कभी संकोच नहीं हुआ। इस प्रकार आवश्यकता-पूर्ति होने का एक दृष्टांत बहुत मनोरजक है। सम्वत् 1958 में, गुरुकुल की स्थापना के पहिले ही वर्ष में, गुरुकुल के लिये योग्य डाक्टर की आवश्यकता थी। 'प्रचारक' में किसी ने लिख दिया कि यदि कोई डाक्टर अपनी सेवायें स्वेच्छाभाव से अर्पण नही कर सकता तो आर्य डाक्टरों को अपनी आमदनी में से डाक्टर का वेतन पूरा करना चाहिये। बस, पच्चीस-पच्चीस रुपये प्रति वर्ष देने के लिये कई डाक्टर तैयार हो गये।

गुरुकुल की शाखाओ से भी उसकी लोकप्रियता का पता लगता है। सबसे पहिले मुलतान में वहॉ के रईस चौधरी रामकृष्ण जी की उदारता के फलस्वरूप 13 फ़रवरी सन् 1909 को गुरुकुल की पहली शाखा की स्थापना महात्मा मुंशीराम जी के कर-कमलों द्वारा की गई। चौधरी जी ने 50 हज़ार की ज़मीन, 25 हज़ार का बाग़, 5 हज़ार की कोठी और 3 हज़ार नक़द इस शाखा के लिये दिया था। इसलिये उनके गॉव के नाम पर इसका नाम 'शाखा-गुरुकुल-देवबन्धु' रखा गया था। दो-तीन वर्ष बाद चौधरी जी का मन बदल गया। इसलिये शहर से तीन मील की दूरी पर ताराकुंड के समीप 65॥ बीघा भूमि लेकर शाखा का प्रबन्ध

किया गया। पहिले दसवीं श्रेणी तक की पढ़ाई का वहाँ प्रबन्ध था। अब केवल आठवीं श्रेणी तक है।

दूसरी शाखा कुरुक्षेत्र में सम्वत् 1969 की पहिली वैशाख को स्थापित हुई, इसकी आधारशिला की स्थापना भी महात्मा मुंशीरामजी ने ही की थी। यह थानेसर के रईस स्वर्गीय ज्योतिप्रसाद की शुभ कामना का सुफल था। उन्होंने इस कार्य के लिये दस हज़ार नक़द और 15048 बीघा भूमि देने की उदारता की थी। एक वर्ष बाद ही उनका देहांत हो गया। वे अपने लगाये हुए पौदे को बढ़ता और फलता-फूलता हुआ नहीं देख सके। यह गुरुकुल भी आठ श्रेणियों तक का ही है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यहाँ का जलवायु अत्युत्तम है। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद दिल्ली रहते हुए जब भी कभी विश्राम की आवश्यकता अनुभव होती थी, तब महात्मा जी यहाँ ही चले आते थे। उनको इस शाखा से कुछ विशेष प्रेम था। 'आदिम-सत्यार्थप्रकाश' और 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखने का उपक्रम यहाँ ही बाँधा गया था। एक यूरोपियन महिला ने आपको सौ रुपये यह कह कर दिये थे कि आप वह रक़म अपनी किसी प्रिय संस्था को दे दें। आपने वे सौ रुपये इसी शाखा-गुरुकुल को दिये थे।

तीसरी शाखा गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ के नाम से सम्वत् 1970 में देहली से बारह मील की दूरी पर स्थित की गई थी। स्वर्गीय दानवीर सेठ रग्घूमल जी ने अपने भाई की स्मृति में एक लाख की रक़म प्रदान कर इसकी स्थापना महात्मा जी के ही हाथों से करवाई थी। यह शाखा एक पहाड़ी पर स्थित है। ऐसा सुन्दर विशाल हवादार एकान्त आश्रम सम्भवतः किसी और शिक्षण-संस्था के पास नहीं है। 1100 बीघा गुरुकुल की अपनी भूमि है। इस शाखा को देहली-निवासी आर्य पुरुषों का गुरुकुल कहा जाता है। यहाँ केवल मध्यम-विभाग, अर्थात् छठी से दसवीं श्रेणी तक, की पढ़ाई होती है।

चौथी शाखा गुरुकुल-मटिण्डू के नाम से हरियाणा-प्रदेश के रोहतक जिले में मटिण्डू गाँव के पास जमुना नहर की एक शाखा के किनारे अत्यन्त रमणीक और एकान्त स्थान में स्थित है। इसकी आधार-शिला की स्थापना सम्वत् 1972 में महात्मा जी ने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद रखी थी। यह सस्था स्वर्गीय चौधरी पीरूसिंह के दान, वहाँ के आर्य पुरुषों के उत्साह और गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री निरंजनदेव जी विद्यालंकार के सतत-परिश्रम का शुभ परिणाम है। यहाँ शिक्षा निशुल्क दी जाती है। संरक्षकों से किसी भी प्रकार का कोई ख़र्च नहीं लिया जाता। अपने ढंग की यह निराली संस्था है।

पाँचवीं शाखा गुरुकुल-रायकोट लुधियाना जिले में है। आश्विन बदी द्वादशी सम्वत् 1976 को संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद महात्मा जी ने ही इसकी आधार-शिला रखी थी। यह स्वामी गंगागिरी जी महाराज के अध्यवसाय का सुफल है। यहाँ केवल चार श्रेणियों की पढ़ाई का प्रबन्ध है। साथ में उपदेशक-विद्यालय भी है।

गुजरात-प्रान्त में स्थित गुरुकुल-विद्यामन्दिर-सूपा गुरुकुल की बढ़ती हुई लोकप्रियता का सबसे अधिक उज्ज्वल और स्पष्ट साक्षी है। माघ शुक्ला त्रयोदशी सम्वत् 1980 तदनुसार 18 फरवरी 1924 को महर्षि दयानन्द की जन्मशताब्दी की स्मृति में, गुजरात की प्रसिद्ध सरिता पूर्णा के तीर पर, सूपा नामक ग्राम के समीप, महात्मा जी ने ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद इसकी स्थापना की थी। यहाँ दसवीं श्रेणी तक की पढ़ाई का प्रबन्ध है। गुजरात के उत्साही आर्य पुरुषों विशेषतः श्री दयालजी लल्लूभाई, श्री झीणाभाई देवाभाई और गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक डा. ईश्वरदत्त जी विद्यालंकार के अनथक परिश्रम और उत्साह की साक्षी यह संस्था है।

इसके अलावा भटिण्डा, झज्झर (रोहतक), कमालिया (मिण्टगुमरी) आदि मे भी गुरुकुल की शाखायें खुल चुकी हैं।

इस समय देहरादून में स्थित कन्या-गुरुकुल भी गुरुकुल की शाखा है। उसकी स्थापना दानवीर स्वर्गीय सेठ रग्घूमल जी के एक साथ एक लाख और प्रति मास पॉच सौ देने का संकल्प करने पर 23 कार्तिक सम्वत् 1980 तदनुसार 8 नवम्बर 1923 को दीवाली के शुभ दिन देहली में दरयागंज में एक कोठी किराये पर लेकर महात्मा जी द्वारा ही की गई थी। संस्था के दुर्भाग्य से सेठ जी का शीघ्र ही देहान्त हो गया और उन द्वारा उनके संकल्प के अनुसार संस्था को सहायता प्राप्त नहीं हुई। अब तक भी संस्था को आवश्यक स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकी है। फिर भी उक्त संस्था द्वारा आदर्श कार्य हो रहा है और स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र मे काम करने वाली अपने ढंग की यह अकेली ही संस्था है।

इस प्रकार गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति परीक्षण की सीमा पार कर सफलता प्राप्त कर चुकी है। स्वतन्त्र रूप में भी देश में दर्जनों गुरुकुल चल रहे हैं। गुरुकुल के परीक्षण की इस सफलता और विस्तार का अथ से इति तक का सब श्रेय महात्मा जी के अनथक श्रम, अपूर्व साहस और अटूट धैर्य को ही है।

सम्वत् 1980 में गुरुकुल की पच्चीसवीं वर्ष-गांठ मनाई गई थी। उस समय तक 20 लाख 75 हज़ार रुपया गुरुकुल के लिये व्यय हो चुका था। 34 ब्रह्मचारियों

से शुरू होने वाले गुरुकुल में उस समय शाखाओं सहित कोई एक हज़ार बालक और बालिकायें शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। इस समय तक 225 से अधिक स्नातक गुरुकुल से निकल चुके हैं, जिनमें से अधिकांश देश-सेवा के ही काम में लगे हुए हैं और उन्होंने धर्म-प्रचार, समाज-सुधार, राजनीतिक-प्रगति, शिक्षा के विस्तार, साहित्य की उन्नति और पत्रों के सम्पादन आदि के क्षेत्रों में यश सम्पादन कर गुरुकुल के नाम को गौरवान्वित किया है। गुरुकुल के सम्बन्ध में तो महात्मा जी का स्वप्न पूरा नहीं हो सका था, किंतु यह बिना संकोच के कहा जा सकता है कि स्नातकों ने देश, धर्म और समाज की सेवा करते हुए अपने त्यागमय उच्च चरित्र से महात्मा मुंशीराम जी अथवा स्वामी श्रद्धानन्द जी को अपने सम्बन्ध में निराश नहीं किया। अधिकतर कुलपुत्रों के लिये उनको इतना गौरव और अभिमान था, जितना कि किसी भी पिता को अपने पुत्र के सफल जीवन के लिये हो सकता है।

6. भ्रम और विरोध

अल्प रूप में आरम्भ किये गये इस महान् कार्य को सफलता तक पहुँचाने के लिये महात्मा जी को आदि से अन्त तक बरबार विरोधी परिस्थिति में से ही होकर गुजरना पड़ा था। एक तो गुरुकुल को कालेज-दल वालों ने अपने मुक़ाबले में खड़ी की गई संस्था समझ कर उसके सम्बन्ध में भ्रम फैलाने और उसका विरोध करने में कोई बात उठा नहीं रखी। गुरुकुल की स्थापना होने के बाद पहिले ही वर्ष में पंजाब में कुछ इस प्रकार की निराधार बातें फैलाई गई थीं कि गुरुकुल में भोजन का ठीक प्रबन्ध नहीं है, मकानों में नमी बहुत अधिक है, बीमारों की देखरेख का कोई प्रबन्ध नहीं है, सब ब्रह्मचारियों के पेट फूल आये हैं, दस ब्रह्मचारियों की मृत्यु हो चुकी है और 75 सैकडा इस वर्ष में काल के ग्रास हो जायेंगे। ऐसी निराधार बातों का निराकरण 'प्रचारक' द्वारा निरन्तर किया जाता रहा। उनसे हानि तो अवश्य हुई, किन्तु ऐसी हानि नहीं हुई जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

विरोधी दल वालों की अपेक्षा अपने ही दल के लोगों द्वारा विरोध निस्सन्देह ऐसा था, जो गुरुकुल की उन्नति और उसके विकास के लिये वास्तव में बाधक साबित हुआ। कुछ लोग तो सभी स्थानों में ऐसे होते हैं, जिनको भले कार्यो का विरोध किये बिना सन्तोष नही होता। सम्भवतः ऐसे ही कुछ लोगों ने गुरुकुल की स्थापना होते ही उसके मार्ग में कांटे बिखेरने शुरू कर दिये थे। महात्मा जी पर ग़बन और कई रक़में बेजा ख़र्च करने का भी दोष लगाया गया था। सन् 1905 तक के प्रतिनिधि-सभा और गुरुकुल के आय-व्यय को लेकर सन्देह, भ्रम तथा विरोध का इतना बड़ा तूफ़ान खड़ा किया गया कि 27 मई, 1905 की प्रतिनिधि-सभा में सभा के प्रधान होते हुए भी उनके प्रतिकूल इस आशय के प्रस्ताव उपस्थित किये गये कि—"सात प्रतिनिधियों द्वारा पेश की गई निम्नलिखित बातों के लिये जांच-कमेटी नियुक्त की जाय—(1) लाला मुंशीराम इस योग्य नहीं

हैं कि उन पर सार्वजनिक कामों के लिये दान में दिये जाने वाले रुपये के सम्बन्ध में विश्वास किया जा सके, क्योंकि उन्होंने आर्य-प्रतिनिधि-सभा के 14 हज़ार रुपये का ग़बन किया है; और (2) न लाला मुंशीराम किसी धार्मिक-संस्था के ज़िम्मेवार और विश्वसनीय पद के अधिकारी बनाये जाने के योग्य हैं, क्योंकि अपने विरोधी सज्जनों पर झूठे दोष लगाने तथा उनको गढ़ने की उनकी आदत है, जिससे सर्व साधारण में उनके विरोधियों की कुछ प्रतिष्ठा न रहे।'' पर प्रतिनिधि सभा में विरोधियों की दाल नहीं गली। 44 के विरुद्ध 17 सम्मतियों से यह प्रस्ताव गिर गया। उसके बाद विरोधियों ने समाचार-पत्रों में गन्दगी फैलाना और पैम्फलेट छाप कर बँटवाना शुरू किया। विरोधियों की हरकतें जब अति पर पहुँच गई, तब महात्मा जी ने 'दुखी दिल की पुरदर्द दास्तान' के नाम से कोई छः सौ पृष्ठ की पुस्तक लिख कर उस विरोध के तूफ़ान को शान्त किया। इन विघ्न-सन्तोषी लोगों का दल बाद में धवन-पार्टी की त्रिमूर्ति के नाम से मशहूर हुआ, जो 'आर्य-पत्रिका' द्वारा समय-समय पर गुरुकुल पर प्रायः धावा बोलता रहा।

विरोध और भ्रम पैदा करने वालों में ऐसे लोग भी कुछ कम नहीं थे, जो गुरुकुल से किसी कारणवश पृथक् किये गये थे। ऐसे अलग किये हुए कई अध्यापकों तथा अधिष्ठताओं के कनखल-हरिद्वार में महीनों डेरा जमा कर गुरुकुल की जड़ों को उखाड़ने का यत्न किया। पर, वे भी अपने यत्नों में सफल नहीं हो सके। महीनों महात्मा जी की गोद में बच्चों की तरह पलने वाले, आर्यसमाज की शरण में आकर मियां से आर्य बनने वाले अब्दुलगफ़ूर उर्फ़ 'धर्मपाल' ने भी गुरुकुल के विरुद्ध कुछ कम उपद्रव नहीं मचाया। आर्यसमाज में उसने जो गन्दगी फैलाई थी, उसमें कमीनेपन की हद कर दी गई थी। गन्दगी और कमीनेपन का वैसा उदाहरण कहीं ढूँढ़ने पर भी मिलना सम्भव नहीं। गुरुकुल से ग़बन के अपराध में निकाले गये गोबिन्दराम, अपनी ही करतूतों से मौकूफ़ हुए नारायणदास और सरदार गुरुबख़्शसिंह आदि को शिखण्डी बना कर धर्मपाल ने अपने पत्र 'इन्द्र' 'पतीन्द्र' और 'अर्जुन' द्वारा गुरुकुल पर काले बादलों का घटाटोप पैदा करने में कोई कसर नहीं रखी, किन्तु महात्मा जी ने बरसने से पहिले ही इस घटाटोप को छिन्न-भिन्न कर दिया था।

इस प्रकार किये जाने वाले अधिकांश आक्षेप मनोरंजन की ही सामग्री होते थे, किन्तु उनके भी निराकरण के लिये महात्मा जी को 'प्रचारक' के कई पृष्ठ काले करने पड़ते थे। सम्वत् 1965 में ऐसे आक्षेप किये जाते थे कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी मूँछ-दाढ़ी मुंडवाते और बाल सँवारते हैं, उनको घोड़ों की सवारी सिखाई

जाती है, वे साबुन लगाते हैं, उनको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, वे अंग्रेज़ी ढंग के खेल खेलते है, उनको इतिहास तथा भूगोल पढ़ाया जाता है, साइन्स की पढ़ाई पर अधिक ख़र्च किया जाता है, अध्यापक ही परीक्षा लेते हैं और शिक्षा मुफ़्त नहीं दी जाती। इन आक्षेपों के उत्तर में महात्मा जी को सम्वत् 1965 के 8 श्रावण के 'प्रचारक' में कोई 5 पृष्ठ का लेख लिखना पड़ा था। वैसे भी प्रत्येक वर्ष में एक बार तो उनको विरोधियों के प्रतिकूल खंगहस्त होना ही पड़ता था।

जिस लेख की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उसके आरम्भ में महात्मा जी ने लिखा था—"आर्यसमाज के अन्दर ही ऐसे विश्वासघाती पुरुष विद्यमान हैं, जिन्होंने अपने आपको गुरुकुल का हितैषी प्रसिद्ध करते हुए उसको जड़ से उखाड़ने का बीड़ा उठा लिया है। स्वार्थ ने ऐसे पुरुषों को अन्धा कर दिया है।" सम्वत् 1967 के माघ मास में 'प्रचारक' मे 15 पृष्ठ का लेख ऐसे ही आक्षेपों के निराकरण के लिये लिखा गया था, जिसका शीर्षक था—"बड़े से बड़े जत्थों के आक्रमण से भी परमात्मा ने गुरुकुल की रक्षा की है", और उसका आरम्भ किया गया था 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' की वैदिक प्रार्थना से, जिससे पता लगता है कि उस समय ये आक्षेप सभ्यता की मर्यादा का भी अतिक्रमण कर गये थे। उस लेख की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ये थीं—"ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार के लिये जिस दिन गुरुकुल की पाठविधि तथा उसके प्रबन्ध सम्बन्धी नियम हाथ में लेकर सेवकों ने काम करना आरम्भ किया था, उसी दिन से गुरुकुल पर वज्र-प्रहार शुरू हो गये थे। अपनों और बेगानों, आर्यों और अनार्यों—सभी प्रकार के पुरुषों ने उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न किये। किन्तु जब गंगा-तट पर पहुँच कर ब्रह्मचारियों के समूह ने इस जंगल को वेदमन्त्रों की ध्वनि से गुंजाना शुरू किया, तब से तो आक्रमणों की कुछ गिनती ही नहीं रही। हर तीसरे महीने गुरुकुल की समाप्ति-सूचक विचित्र भविष्यवाणियाँ सुनने मे आती रहीं। जत्थों पर जत्थे इसको गिराने के लिये बने, आक्रमणो पर आक्रमण हुए, जिनसे न केवल इसके सेवकों के ही बदन चलनी-से बन गये, प्रत्युत उन चोटों के निशान गुरुकुल की संस्था और उसके प्रबन्ध पर भी अब तक लगे हुए हैं।" इन उद्धरणों से पता लगता है कि किस विरोधी परिस्थिति में लंका में विभीषण की तरह महात्मा जी को गुरुकुल के संचालन का काम करना पड़ता था। यह उनके ही धैर्य और हिम्मत का काम था कि ऐसे विरोध में भी वे इतने वर्षों तक अपने कर्तव्य-पालन में बराबर लगे रहे।

7. गुरुकुल और प्रकाश-पार्टी

इस धैर्य और हिम्मत के सामने तब सहसा ही सिर झुक जाता है, जब यह देखने में आता है कि गुरुकुल की स्वामिनी प्रतिनिधि-सभा और उसकी प्रबन्धकारिणी अन्तरंग-सभा भी महात्मा जी के लिये उतनी सहायक सिद्ध नहीं हुई, जितनी कि होनी चाहिये थी। गुरुकुल की समर्थक लाहौर की प्रकाश-पार्टी की भी गुरुकुल के प्रति प्रायः टेढ़ी ही दृष्टि रही। गुरुकुल का काम करते हुए यह शिकायत महात्मा जी को बराबर रही कि प्रतिनिधि-सभा अथवा अन्तरंग-सभा गुरुकुल को यथेष्ट समय नहीं दे सकतीं। 28 वैशाख सम्वत् 1968 के 'प्रचारक' में 'गुरुकुल के साथ सच्चे प्रेम का प्रमाण दीजिये' शीर्षक से लिखे गये लेख में आपने लिखा था–"जो माता शरद् ऋतु में बिछौना गीला हो जाने पर बच्चे का रोना सुन उसके मुँह, नाक, कान को कपड़ों से बन्द करके उसको छाती से जकड कर उसका गला घोंट देती है, उसे भी तो बच्चे से अगाध प्रेम होता है; किंतु उसका प्रेम बच्चे में जीवन डालने के स्थान में उसका काम ही तमाम कर देता है।...अब गुरुकुल प्रतिनिधि-सभा की अन्य कार्यवाहियो के साथ एक पुछल्ला-सा बना हुआ है। प्रतिनिधि की अतरंग-सभा प्रचारादि अन्य विषयों के विचार में जितना समय लगाती है, उसका चौथाई समय भी गुरुकुल सम्बन्धी बड़े से बड़े गम्भीर विषय के विचार के अर्पण नहीं कर सकती। सभा के सभासद इस त्रुटि को जानते हैं किन्तु गुरुकुल के साथ उनका इतना अगाध प्रेम है कि वे उसको अपने से थोड़े काल के लिये भी जुदा करने को तैयार नहीं, भले ही इस थोडे समय की जुदाई से उनके प्यारे गुरुकुल को शुद्ध वायु के सेवन से बल मिलने तथा स्वस्थ होने की ही सम्भावना क्यों न हो। प्रतिनिधि की अतरंग-सभा को वैदिक धर्म के प्रचार, शुद्धि, शास्त्रार्थ आदि विषयों का बहुत ध्यान देना है, उसको न शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिये समय ही मिलता है और न वह उन पर ठीक प्रकार विचार ही कर सकती है।...मेरी सम्मति में सभा के सभासद केवल अविद्या के कारण इस समय अपने कर्तव्य-पालन से गिरे हुए

हैं।" इससे भी बड़ी शिकायत महात्मा जी को यह थी कि प्रतिनिधि-सभा और अन्तरंग-सभा के सभासद लाख-सवा-लाख का बजट तो पास कर देते हैं, किन्तु उसकी पूर्ति के लिये कभी कोई भी सदस्य सचाई और ईमानदारी से यत्न नहीं करता। इस शिकायत या कठिनाई को दूर करने के लिये आपने सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि प्रतिनिधि-सभा के ही अधीन गुरुकुल के प्रबन्ध के लिये एक अलग प्रबन्धकर्त्री-सभा नियत की जाया करे, जो गुरुकुल के विषय में सोचा तथा काम किया करे। उस सभा में प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों, संरक्षकों, स्नातकों और दानदाताओं आदि के प्रतिनिधि तथा वैदिक-साहित्य आदि विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् रखने का आपका प्रस्ताव था। वह सभा एक प्रकार से विद्या-आर्य-सभा ही होती, जो गुरुकुल की प्रबन्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ प्रतिनिधि-सभा के अधीन शिक्षा-सम्बन्धी सभी संस्थाओं का प्रबन्ध किया करती। इस प्रस्ताव की उपयोगिता के सम्बन्ध में महात्मा जी ने कितने ही लेख लिखे थे। दस-बारह वर्षो से भी अधिक लम्बे समय तक यह प्रस्ताव प्रतिनिधि-सभा के विचाराधीन प्रस्तावों की फ़ाइल में पडा रहा। ईस्वी सन् 1911 की 27 मई की प्रतिनिधि-सभा के वार्षिक-अधिवेशन में उस पर केवल एक बार वाद-विवाद ही हुआ था, सम्मतियाँ उस अधिवेशन में भी नहीं ली गई थीं।

उक्त अधिवेशन में हुआ वह विवाद कई दृष्टियों से बड़ा मनोरजक है और महात्मा जी के मार्ग की कठिनाइयो पर भी उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। श्री पण्डित विश्वम्भरनाथ जी बी. ए. ने, जो महात्मा जी के संन्यासाश्रम मे प्रवेश करने के बाद गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुए थे, उस विवाद में कहा था—"प्रतिनिधि-सभा का प्रथम उद्देश्य वेद तथा अन्य प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के लिये विद्यालय खोलना है। इसमें गुरुकुल को एक शिक्षणशाला (एजूकेशनल इन्स्टीट्यूशन) कहा गया है, ऐसी किसी भी शिक्षणशाला के खोलने का अधिकार इस सभा को नहीं है।...यह याद रखना चाहिये कि विद्या का फैलाना प्रतिनिधि सभा का कोई उद्देश्य नहीं है।" महाशय कृष्ण जी बी. ए. ने ऊपर की बातों का समर्थन करते हुए कहा था—"गुरुकुल के अधिकारी गुरुकुल को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं, यह बहुत बुरा है और सभा के उद्देश्यो के सर्वथा बाहर है।" लाला काशीराम और महता जैमिनी आदि ने भी ऊपर के विचारो का समर्थन किया था। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि अन्तरंग-सभा का एक दल, जिसको इसी विवाद में महाशय कृष्ण जी ने 'प्रकाश पार्टी' का नाम दिया था, गुरुकुल को केवल वेद पढ़ाने की छोटी-सी चटशाला बनाये रखना चाहता था। उसको महाविद्यालय अथवा

विश्वविद्यालय बनाने के वह विरुद्ध था। महात्मा जी ने इसी विवाद में बहुत साफ़ शब्दों में कह दिया था—"गुरुकुल जिस मार्ग पर चल रहा है, उससे वह एक विश्वविद्यालय ही बनेगा। अब तक भी वह बहुत कुछ उसी ओर बढा है। वेदों और वेदांगों की पढ़ाई के मुख्य रहने पर भी वहाँ अन्य विद्याओं की पढ़ाई को स्थान दिया जायगा। कारण इसका यह है कि सब अन्य विद्यायें वेदों के समझने के लिये साधन-रूप हैं। गुरुकुल में कृषि-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, रसायन तथा अन्य सब कलायें एवं विज्ञान सिखाये जायेंगे और सिखाये जाते हैं। यदि प्रतिनिधि-सभा इसे अपने उद्देश्यों के प्रतिकूल समझती है, तो उसे इसी समय वर्तमान गुरुकुल को बन्द कर देना चाहिये। जो सज्जन कार्यकर्त्ताओं पर यह दोष लगाते हैं कि वे भविष्य में गुरुकुल को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिये कि इस समय भी गुरुकुल यूनिवर्सिटी ही बन रहा है।"

गुरुकुल को संस्कृत की चटशाला अथवा विविध विषयो के अध्ययन के लिये एक आदर्श शिक्षणालय बनाने के दृष्टिकोण में भेद बढ़ता चला गया। समाचार-पत्रों में भी उस दृष्टिभेद की चर्चा होने लगी। 'प्रकाश' में गुरुकुल के उद्देश्य के सम्बन्ध में महाशय कृष्ण जी ने कई लेख लिखे। 'प्रचारक' में 'प्रकाश और गुरुकुल' के शीर्षक से लिखे गये लेखों में उनका उत्तर दिया गया और महाशय कृष्ण जी के आन्दोलन के तरीक़े को 'भयानक प्रकार' बताया गया, किन्तु उनका यह 'भयानक प्रकार' लगातार कई वर्षो तक जारी रहा। 22 कार्तिक सम्वत् 1968 के 'प्रकाश' में गुरुकुल के उद्देश्यों के विषय में कई एक काल्पनिक परिभाषायें घड़ कर गुरुकुल के कार्यकर्त्ताओं पर रोष भी प्रगट किया गया और यह भय भी प्रगट किया गया कि गुरुकुल ब्राह्मण न पैदा करके वैश्य पैदा करने में लग रहा है। उसी समय 'प्रचारक' में लिखा गया था—"प्रकाश के सम्पादक महाशय कृष्ण जी गुरुकुल की स्वामिनी श्रीप्रतिनिधि-सभा के सभासद् हैं, गुरुकुल की प्रबन्धकारिणी अन्तरंग-सभा के भी वे सदस्य हैं और इससे भी बढ़ कर आप उसके उपमन्त्री हैं। यदि गुरुकुल के विषय में आपको कोई शिकायत है और यदि गुरुकुल के वर्तमान कार्यकर्त्ताओं की किन्हीं चेष्टाओं से आप रुष्ट हैं तो आपके लिये कई रास्ते खुले हैं और वे कई रास्ते इस वर्तमान रास्ते से बहुत प्रिय, बहुत लाभदायक और बहुत सुलभ हैं।" पर, प्रकाश-सम्पादक ने प्रिय, लाभदायक और सुलभ मार्ग का अवलम्बन न करके 'प्रकाश' के कालमों का अप्रिय, हानिकारक तथा जटिल मार्ग ही पकड़े रखा। सम्वत् 1971 के माघ मास में फिर 'प्रकाश' में यह भय प्रगट किया गया कि गुरुकुल वेद की पढ़ाई को अप्रधान

बना कर लुहारी-तरखानी के काम में कहीं न लग जावे। इस भयावह कल्पना के आधार पर एक भयानक चित्र खीच कर सर्वसाधारण को भ्रम में डालने की निन्दनीय चेष्टा की गई थी। इस पर महात्मा जी ने सम्वत् 1971 के 2 फाल्गुन के 'प्रचारक' में लिखा था—"मुझे आश्चर्य है कि यदि महाशय कृष्ण जी को गुरुकुल की वर्तमान गति में कुछ सन्देह है तो स्वामिनी-सभा के मन्त्री होते हुए, उन्होंने उस सभा द्वारा संशोधन कराने के स्थान में समाचार-पत्र की शरण क्यों ली?" इसके बाद महात्मा जी ने लिखा था—"मैं महाशय कृष्ण तथा आर्य जनता को निश्चय दिलाता हूँ कि यदि वैदिक-धर्म के पुनरुज्जीवन का काम मेरी दृष्टि मे गौण बन जायगा तो मैं इस गुरुकुल में एक पल भी ठहरना पाप समझूँगा।" इसी लेख में आपने एक बार फिर आयुर्वेद, कृषि-व्यापार और लुहारी-तरखानी आदि की पढ़ाई का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी—"पहिली पाठविधि के अनुसार, जिसका प्रामाणिक खण्डन प्रतिनिधि-सभा ने मेरे ज्ञान मे नहीं किया, कृषि-महाविद्यालय खोलना भी गुरुकुल का कर्तव्य है। मैं दो वर्षो से उसके लिये विशेष परामर्श करता रहा हूँ और अब समय आया है कि कृषि का काम आगामी वर्ष के आरम्भ से शुरू किया जायगा। उसके साथ 'लुहारी-तरखानी' का कारखाना भी खोला जायगा, जिसका कुछ सामान तीन वर्षो से आया पड़ा है। यदि इसके सम्बन्ध में मन्त्री जी अथवा अन्य किन्हीं सभासदों को गुरुकुल अपने उद्देश्य से गिरता दिखाई दे तो सभा में इस प्रश्न को रख कर पहले ही इसका निश्चय करा लें।" महात्मा जी के इतने स्पष्ट लेखों के बाद भी 'प्रकाश' के सम्पादक और उनकी पार्टी की यह शिकायत बराबर रही कि 'उपदेशक नहीं मिलते।' सम्वत् 1973 के श्रावण मास में 'प्रकाश' ने यहाँ तक लिखा था कि "न पंजाब में और न संयुक्तप्रान्त में कोई ऐसी पाठशाला है, जहाँ उपदेशक तैयार किये जा रहे हों ऐसी हालत में सवाल तो क़ाबिल-ग़ौर यह है कि उपदेशक कहाँ से आयें?" पाठक यह समझ सकते हैं कि इस लेख में संयुक्त-प्रान्त का उल्लेख करके गुरुकुल पर चोट की गई थी। इस प्रकार सदा ही 'प्रकाश' और उसके दल की गुरुकुल पर बक्र दृष्टि रही, जिसका परिचय कभी-कभी आज-कल भी मिल जाता है। इस प्रकरण को इतना खोल कर इसलिये लिखा गया है कि इसका सम्बन्ध चरित्रनायक की ज़ीवनी के साथ कई जगह आता है और गुरुकुल की उन्नति तथा उसके विस्तार में यदि कोई सबसे बड़ी बाधा थी तो यही थी कि उसके संचालकों और मालिकों की दृष्टि में गुरुकुल के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों में पूर्व-पश्चिम का-सा भेद था। इस भेद को लेकर कई वर्षो तक समाचार-पत्रों में जो चर्चा हुई, वह उसके लिये और भी अधिक बड़ी बाधा सिद्ध हुई।

8. सरकार की तिरछी नज़र

इस सब बाधा-विरोध के रहते हुए एक और बाधा गुरुकुल के मार्ग में सरकार की सन्देहास्पद दृष्टि थी। गुरुकुल का सरकार से बिलकुल स्वतन्त्र होना ही उसके सन्देह के लिये पर्याप्त था। आर्यसमाज पर राजद्रोही होने का जो सन्देह था, उससे भी गुरुकुल के सम्बन्ध में इस सन्देह को विशेष पुष्टि मिली। उस सन्देह की उत्पत्ति के इतिहास में न जाकर यहाँ एक गुप्त सरकारी लेख की पंक्तियाँ इसलिये दी जाती हैं, जिससे उस सन्देह का रूप पाठकों के सामने आ जाय। उस लेख में लिखा गया था—"आर्यसमाज के सगठन में अभी जो महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है वह वास्तव में सरकार के लिये बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली। इस प्रांत में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा, किन्तु आर्यसमाज की धर्म के रूप में आलोचना करते हुए भी उसकी ओर निर्देश करना आवश्यक है। इस प्रणाली में चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, किन्तु भक्तिभाव और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है, क्योंकि यहाँ आठ बरस की ही आयु में बालकों को माता-पिता के प्रभाव से भी बिलकुल दूर रखकर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायुमण्डल में उनके जीवन के कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार ढाला जाता है, जिससे उनके रग-रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की सीधी देख-रेख में बालकों की उस सत्रह वर्ष की आयु तक बराबर जारी रहा, जो कि मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक प्रभावग्राही समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तैयार होंगे, वे सरकार के लिये अत्यन्त भयानक होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं हैं। उनमें पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास और अपने सिद्धांत के लिये कष्ट-सहन करने की भावना, अपितु समय आने पर

प्राणों तक को न्यौछावर कर देना, साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव डालेगा। इससे उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे, जो उनके मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिये कि उनका उद्देश्य सारे भारत में एक ऐसे जाति-धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिन्दू एक भ्रातृभाव की शृंखला में बँध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन, मन, धन—सर्वस्व को देश हित के लिए अर्पण कर दो।"

इस लेख की अगली पंक्तियों का सीधा सम्बन्ध गुरुकुल कांगड़ी के साथ है। वे पंक्तियाँ ये हैं—"सरकार के लिये सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय आर्यसमाज के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख होगा? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढाँचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा होगी, जिसका जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके प्रचार में मक्कारी, सन्देह, समझौता और भय की गन्ध भी न होगी और सर्वसाधारण के हृदय पर उसका सीधा असर पड़ेगा।" गुरुकुल के सम्बन्ध में पैदा हुए सन्देह को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये इस लेख का लेखक कहाँ तक पहुँचा था, इसका पता अगली पंक्तियों से लगता है, जिनमे उस दौरे का उल्लेख किया गया है, जिसमें महात्मा जी ने गुरुकुल के लिये तीस हज़ार रुपया जमा किया था। लेखक लिखता है—"पंजाब की पुलिस की रिपोर्टों में यह दर्ज है कि सन् 1899 में जब लाला मुंशीराम अमृतसर के पण्डित रामभजदत्त के साथ गुजरात, सियालकोट और गुजरांवाला का दौरा करते हुए धन संग्रह कर रहे थे, तब उन्होने सरकार की निन्दा शरारत से भरे हुए शब्दों मे अन्य बातों के साथ यह कहते हुए की थी कि सिपाही कितने मूर्ख हैं जो सत्रह-अठारह रुपयों पर भरती होकर अपना सिर कटवाते हैं। गुरुकुल में शिक्षित होने के बाद ऐसा करने वाले आदमी सरकार को नहीं मिलेंगे।" गुरुकुल के जिन उत्सवों का पीछे कुछ वर्णन किया गया है, उनके सम्बन्ध में इस लेख में लिखा गया है—"कांगड़ी में मनाये जाने वाले गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कोई साठ-सत्तर हज़ार आदमी प्रति वर्ष इकट्ठा होते हैं। कई दिनों तक यह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थ्यरक्षा आदि का सब प्रबन्ध गुरुकुल के अधिकारी स्वयं करते हैं। बंगाल में मेलों पर जिस प्रकार स्वयंसेवक सब प्रबन्ध करते हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्मचारी स्वयंसेवकों का सब काम करते हैं। संगठन की दृष्टि से यह काम बिलकुल त्रुटि-रहित है।

उत्सव पर इकट्ठा होने वाले लोगों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बडी बड़ी रक़में दान में दी जाती हैं और अच्छी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियाँ आभूषण तक देती हैं।" गुरुकुल के उद्देश्य की मीमांसा करते हुए उसके तपस्वी, कठोर, संयमी और निर्भीक जीवन का रोना रोते हुए फिर लिखा गया है—"विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध रहेगा? इस सम्बन्ध में गुरुकुल की, महाशय रामदेव की लिखी हुई, एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उसके अन्त में लिखा है कि गुरुकुल मे दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों का बाइबिल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है, जिससे ब्रह्मचारियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त हो। उनमें उपदेश और उदाहरण दोनों से देश के लिये उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक संन्यासियों का दल तैयार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिये भयानक संकट पैदा कर देगा।" इसी प्रकार एक गुप्तचर ने अपनी डायरी में गुरुकुल के सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ लिखी थीं—"गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुए हैं, जिनमे अंगरेज़ी-राज से पहले की भारत की अवस्था और अंगरेज़ों के कलकत्ता आने की अवस्था दिखाई गई है। लखनऊ के सन् 1857 के राज-विद्रोह के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मि. ऐफ़ फोर्ड ने जोन आफ़ आर्क का भी वह बड़ा चित्र गुरुकुल मे लगा हुआ देखा था, जिसमें वह अंगरेजो के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।"

इस प्रकार गुरुकुल की हर एक दीवार के पीछे से सरकारी लोगों को राजद्रोह की गंध आती थी। यज्ञशाला के नीचे उनकी दृष्टि में एक तहख़ाना बना हुआ था, जिसमें उनकी समझ के अनुसार गोला-बारूद बनाने की ब्रह्मचारियों को शिक्षा दी जाती थी। सरकारी गुप्तचरों का गुरुकुल में ताँता बँधा रहता था। वे संन्यायी, साधु, बाबू आदि के वेश मे छिपे हुए भेद लेने की सदा कोशिश किया करते थे। जब ब्रह्मचारी सरस्वती-यात्रा पर गुरुकुल से बाहर जाते थे, तब भी गुप्तचरों की एक सेना उनके आगे पीछे चक्कर काटा करती थी। साधारण गुप्तचरों की बात ही क्या है, बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी भी लुक-छिप कर गुरुकुल का भेद लेने की बराबर चेष्टा करते रहे। एक डिपुटी कलेक्टर गुरुकुल में अपने को वकील बताकर इसी नीयत से आए थे। महात्मा जी को उनके इस प्रकार आने का पहले ही मता लग गया और उनके पीछे गुरुकुल के गुप्तचर छोड़ दिये गये। आधी

रात को वे छद्मवेशी वकील उस घिरे हुए अहाते में जा पहुँचे, जहाँ ब्रह्मचारियों को गतका-फेरी आदि के खेल सिखाए जाते थे। महात्मा जी भी पता लगते ही उनके पीछे वहाँ पहुँच गए और वहाँ पहुँचकर आपने उनसे पूछा—'क्या आपने हमारे सब भेदों का पता लगा लिया?' बेचारे डिपुटी कलेक्टर पानी-पानी हो गये। उन्होंने स्वीकार किया कि गुरुकुल में सन्देह की कोई बात नहीं है। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट की कहानी भी बहुत रोचक है। उन्होंने गुरुकुल आकर ब्रह्मचारियों के कुरते उतरवा कर छाती और भुजाओं के पुट्ठों की परीक्षा की। इस परीक्षा के बाद उनके चेहरे के भाव देखने ही लायक थे। उनसे यह कहे बिना न रहा गया कि "मुझ को बताया गया था कि आपके ब्रह्मचारी धनुर्विद्या में प्रवीण हैं और आपका मुख्य उद्देश्य उनको पहलवान बनाना है। मुझ को पता लग गया कि यह सब झूठ है। निस्सन्देह खुली वायु में रहने के कारण उनका डील डौल बाहर के स्कूलों के लडकों की अपेक्षा अच्छा है। मुझ को यह भी बताया गया था कि वे बहुत कुशल घुड़सवार हैं और आकाश मे ऊँचे उड़ते हुए पक्षी को अचूक निशाना मार कर नीचे गिरा देते हैं।"

इंगलेण्ड के वर्तमान प्रधान-मन्त्री और समस्त संसार के राजनीतिज्ञों के अग्रणी समझे जाने वाले मि. रैम्जे मेकडानल्ड का इस सम्बन्ध का वह लेख बहुत ही सुन्दर है, जो उन्होंने सन् 1914 में गुरुकुल देखने के बाद भारत से विलायत लौट कर वहाँ के 'डेली क्रानिकल' मे लिखा था। लेख को उन्होने इन पंक्तियों से ही प्रारम्भ किया था—"भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध में जिन्होंने कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा है उन्होने गुरुकुल नाम अवश्य सुना होगा, जहाँ कि आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्यो की भावना और सिद्धान्तों का यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के सम्बन्ध मे जितने भी सन्देह किये जाते है, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिये गये है। इसीलिये सरकार की इस पर तिरछी नजर है, पुलिस अफ़सरों ने इसके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्टे की हैं और अधिकांश ऐंग्लो-इण्डियन लोगों ने इसकी निन्दा की है।" सरकार की तिरछी नजर के कारणों की मीमासा करते हुए उस लेख में गुरुकुल का बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। उसमें लिखा गया है—"सरकारी लोगों के लिये गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज़ नही है। अंग्रेज़ी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिये पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी यहाँ काम में नहीं लाई जातीं, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये यहाँ से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियो को विद्यालय से अपनी

ही उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से इसके लिये पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। सन् 1835 के प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में मैकाले के सम्मति प्रकट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहिला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहाँ तक मुझको मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।" लेख के अन्त में उन्होंने लिखा था—"मैं स्वप्न में किसी को यह कहते हुए सुन रहा हूँ—हम केवल यह चाहते हैं कि शान्ति से हमको ईश्वर का भजन करने दो। क्या यही राजद्रोह है?" मि. मेकडानल्ड का यह लेख सम्भवतः गुरुकुल के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों में सर्वोत्तम है।

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध पत्र 'दि न्यू स्टेट्समैन' के 20 जून सन् 1914 के अंक में आर्यसमाज के सम्बन्ध में लिखे गये लेख में गुरुकुल के लिये लिखा गया था—"दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक कालेज से भी अधिक प्रसिद्ध हरिद्वार का गुरुकुल सम्भवतः समस्त संसार में शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक मनोरंजक परीक्षण है। गंगा के मनोहर दृश्यों के बीच, हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के नीचे, सांसारिक वातावरण से बहुत दूर एक आश्रम बना हुआ है। केवल जीवन-निर्वाह पर आचार्य, उपाध्याय और सब अध्यापक काम करते हुए स्वेच्छा से ग़रीबी का जीवन बिताते हैं, यद्यपि उनमें से बहुत से बाल-बच्चों वाले गृहस्थी हैं। सात वर्ष की आयु मे बालकों को लिया जाता है और 25 वर्ष तक रखा जाता है। वे बीच में एक बार भी घर नहीं जा सकते। न वे किसी स्त्री का दर्शन कर सकते हैं और न कोई स्त्री ही उनको देख सकती है। वे दिन-रात अपने अध्यापको के निरीक्षण और संगति में रहते हैं। पहिले सात वर्ष तक उनको केवल संस्कृत और वैदिक साहित्य की शिक्षा दी जाती है। फिर दूसरी भाषायें तथा विज्ञान सिखाया जाता है। हिंदी में ही सब शिक्षा दी जाती है। 25 वर्ष की आयु में समझा जाता है कि वे देश के पूरे सेवक बन गये हैं। भारतीय दृष्टि से उक्त संस्था की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता जात-पाँत के भेद-भाव को मिटाना है। उसमें 300 बालकों में ब्राह्मण से लेकर मेहतर तक सभी जातियों के बालक हैं। सब का एक-सा जीवन, एक-सा रहन-सहन है। जात-पात का भेद भारत में ख़ूब गहरी जड़ें पकड़ा हुआ है। पश्चिम की शिक्षा और आदर्शों के सहारे भी उसकी जड़ों

को खोदना कठिन है। परन्तु यहाँ गुरुकुल में उसकी जड़ें बड़ी सफलता के साथ काट दी गई हैं, पश्चिम के नाम पर उसके अनुकरण में नहीं किन्तु पूर्व के पुराने और सुन्दर आदर्शों को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से। आर्यसमाज के शिक्षा के कार्य का यह नमूना है और शिक्षा का यह कार्य उस महान् समाज-सेवा के कार्य का छोटा-सा हिस्सा है, जो आर्यसमाज उत्तरीय भारत में कर रहा है। आध्यात्मिकता एव नैतिकता से प्रायः रहित प्रतिभाशून्य ब्रिटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते है। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं? इसलिये वे उसमें 'राजद्रोह' का सन्देह करने के आदी हो गये हैं।"

इसके बाद सरकारी अधिकारियों का रुख़ गुरुकुल के सम्बन्ध में बदलता है। उसके बदलने में दीनबन्धु ऐण्डरूज़ का बहुत अधिक हाथ था। उस समय के संयुक्तप्रान्त के लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर सर जोन ह्यूवेट ने महात्मा जी को मिलने के लिये देहरादून बुला कर कहा कि गुरुकुल के सम्बन्ध में उनका सब सन्देह दूर हो गया है। उनके बाद के लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर सर (इस समय के 'लार्ड') जेम्स मेस्टन 1913, 1914 और 1916 में चार बार गुरुकुल आये। सन् 1913 में गुरुकुल की ओर से दिये गये मान-पत्र के उत्तर में आपने कहा था—"न केवल इस प्रान्त में किन्तु समस्त भारत में गुरुकुल एक बिलकुल मौलिक और कुतूहलपूर्ण परीक्षण है। मैं यहाँ आकर उन लोगों से भी मिलना चाहता था, जिनको सरकारी रिपोर्टो मे निस्सीम, अज्ञात और भयानक आपत्ति का स्रोत बताया गया है।" इसके बाद कर्मचारियो के त्याग तथा सेवा की भावना, प्रबन्ध तथा शिक्षा की व्यवस्था और ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य की प्रशंसा करते हुए आपने कहा था—"एक आदर्श विश्वविद्यालय के लिये मेरा आदर्श गुरुकुल है।"

लखनऊ के 'एडवोकेट' के संचालक स्वर्गीय राव बहादुर बाबू गंगाप्रसाद जी वर्मा ने सन् 1913 के अप्रैल मास में संयुक्तप्रान्तीय-लेजिस्लेटिव-कौंसिल में सर जेम्स मैस्टन के गुरुकुल पधारने पर जो भाषण दिया था, उससे भी पता लगता है कि सरकारी अधिकारियों की गुरुकुल के प्रति कैसी धारणा थी? उन्होंने उस भाषण में कहा था—"मैं श्रीमान् को उस राजनीतिपूर्ण और साहसपूर्ण कार्य के लिये बधाई देना चाहता हूँ, जो आपने उन देशभक्त शिक्षकों को दर्शन देकर किया है, जो महात्मा मुंशीराम जी के नेतृत्व तथा संरक्षकता में राष्ट्रीय ढंग पर शिक्षा के क्षेत्र में अलौकिक परीक्षण कर रहे हैं और जिन्होंने पश्चिम की अच्छाइयों को पूर्वीय आदर्शों के साथ एक कर दिया है। मैं श्रीमानों के गुरुकुल पधारने को इसलिये साहसपूर्ण कार्य कहता हूँ, क्योंकि मुझको मालूम है कि इस प्रान्त के

अधिकतर अफ़सर झूठी और स्वार्थपूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आपके हृदय मे यह सन्देह पैदा कर रहे थे कि गुरुकुल भारत के शान्त विकास में विघ्न पैदा करने वाले लोगों के पैदा करने में लगा हुआ है। आपके गुरुकुल पधारने और वहाँ की गई घोषणा से आशा है ऐसे लोगों के विचार गुरुकुल के सम्बन्ध में बदल जायँगे। आपने उन लोगों को सचमुच प्रोत्साहन दिया है, जो जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में लगे हुए हैं। इससे वे लोग गवर्नमेण्ट के अधिक समीप आ जायँगे, जिनके हृदय मातृभूमि को फिर से पुरातन गौरव प्राप्त किया हुआ देखने को उतावले हो रहे हैं।" इस भाषण में वर्मा जी ने गुरुकुल के आदर्श का चित्र भी बहुत सन्दर शब्दों में अंकित किया था।

सन् 1916 में 21 अक्तूबर को उस समय के वायसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड भी लेडी चेम्सफ़ोर्ड, सर जेम्स मेस्टन और अन्य सरकारी अधिकारियों के साथ गुरुकुल पधारे थे। आपने गुरुकुल की शिक्षा, प्रबन्ध और ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य पर पूर्ण सन्तोष प्रकट किया।

कहा जाता है कि उच्च अधिकारियों के इस प्रकार गुरुकुल में आने का एक कारण यह था कि किसी प्रकार गुरुकुल को सरकार की सुनहरी ज़ंजीरों मे जकड़ा जाय। यदि गुरुकुल के संचालकों की ओर से कुछ थोड़ा-सा भी संकेत मिलता तो जो सरकारी सहायता दूसरी संस्थाओं को नाक रगड़ने और हाथ-पैर जोड़ने पर भी नसीब नही होती, वह अनायास ही गुरुकुल को मिल जाती। पर, गुरुकुल अपने आदर्श पर दृढ़ रहा और उसके संचालक, विशेषतः महात्मा जी, उस जाल से बचे रहे। उन्होंने महाराणा प्रताप का भूख-प्यास का जंगली जीवन पसन्द किया और स्वाभिमान को खोकर मानसिह के भोग-विलास के जीवन की ओर आँख भी नहीं फेरी। सम्भवतः इसी ओर संकेत करते हुए महात्मा जी ने लिखा था—"गुरुकुल अपने जन्म-दिन से अब तक, नौकरशाही के जाल से बचा हुआ, अपना काम करता आया है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये? जिन सुनहरी ज़ंजीरों को जातीयता का अभिमान करने वाले अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहिन लिया, मन लुभाने वाली वे ज़ंजीरे न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गई। परमेश्वर ने उनको ऐसा दासता से बचने की बुद्धि दी।" सरकारी अधिकारियों का रुख़ बदलने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि गुप्तचरों की सन्देह-दृष्टि से गुरुकुल की कुछ समय के लिये रक्षा हो गई और उसके अधिकारी एवं संचालक संशयात्मक-वृत्ति से ऊपर उठ कर सर्वतोभावेन गुरुकुल की सेवा में लग गये।

9. आकर्षण और विशेषतायें

गुरुकुल एक ऐसा परीक्षण था, जिसकी कृतकार्यता और सफलता पर शुरू से ही सन्देह प्रगट किया जाता था। श्रीयुत रेम्ज़े मैकडानल्ड की पीछे दी हुई सम्मति बिलकुल ठीक है कि मैकाले के 1835 के उस सुप्रसिद्ध लेख के बाद, जिस द्वारा भारत में वर्तमान नैतिकता-शून्य सरकारी शिक्षा का सूत्रपात हुआ था, केवल गुरुकुल ही एक परीक्षण है जो उस के प्रतिकूल किया गया है। धारा के ठीक विपरीत तैरने वाले की सफलता कर किस को विश्वास हो सकता है? गुरुकुल की भी ऐसी ही स्थिति थी। जगल मे माता-पिता से अलग सोलह वर्ष तक बालकों के रहने की कल्पना तक लोगो के लिये विश्वास से बाहर की बात थी। पर, महात्मा मुशीराम जी की श्रद्धा, विश्वास और तत्परता ने गुरुकुल की सफलता के रूप में असम्भव को भी सम्भव बना कर दिखा दिया। उस की जिस लोकप्रियता का पीछे उल्लेख किया जा चुका है वह उस की सफलता का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। इस प्रसग में उस की सफलता की एक और साक्षी दी जायगी और वह है गुरुकुल का आकर्षण। इस आकर्षण मे आर्य जनता तो गुरुकुल की ओर ऐसी खिचती चली गई कि गुरुकुल उस के लिये ऐसा तीर्थ बन गया, प्रति वर्ष उत्सव के समय जिस के दर्शन करना आर्य जनता अपना कर्तव्य समझती है। आर्य जनता के अलावा कट्टर सनातनी, ईसाई, मुसलमान, यूरोपियन—न केवल अंग्रेज किन्तु अमेरिकन, फ्रेंच, जर्मन आदि भी—गुरुकुल की ओर आकर्षित होते गये हैं। समाज-सुधार, मातृ-भाषा हिन्दी के पुनरुद्धार और मौलिक शिक्षा के विस्तार आदि की दृष्टि से गुरुकुल निस्सन्देह आदर्श सस्था है, इसलिये ऐसे लोगों का उस की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है; किन्तु ऐसे लोग भी गुरुकुल की ओर आकर्षित हुए, जिन का गुरुकुल के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था।

अलीगढ़-मुस्लिम-यूनिवर्सिटी का कमीशन गुरुकुल आया और उस पर मुग्ध हो गया। डाक्टर अन्सारी और बैरिस्टर आसफ़अली सरीखे निष्पक्ष मुसलमान

गुरुकुल गये और उस पर लट्टू हो गये। जो मुसलमान गुरुकुल को साम्प्रदायिक संस्था समझते हुए यह सोचते थे कि उनको वहाँ अपने बर्तन में कोई पानी तक नहीं पिलायेगा, जब ब्रह्मचारियों और अध्यापकों ने उनके साथ बैठ कर भाई-भाई की तरह भोजन किया तब उनकी आँखें खुलीं और गुरुकुल ने उनके हृदयों में घर कर लिया। कलकत्ता-यूनिवर्सिटी कमीशन के प्रधान मि. सैडलर और श्री आशुतोष मुकर्जी गुरुकुल आये; उन पर गुरुकुल का जो असर हुआ, वह सैडलर कमीशन की रिपोर्ट में दर्ज है। मि. सैडलर ने गुरुकुल का खूब गहरा अवलोकन करने के बाद कहा था—"मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।" माननीय श्रीनिवास शास्त्री सरीखे नरम से नरम, लाला लाजपतराय जी सरीखे गरम से गरम, पण्डित मोतीलाल जी नेहरू सरीखे उग्रतम राजनीतिज्ञ, पण्डित मदनमोहन जी मालवीय सरीखे फूँक-फूँक कर आगे क़दम बढ़ाने वाले और गुरुकुल से भी बड़ी संस्था के संस्थापक, सेठ जमनालाल बजाज सरीखे श्रद्धासम्पन्न साधु-स्वभाव महानुभाव, भारतकोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू सरीखी महिला, शान्तिनिकेतन (बोलपुर) के संस्थापक विश्वविख्यात श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर सरीखे महापुरुष और जगद्बन्द्य महात्मा गांधी सरीखे सन्त आदि सब को ही, भिन्न-भिन्न रुचि और भिन्न-भिन्न स्वभाव रखते हुए भी, गुरुकुल ने अपनी ओर आकर्षित किया और सब के हृदयों में अपने लिये एक-सा स्थान बनाया। ज़िले के मजिस्ट्रेट, प्रान्त के गवर्नर और भारत के वायसराय के लिये भी गुरुकुल में कुछ आकर्षण था। रुड़की के जवाइण्ट मजिस्ट्रेट मि. आर. सी हावर्ट ने ठीक ही लिखा था—"गुरुकुल एक अद्भुत संस्था है, जिसका प्रबन्ध अत्युत्तम है। इसको देख कर मुझको चैस्टर-हाउस का अपना विद्यार्थी-जीवन सहसा याद आ गया। गुरुकुल में अपनी मौलिक पद्धति के साथ विलायत के सार्वजनिक स्कूलों की अच्छाई का मिश्रण किया गया है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी है और जनता की आम भाषा ही शिक्षा का वास्तविक माध्यम है। मैंने भारत में कहीं और ऐसे स्वस्थ और प्रसन्न बालक नहीं देखे। अध्यापक निःस्वार्थी हैं और अपने शिष्यों के चरित्र-गठन का पूरा ध्यान रखते हैं।" सरकारी अधिकारियों की ऐसी सम्मतियों से गुरुकुल की सम्मति-पुस्तक भरी पड़ी है।

विलायत से भारत के सुप्रसिद्ध स्थानों की यात्रा के लिये आने वाले विदेशी यात्री गुरुकुल अवश्य आते थे। यूरोप के कई समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि मि. नेविन्सन ने विलायती पत्रों में गुरुकुल की इतनी प्रशंसा की थी कि कितने ही विदेशी यात्री उनके लेख पढ़ने के बाद ही गुरुकुल आये थे। अमेरिका के प्रसिद्ध

शिक्षा-विज्ञ विद्वान्-वकील मि. मायरन एच. फैल्प्स ने गुरुकुल की प्रशसा में इलाहाबाद के 'पायोनियर' में बहुत से विस्तृत पत्र लिखे थे। वे इतने प्रभावशाली पत्र थे कि 'पायोनियर' का वही सम्पादक लेखमाला के अन्त में गुरुकुल की प्रशंसा करने के लिये बाध्य हुआ, जो पहिले उनको प्रकाशित तक करने में संकोच करता था। फैल्प्स गुरुकुल के साथ इतने तन्मय हो गये थे कि उनका नाम गुरुकुल में पं. दयानारायण रख लिया गया था। वे धोती-कुरता के वेष में पूरे काश्मीरी पण्डित ही जान पड़ते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि यदि मेरा कोई लड़का होता तो मै उसको गुरुकुल में भरती करता अथवा मैं ही यदि आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता तो गुरुकुल में भरती हो जाता। विलायत के 'डेलीमेल' के प्रतिनिधि मैक्सवैल, इंग्लैंड की सार्वजनिक-सदाचार-समिति के प्रमुख सदस्य एवं सदाचार की समस्या के अध्ययन के लिये ही समस्त संसार की यात्रा पर निकले हुए जी. एन. फ़ौक्सपिट, इंगलैंड की लिबरल-क्लब के सदस्य तथा सुप्रसिद्ध लेखक विलियम आर्थर, भारतभक्त दीनबन्धु मि. एण्ड्रूज़ और उनके साथी मि. पियरसन, मि. ऐच. हालैंड, इस समय के इंगलैंड के प्रधान-मन्त्री मि. रैम्ज़े मैकडानल्ड, लार्ड इसलिंगटन, सर थियोडोर मारिसन, मि. स्काट, मि. एफ. टी. ब्रुक, जर्मनी के मि. बे, हालैंड के मि. कैरीयर, जापान के प्रोफ़ेसर किमूरा इत्यादि कितने ही विदेशी यात्री गुरुकुल आये और उसकी प्रशंसा के गीत गाते हुए वापिस लौटे। मि. हालैंड ने 'माडर्न रिव्यू' में गुरुकुल कोड केवल भारत किन्तु समस्त संसार की आशा का केन्द्र लिखा था। मि. मेकडानल्ड की सम्मति पीछे दी जा चुकी है। गुरुकुल मे दिये व्याख्यान में भी आपने कहा था—"गुरुकुल का उद्देश्य भारतीयो को सरकारी यूनिवर्सिटियों की तरह दोग़ले अंगरेज़ न बना कर पूर्ण भारतवासी बनाना है।" लार्ड इसलिगटन भारत मे सन् 1913 में आये हुए रायल कमीशन के सभापति थे। आप ने अपने भाषण में गुरुकुल को बहुत मनोरजक संस्था कहा था और कहा था कि पश्चिमीय सभ्यता नगरों से उत्पन्न हुई है। और पूर्वीय सभ्यता जगलो से आप यहॉ जंगलों में बैठे हुए मृतप्राय पूर्वीय सभ्यता में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा कर रहे हैं। जापान के प्रसिद्ध विद्वान और वहॉ के विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री किमूरा गुरुकुल से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने कहा था—"थोड़े से समय के निवास में ही मैंने यहॉ से अनेक शिक्षायें प्राप्त की हैं, जो मेरे देश के लिये भी बिलकुल नवीन हैं। आशा है, भविष्य में जापान के बहुत से विद्यार्थी यहॉ आकर भारत की प्राचीन संस्कृति का अध्ययन किया करेंगे।"

इस प्रकार गुरुकुल पश्चिमीय लोगों को भी अपनी सफलता और विशेषताओं

पर मुग्ध करने में कृतकार्य हुआ। वहॉं का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि बाहिर के लोग उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। गुरुकुल ने एक फैल्प्स को ही पण्डित दयानारायण नहीं बनाया, किन्तु कितनों के ही जीवन और विचारों में गुरुकुल ने क्रांति पैदा की थी। मि. एण्ड्रूज़ का मासाहार छुड़ा कर उन को शाकाहारी बनाने का गौरव गुरुकुल को ही प्राप्त है। महात्मा जी के साथ मि. एण्ड्रूज़ का इतना अपनापन था कि दोनों का आपस का पत्र-व्यवहार 'माई डियर राम' तथा 'युअर डियर चार्ली' और 'माई डियर चार्ली' तथा 'युअर डियर राम' के शब्दों में होता था। वह इतना उपयोगी और विस्तृत पत्र-व्यवहार है कि यदि अब भी जितना प्राप्त है उतना ही प्रकाशित किया जा सके तो एक शिक्षाप्रद पुस्तक का काम दे सकता है। उस पत्र-व्यवहार से यह प्रगट होता है कि भारत को ईसाई बनाने के सुख-स्वप्न देखने वाले पादरियों के गिरोह में से एण्ड्रूज को निकाल कर उनको भारतभक्त और दीनबन्धु बनाने का श्रेय भी गुरुकुल एवं महात्मा जी को ही है। श्रीयुत एण्ड्रूज संसार के किसी भी कोने में रहे, महात्मा जी को बराबर पत्र लिखते रहे। प्रिटोरिया (दक्षिण अफ्रीका) से एक पत्र में दीनबन्धु ने महात्मा जो को लिखा था—"मुझको इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थो में मेरी मातृभूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपने स्वर्गीया माता की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूँगा। मैं पिताजी से मिलने के लिये इंगलैंड जा रहा हूँ और वहॉं अपनी माता की क़बर पर फूल चढ़ाऊँगा। परन्तु उसकी आत्मा तो वहॉं न होगी। वह तो भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।" शिमला से महात्मा जी को लिखे हुए एक पत्र में लिखा है—"यहॉं आने पर मुझको मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से विशप और दूसरे लोग मुझ से बहुत असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैने उनको कह दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चाई ईसा बन गया हूँ। यही मैं बनना चाहता था। इंगलैंड से भी इस सम्बन्ध में बहुत पत्र आये हैं। उनमें मेरे पिताजी का पत्र सब से अधिक दुःखपूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका तो हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नही समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिये दुःखी हूँ। परन्तु मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझको आप के अन्यतम प्रेम का पूरा भरोसा है।" डरबिन से भी इसी आशय का लिखा हुआ एक पत्र है। गुरुकुल के सम्बन्ध में आप सदा ही चिन्तित रहते

थे। इंगलैंड से आप ने एक पत्र में लिखा था—"श्रीयुत गोखले से मिलकर मुझको बडी चिन्ता हुई। उनको भय है कि गुरुकुल पर पुलिस की नज़र है और वहाँ तलाशी आदि होने की सम्भावना है। सर वेलेण्टाइन शिरोल ने भी इस ओर सकेत किया है। मैंने उससे कुछ विस्तार में जानना चाहा। पर, वह चुप साध गया। परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना है कि आप पर कोई आपत्ति न आये और पुलिस आप के जीवन तथा कार्य को संकटमय न बना सके।" गुरुकुल के प्रति आपका प्रेम इतना अधिक था कि आप अपने साथी मि. पियर्सन के साथ महीनो गुरुकुल आ कर रहते थे। गुरुकुल को आप दोनो ने अपना घर बना लिया था। मि. एण्डरूज के सौ से अधिक पत्रो मे से ऊपर केवल तीन पत्रों की कुछ पंक्तियाँ दी गई है। इनसे स्पष्ट है कि दीनबन्धु एण्डरूज़ महात्मा जी को अपना पथप्रदर्शक मानते थे।

कलकत्ता के विशप-कालेज के पादरी अध्यापक मि. आर. जी. मिलबर्न मि. पियर्सन की प्रेरणा से हिन्दी सीखने की इच्छा से सन् 1914 के फरवरी मास में गुरुकुल पधारे थे। आने से पहले आप ने महात्मा जी से गुरुकुल आने की आज्ञा माँगते हुए लिखा था—"मैं पादरी-अध्यापक हूँ। शायद आप गुरुकुल मे एक ईसाई पादरी का रहना पसन्द न करें। यदि आप मुझ से यह प्रतिज्ञा चाहें कि मैं वहाँ आकर ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में किसी के साथ कोई बात नहीं करूँगा, तो मै वैसी प्रतिज्ञा करने को भी तैयार हूँ। मैं आपको वचन देता हूँ कि यदि कभी कोई बालक मुझ से ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में कुछ पूछेगा, तो भी मैं ईसाई-धर्म के सम्बन्ध मे चुप रहूँगा। मैं भारत की भाषा और भारत के धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिये ही गुरुकुल आना चाहता हूँ।" महात्मा जी ने लिखा—"आप जब चाहे आ सकते हैं। यहाँ आते हुए एक ही प्रतिज्ञा करनी होगी। वह यह कि यहाँ रहते हुए मासाहार नहीं करना होगा। ईसाई-धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में आप यहाँ आकर देखेंगे कि उदारता का दावा करने वालों की अपेक्षा हम लोग कही अधिक उदार हैं।" मि. मिलबर्न गुरुकुल आये। महीमाभर वहाँ रहे। हिन्दी सीख गये और साथ में भारत के धार्मिक जीवन का इतना प्रभाव ले गये कि कलकत्ता जाकर 'पादरीपन' को तिलाजलि दे दी।

इसी प्रकार मद्रास के संस्कृत के माने हुए विद्वान श्रीयुत् कृष्णमाचार्य सरस्वती-सम्मेलन के सभापति हो कर इस शर्त पर आये कि उनका अपना रसोइया साथ मे आयेगा और वे सब से अलग बन्द कमरे में अपना भोजन किया करेंगे। चार-पाँच दिन वैसा क्रम चला। पर जाने के एक दिन पहिले महाविद्यालय-भण्डार

में उन्होंने ब्रह्मचारियों और महात्मा जी के साथ एक पंक्ति मे बैठ कर भोजन किया। महात्मा जी के व्यक्तित्व और गुरुकुल के वातावरण में कुछ ऐसा ही प्रभाव था कि जो वहाँ आया, कुछ न कुछ उसके रंग में रंग कर ही गया। जिस संस्था में शाम को मेहतर तक रामायण का पाठ करते हों, ऊँची श्रेणियों के ब्रह्मचारी धोबियों तथा मेहतरों के बालकों को भी सुशिक्षित करना अपना कर्तव्य समझते हों, और जिस संस्था द्वारा चारों ओर दूर-दूर तक गाँव-गाँव में प्रारम्भिक विद्यालय खोल कर शिक्षा का प्रसार किया जाता हो, उसके वातावरण में ऐसा जादू का-सा असर होना कोई बड़ी बात नहीं है।

ऐसी सफल-संस्था की विशेषताओं पर भी थोड़ा प्रकाश इसलिये डालना आवश्यक है कि उसकी सफलता का रहस्य पाठकों को मालूम हो जाय और चरित्रनायक के जीवन के सर्वोत्तम और महान् कार्य के साथ उनका पूरा परिचय हो जाय। इन विशेषताओं की व्याख्या यहाँ इसलिये नहीं की जायगी कि पिछले पृष्ठों में यत्र-तत्र उनका उल्लेख किये बिना भी उनकी व्याख्या हो गई है।

सन् 1920 में महात्मा गांधी द्वारा असहयोग-आन्दोलन शुरू किये जाने पर जिस स्वतन्त्र-शिक्षा-प्रणाली के लिये देश पागल हो उठा था, गुरुकुल उसका जीवित चित्र है। गुरुकुल अपने जन्मकाल से स्वतन्त्र रूप में अपना काम करता आ रहा है। न उसको सरकार की किसी प्रकार की कोई सहायता प्राप्त है और न किसी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ उसका किसी प्रकार का कुछ सम्बन्ध है। यही गुरुकुल की सबसे बड़ी और पहली विशेषता है। प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम-पद्धति तथा गुरु-शिष्य-सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना दूसरी विशेषता है। जिस श्रद्धा, विश्वास, स्वाभिमान, नैतिकता और आस्तिकभाव की दूसरी सस्थाओं द्वारा समाप्ति हो रही है, उसको फिर से प्रस्थापित करना तीसरी विशेषता है। भारतीय सभ्यता के मूलमन्त्र सादा जीवन तथा उच्च विचार को जीवन का एक हिस्सा बनाते हुए नष्टप्राय भारतीय-सस्कृति का पुनरुद्धार करना चौथी विशेषता है। मातृभाषा अथवा राष्ट्रभाषा हिन्दी द्वारा उच्च से उच्च शिक्षा देना गुरुकुल की अपनी ही विशेषता पाँचवी है। पश्चिम के विज्ञान के साथ भारत के वैदिक-संस्कृत-विज्ञान का मिश्रण करना और वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार करना छठी विशेषता है। समाजसुधार को जीवन के साथ तन्मय करते हुए रूढ़ि तथा परम्परा की जड़ काटना सातवीं ग्शिषता है। बाल-विवाह और जात-पाँत सरीखी हिन्दू-समाज मे घर की हुई कुरीतियो का गुरुकुल ने पूरी सफलता के साथ मुँह काला किया है। उच्च से उच्च जाति के बालकों के साथ नीच से नीच समझी जाने वाली जाति के बालक बिना किसी

भेदभाव के एक साथ रहते और शिक्षा प्राप्त करते हैं। समान भोजन, समान वस्त्र और समान व्यवहार गुरुकुल की आठवीं विशेषता है। धनी-निर्धन के भेद-भाव को भी गुरुकुल ने मिटा दिया है। सब से बड़ी विशेषता यह है कि आर्यसमाज द्वारा संचालित होने पर भी गुरुकुल साम्प्रदायिक-संस्था नहीं है, अपितु ऐसी आदर्श राष्ट्रीय-संस्था है, जो किसी भी राष्ट्रिय-संस्था के लिये नमूना हो सकती है। गुरुकुल के दस वर्षो का सिंहावलोकन करते हुए 'प्रचारक' में महात्मा जी ने लिखा था–"मेरा यह विश्वास है कि सब मतवादियों के झगड़ों से दूर पले हुए ये गुरुकुल-निवासी आर्य जनता के पुत्र ही सनातनी, आर्य, मुसलमान और ईसाइयों के पारस्परिक झगड़ों को मिटा कर शान्ति की स्थापना करेंगे। यदि इस पर भी किसी के मन का सन्तोष न हो, तो उसे प्रतीक्षा करनी चाहिये।" इसी उदार दृष्टि से महात्मा जी गुरुकुल का संचालन करते थे। इसीलिये गुरुकुल साम्प्रदायिक-संस्था न हो कर राष्ट्रीय-संस्था बन गया है। महात्मा गांधी ने गुरुकुल के सम्बन्ध में यह बिल्कुल ठीक कहा है कि–"आर्यसमाज के कार्य का सर्वोत्तम परिणाम गुरुकुल की स्थापना है। यह सच्चे अर्थो में राष्ट्रिय-संस्था है, जिस का शासन और प्रबन्ध सब स्वायत्त है।"

गुरुकुल का सार्वजनिक जीवन भी गुरुकुल की अपनी ही विशेषता है। पढ़ाई के साथ अध्यापकों के निरीक्षण में चलने वाली विवादात्मक-सभाओं के अलावा आश्रम में ब्रह्मचारी अपनी सभायें और पत्र-पत्रिकायें स्वतन्त्र रूप में चलाते है। सभाओं में पार्लमेंट, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कविता-सम्मेलन, काग्रेस आदि के कितने ही अधिवेशन ब्रह्मचारी स्वय करते हैं। इन जिन्होने ब्रह्मचारियों को भाषण तथा विवाद करते हुए सुना है और पत्र-पत्रिकाओ में उनके लेख पढ़े हैं, उन्होंने उनकी भाषण-शक्ति, विचार-सरणी और लेखन-शैली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उत्सव पर होने वाले सरस्वती सम्मेलनो का आयोजन ब्रह्मचारियों की सभा 'साहित्य-परिषद' की ओर से ही होता है। इस परिषद की ओर से कुछ अच्छी साहित्यिक पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं। गुरुकुल में आने वाले सम्माननीय दर्शकों का आतिथ्य-सत्कार ब्रह्मचारी पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ स्वयं ही करते हैं। इस स्वाभाविक प्रेम-पूर्ण आतिथ्य को गुरुकुल में आया हुआ व्यक्ति कभी भूल नहीं सकता। बाहिर से आये लोगों के विचारों से लाभ उठाने के लिये ब्रह्मचारी उन को चिपट जाते हैं। उन को सन्तुष्ट किये बिना उन से छुटकारा पाना सम्भव नहीं होता।

गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री शंकरदेव जी विद्यालंकार ने कितने सुन्दर

शब्दों में अपनी कुल-भूमि का चित्र अंकित किया है। वे लिखते हैं—"गुरुकुल आर्यसमाज की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। वह इस युग में भारतभूमि में सब से पहला राष्ट्रिय-ज्ञान-मन्दिर है। धर्म, राष्ट्रीयता और ब्रह्मचर्य की वह तीर्थभूमि है। आत्मिक और मानसिक शान्ति के यात्रियों का वह शान्ति-निकेतन है। सत्य और धर्म की वेदी पर आत्मार्पण करने वाले वीरों का वह सत्याग्रह-आश्रम है। शान्ति की पवित्र मन्दाकिनी वहाँ बह रही है। आत्मवीर ऋषि श्रद्धानन्द की वह तपोभूमि है।"

ऐसी विशेषताओं से सम्पन्न गुरुकुल की कल्पना को प्रत्यक्ष सचाई सिद्ध कर देना अथवा उस को विचार-कोटि से मूर्त्त रूप में लाकर परीक्षा की मंजिल से पार पहुँचा देना महात्मा मुंशीराम जी के जीवन का इतना बड़ा काम है, जो उनके सब कामों के इतिहास के पृष्ठों पर से मिट जाने पर भी नालन्दा और तक्षशिला के विश्वविद्यालयो के समान सदा याद किया जाता रहेगा।

10. गुरुकुल और महात्मा गांधी

गुरुकुल के साथ जगद्वन्द्य महात्मा गांधी का सम्बन्ध एक ऐतिहासिक घटना है। उस का उल्लेख स्वतन्त्र रूप मे ही किया जाना चाहिये। गुरुकुल के प्रति महात्मा गाधी के आकर्षण का एक इतिहास है। जंगल मे शहरी जीवन से दूर रहते हुए भी गुरुकुल के ब्रह्मचारियो मे देश के कष्टों को अनुभव करने और उन के प्रतिकार के लिये कुछ-न-कुछ त्याग करने की अद्भुत भावना घर किये हुए है। सम्वत् 1964 के दुर्भिक्ष में ब्रह्मचारियों ने अपना दूध बन्द कर के उस की बचत दुर्भिक्ष-पीड़ित भाइयो की सहायतार्थ भेजी थी। सम्वत् 1965 में दक्षिण-हैदराबाद और सम्वत् 1968 में गुजरात मे दुर्भिक्ष पड़ने पर भी ब्रह्मचारियों ने अपने त्याग का योग्य परिचय दिया था। सम्वत् 1970, ईस्वी सन् 1913-1914 में जब महात्मा गांधी ने अफ्रीका में भारतीयो के अधिकारियो के लिये सत्याग्रह का धर्मयुद्ध छेड़ा हुआ था और भारत मे स्वर्गीय गोखले उस के लिये चदा एकत्रित कर रहे थे, तब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने भोजन में कुछ कमी करके और अधिकतर हरिद्वार के दूधिया बॉध पर ठिठुरती सरदी में कठोर मजूरी करके 1500 रुपया उस धर्मयुद्ध की सहायतार्थ भेजा था। यह रुपया श्रीयुत गोखले के पास तब पहुँचा था, जब वे हताश हो कर गहरी चिन्ता में पड़े हुए थे। कहते हैं, उन्होने उस रक़म को 15 हजार से भी अधिक क़ीमती समझा था और वे प्रसन्नता मे कुर्सी पर से उछल पडे थे। श्रीयुत गोखले ने महात्मा मुंशीराम जी को ता. 27 नवम्बर सन् 1913 को देहली से एक पत्र में इस सम्बन्ध में लिखा था–"मुझे रैवरेण्ड एण्डरूज और पण्डित हरिश्चन्द्र ने बताया है कि किस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह के लिये घी-दूध छोड कर और साधारण कुलियों और मजूरों की तरह मजूरी करके रुपया इकट्ठा कर रहे हैं। दिल हिला देने वाले इस देशभक्तिपूर्ण कार्य के लिये मैं उनको क्या धन्यवाद दूँ? यह तो उनका वैसे ही अपना काम है, जैसे कि आपका और मेरा है। वे इस प्रकार भारतमाता के प्रति अपने ढग से अपने

कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। फिर भी भारतमाता की सेवा के लिये त्याग और श्रद्धा का जो आदर्श उन्होंने देश के युवकों तथा वृद्धों के सामने उपस्थित किया है, उसकी अन्तःकरण से प्रशंसा किये बिना मैं नहीं रह सकता। मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा यदि आप मेरे ये भाव किसी तरह उन तक पहुँचा देंगे।" इसी पत्र में आपने लिखा था—"आप मुझे गुरुकुल आने के लिये प्रायः कहते हैं। मुझको अत्यन्त खेद है कि मैं अब तक भी गुरुकुल नहीं आ सका। यदि अवस्था अनुकूल रही तो जनवरी, 1915 में वहाँ आऊँगा। मैं आपके प्रति आदर व्यक्त करता हुआ संस्था का सब प्रकार से अभ्युदय चाहता हूँ।" यह पत्र श्रीयुत गोखले का अपने हाथ से लिखा हुआ है। इससे गुरुकुल के प्रति आपके प्रेम का भी परिचय मिलता है। गुरुकुल न आ सकने का दुःख आपको अन्त तक बना रहा और गुरुकुलवासी भी आपके दर्शनों से वंचित रहना अपना दुर्भाग्य ही समझते थे।

ब्रह्मचारियों के त्याग की इस भावना ने गांधीजी को गुरुकुल का प्रेमी बनाया था। मि. एण्डरूज़ भी इस सत्याग्रह में गांधी जी के सहायक थे। उन्होंने भी आपके दिल में गुरुकुल के लिये प्रेम और आकर्षण पैदा किया था। 21 अक्तूबर सन् 1914 को फोनिक्स-नेटाल से गांधी जी ने मुंशीराम जी को निम्नलिखित सब से पहिला पत्र अंग्रेज़ी में लिखा था—

"प्रिय महात्माजी,

मि. एण्डरूज़ ने आपके नाम और काम का मुझको परिचय दिया है। मै अनुभव कर रहा हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा। इसलिये आशा है आप मुझे आपको 'महात्माजी' लिखने के लिये क्षमा करेंगे। मैं और मि. एण्डरूज आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिये इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। मि. एण्डरूज़ ने मुझको यह भी बताया है कि आप, गुरुदेव और मि. रुद्रा से वे किस प्रकार प्रभावान्वित हुए हैं। आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लियें जो काम किया है, उसका वर्णन भी उन्हांने मुझ से किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे मैं यह पत्र लिखते हुए अपने को गुरुकुल में ही बैठा हुआ समझता हूँ। निस्सन्देह उन्होंने मुझे उन तीनों संस्थाओं को देखने के लिये अधीर बना दिया है और मैं उन संस्थाओं के संचालकों, भारत के तीनों सपूतों, के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।

आपका—मोहनदास के. गान्धी"

गांधीजी के भारत आने से पहिले ही आपके फोनिक्स के सत्याग्रह-आश्रम के विद्यार्थी भारत आ गये थे और अहमदाबाद में आश्रम की स्थापना का अभी निश्चय नहीं हुआ था। इसलिये अपने अपने विद्यार्थियों के लिये सर्वोत्तम स्थान गुरुकुल ही नियत किया था और आपके विद्यार्थी सम्वत् 1971 में गुरुकुल आकार महीनों वहाँ रहे भी थे। सम्वत् 1972 के कुम्भ पर गांधीजी हरिद्वार आये थे और बिना किसी पूर्व सूचना के गुरुकुल भी एकाएक पधारे थे। इतने महान पुरुष मे नम्रता इतनी थी कि गुरुकुल आने पर उसने मुंशीरामजी के चरण छूकर नमस्कार किया था। इस समय गुरुकुल आने से पहिले आपने पूना से जो पत्र महात्माजी को लिखा था वह आपकी ही भाषा मे यहाँ दिया जाता है–"महात्माजी, आपका तार मुझको मीला था। उसका प्रत्युत्तर तार से भेजा था। वो आपको मीला होगा। मेरे बालकों के लीये जो परिश्रम आपने उठाया और उन्हों को जो प्यार बतलाया उस वास्ते आपका उपकार मानने को मैंने भाई एंध्डरूझ को लीखा था। लेकिन आपके चरणों में सीर झुकाने की मेरी उमेद है। इसलीये बिना आमन्त्रण आने की भी मेरी फरज समझता हूँ। मैं बोलपुर से पीछे फीरुं उस वखत आपकी सेवा में हाज़र होने की मुराद रखता हूँ।–आपका सेवक–मोहनदास गान्धी।" पत्र का एक एक शब्द नम्रता की स्याही में कलम डुबोकर लिखा गया था। उसके बाद मायापुर-वाटिका में विशेष मण्डप सजा कर गुरुकुलवासियों की ओर से 8 अप्रैल सन् 1915 को गांधीजी का विशेष अभिनन्दन किया गया था और ब्रह्मचारियों की ओर से आपको एक मान-पत्र भी अर्पित किया गया था। आज गांधीजी जिस 'महात्मा' शब्द से जगद्विख्यात हैं, उसका सर्वप्रथम प्रयोग आपके लिये गुरुकुल की ओर से दिये गये इस मान-पत्र में ही किया गया था। उसके पहले और बाद भी महात्मा गांधी को सैकडो मान-पत्र मिले होंगे, किन्तु उस मान-पत्र की मिठास और अपनापन किसी और मान-पत्र मे आपको अनुभव नही हुआ होगा। वह मान-पत्र गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के भावों को भी अभिव्यक्त करता था। उसके कुछ प्रारम्भिक शब्द ये थे–"मातृभूमि के वस्त्र फटे हुए हैं, दिन-दिन कृशता घेर रही है, शरीर कॉटों से छिदा हुआ है, रुधिर बह रहा है। ऐसे समय मे आप ही की ओर वह स्नेह और आशा से देख रही है। आप ही दूसरी जातियों में उसका मुख उज्ज्वल करने वाले हैं। आप स्वाधीनता के दिव्य मन्त्र में दीक्षित हैं। जातीयता की नौका के कर्णधार हैं। देशभक्तों के सर्वस्व हैं इस कुल के पूजनीय अतिथि हैं।" गांधी जी ने उनके उत्तर में कहा था–"मैं हरिद्वार केवल महात्मा जी के दर्शनों के लिये आया हूँ मै उनके प्रेम के लिये कृतज्ञ हूँ। मि. एण्डरूज़ ने मुझको

भारत में अवश्य मिलने योग्य जिन तीन महापुरुषों का नाम बताया था, उनमे महात्मा जी एक हैं। ब्रह्मचारियों की सहायता के लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने फ़ोनिक्स के विद्यार्थियों के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूँगा। मुझे अभिमान है कि महात्मा जी मुझको भाई कह कर पुकारते है। मैं अपने में किसी को शिक्षा देने की योग्यता नहीं समझता, किन्तु देश के किसी भी सेवक से मैं स्वयं शिक्षा लेने का अभिलाषी हूँ।" व्याख्यान का एक-एक शब्द नम्रता और कृतज्ञता के भाव में सना हुआ था। कुम्भ के बाद फोनिक्स के विद्यार्थी दुबारा फिर गुरुकुल में रहे थे और अहमदाबाद का स्थान तय हो जाने पर ही यहाँ से वहाँ गये थे। गुरुकुल के चौदहवें वार्षिकोत्सव पर 4 चैत्र सम्वत् 1972 को भी फिर गांधी जी गुरुकुल पधारे थे। उस अवसर पर आपने अपने भाषण में कहा था—"इस समय मैं महात्मा जी का बन्दा बन कर यहाँ आया हूँ। महात्मा जी मेरे बड़े भाई हैं। जब मैं विदेश में था तब मेरे लड़के यहाँ रहे थे। महात्मा जी उनके पिता और ब्रह्मचारी उनके भाई थे। अब भी मेरे लड़के मुझे महात्मा जी के पितृवत् व्यवहार और ब्रह्मचारियों में भ्रातृवत् व्यवहार के विषय में प्राय कहा करते हैं। मैंने चौदह वर्षों से देखा है कि आर्यो में स्वार्थत्याग, शिक्षा और भारत के हित का भाव है। अतएव मै इनका सत्संग करना चाहता हूँ।"

मुशीराम जी के प्रति गांधी जी का यह आकर्षण गुरुकुल के कारण था और उसका कारण था ब्रह्मचारियों का त्याग, तपस्या तथा कष्ट-सहन, जो गुरुकुल की एक महान् विशेषता है। गांधी जी को जैसे मुंशीराम जी ने 'महात्मा' बनाया, वैसे ही मुंशीराम जी को स्वामी श्रद्धानन्द होने के बाद गांधी जी 'सत्याग्रही' बना कर राजनीतिक क्षेत्र में ले आते हैं। यदि दोनों भाई अन्त तक मिले रह सकते तो देश के राजनीतिक क्षेत्र के लिये दोनों एक बड़ी शक्ति सिद्ध होते। देश का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि अन्त में दोनों अलग-अलग हो गये और देश उनकी सम्मिलित शक्ति के लाभ से वचित रह गया। स्वामी श्रद्धानन्द जी के देहली के बलिदान के बाद अनाथ गुरुकुल की जब रजत-जयन्ती मनाई गई थी, तब भी गुरुकुल पधार कर गांधी जी ने उसको सनाथ कर अनुगृहीत किया था। महात्मा गांधी सरीखे अलौकिक महापुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर लेना भी गुरुकुल के लिये गौरव की बात है और उस गौरव का सबसे अधिक श्रेय महात्मा मुंशीराम जी के उस व्यक्तित्व को है, जिसके लिये मि. मेकडानल्ड ने ठीक ही लिखा था—"एक महान् भव्य और शानदार मूर्ति, जिसको देखते ही उसके

प्रति आदर का भाव पैदा होता है, हमारे आगे हम से मिलने आती है। आधुनिक चित्रकार ईसामसीह का चित्र तैयार करने के लिये उसको अपने सामने रख सकता है और मध्यकालीन चित्रकार उसको देख कर सेण्ट पीटर का चित्र तैयार कर सकता है, यद्यपि उस मछिहारे की मूर्ति की अपेक्षा यह मूर्ति अधिक भव्य और प्रभावोत्पादक है।"

11. असिद्ध स्वप्न

गुरुकुल के स्वप्न को मूर्तरूप देकर सफलता तक पहुँचा देने पर भी महात्मा जी की महत्वाकांक्षा उसके सम्बन्ध में पूरी नहीं हो सकी। आपके स्वप्न का एक बड़ा हिस्सा अधूरा ही रह गया। गुरुकुल से अलग होते हुए आप ने उस की ओर संकेत भी किया था, किन्तु आप के बाद के अधिकारी एवं संचालक भी उस को पूरा नही कर पाये। उस के पूरा न होने का एक कारण आर्थिक कठिनाई था और दूसरा वह मतभेद, जिस का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। गुरुकुल की स्वामिनी सभा में एक अच्छा बड़ा दल गुरुकुल को केवल उपदेशक पैदा करने की फैक्टरी अथवा संस्कृत की चटशाला बनाये रखना चाहता था। इस दृष्टिभेद से पैदा होने वाला संघर्ष भी गुरुकुल की यथेष्ट उन्नति और महात्मा जी के गुरुकुल सम्बन्धी स्वप्न की पूर्ति में बाधक सिद्ध हुआ। 'भारतवासियों पर गुरुकुल के अधिकार' को बताते हुए महात्मा जी ने गुरुकुल के लिये पच्चीस लाख रुपये के स्थिरकोष की अपील की थी और उस अपील में उस स्वप्न का पूरा चित्र अंकित किया था, जो उन की आँखों के सामने सदा नाचा करता था। महाविद्यालय-विभाग को आप कहीं अलग ही रखना चाहते थे, जिसके लिये एक लाख की आवश्यकता बताई थी। कृषि-विभाग को आप अच्छे पैमाने पर चलाना चाहते थे, जिस के लिए दो लाख की आवश्यकता थी। कला-भवन के लिये दो लाख, कताई-बुनाई आदि सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये एक लाख और उसके मकानों के लिये एक लाख--सब चार लाख चाहिये था। आयुर्वेद-विभाग को सम्पूर्ण बनाने के लिये, जिस में आयुर्वेद-भवन तथा आयुर्वेद-बाटिका भी शामिल थी, साढ़े चार लाख की ज़रूरत थी। स्नातकों को विदेश भेजकर गुरुकुल में अध्यापन के लिये पूर्णतया योग्य बनाने के लिये एक लाख, सदा 80 ब्रह्मचारियों के निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकने के लिये चार लाख और विद्यालय-विभाग तथा शाखा गुरुकुलों की स्थिरता के लिये चार लाख चाहिये था। इन आवश्यकताओं का उल्लेख करने

के बाद आपने लिखा था—"इस प्रकार पच्चीस लाख रुपयों की गुरुकुल-विश्वविद्यालय-कांगड़ी को स्थिर करने के लिए आवश्यकता है। यदि इस की बुनियाद आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ हो जाय और यहाँ के कार्यकर्त्ताओं को आये दिन भीख के लिये बाहर न निकलना पड़े, तो इस संस्था से वे काम हो सकेंगे, जो कोई दूसरी संस्था एक करोड़ का स्थिर कोष जमा करके भी नहीं कर सकेगी।" युद्ध के समय दियासलाई महँगी होने पर गुरुकुल में दियासलाई बनाने का कारख़ाना खोलने का विचार भी आप ने 'प्रचारक' में प्रगट किया था।

केवल गुरुकुल कांगड़ी को ही आप इतना उन्नत, विशाल एवं स्थिर नहीं बनाना चाहते थे, किन्तु आप देश भर में उस की शाखाओं का जाल बिछा देना चाहते थे। आप ने लिखा था—"यदि मेरे पास पछत्तर लाख रुपया हो तो गुरुकुल की सौ शाखायें तत्काल खोल सकता हूँ।"

ये सब आकांक्षायें अधूरी ही रह गई, तो भी गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की सचाई इस रूप में कायम हो गई कि आर्य-समाज के अतिरिक्त सनातनी और जैनी आदियों ने भी गुरुकुल खोलने शुरू कर दिये। कोरी कल्पना का विषय लोगों के व्यवहार का विषय बन गया। इसीलिये इस मे सनदेह नहीं कि गुरुकुल के नाते महात्मा मुशीराम जी 'क्रांतिकारी शिक्षक' और 'भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के पिता' के नाम से भारत की शिक्षा के इतिहास में सदा याद किये जायेंगे।

12. गुरुकुल से जुदाई

महात्मा मुंशीराम जी आपस के संघर्ष को टालने में सदा चतुराई से काम लिया करते थे। गुरुकुल को संस्कृत की चटशाला बनाने किंवा विश्वविद्यालय बनाने का मतभेद दिन पर दिन ज़ोर पकड़ता गया। यदि महात्मा जी गुरुकुल में बने रहते तो सम्भव था कि वह मतभेद संघर्ष में परिणत हो जाता और वह गुरुकुल के लिये भी भयानक सिद्ध होता। प्रकाश-पार्टी के सर्वेसर्वा महाशय कृष्ण जी प्रतिनिधि-सभा के मन्त्री थे। सभा में तो महात्मा जी के सामने उन की कुछ चलती नहीं थी, किन्तु 'प्रकाश' में गुरुकुल एवं उसके सम्बन्ध में महात्मा जी के आदर्श की आलोचना करने का कोई अवसर उन्होंने खाली नही जाने दिया। प्रकाश-पार्टी के लोग गुरुकुल का काम भी पार्टी-लाइन पर चलाना चाहते थे और वे महात्मा जी से भी यह अपेक्षा रखते थे कि वे भी उन की पार्टी के सभासद हो कर सब कार्य उन की मन्त्रणा से ही करे। महात्मा जी को इस प्रकार की पार्टी-बन्दी पसन्द नहीं थी। गुरुकुल की स्वामिनी-सभा के मन्त्री होने से महाशय कृष्ण अपने को गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता से ऊपर का अधिकारी समझते थे। उस उच्चाधिकार का भी वह खुला प्रयोग करने लगे। गुरुकुल के उपाचार्य श्री रामदेव जी की सहानुभूति भी सभा के मन्त्री के साथ थी। महात्मा जी ने इस अवस्था को भाँप लिया और बिना संघर्ष पैदा हुए गुरुकुल से अलग होने का विचार किया। भगवान ने ठीक मार्ग भी दिखा दिया। संन्यासाश्रम मे प्रवेश करने का मार्ग स्वीकार करते हुए आपने गुरुकुल से छुट्टी लेने का निश्चय किया। 29 ज्येष्ठ सम्वत् 1972 को आपने प्रतिनिधि-सभा के उस समय के प्रधान श्री रामकृष्ण जी को लिखा—"वैदिक धर्मकी आज्ञा शिरोधार्य समझ कुछ काल से उसके पालन का विचार मेरे अन्दर उठ रहा था। अब ऋषि दयानन्द के लेखानुसार वह समय आ गया है, जब कि उस आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। मेरा दृढ़ संकल्प हो गया है कि अब मैं संन्यासाश्रम में प्रवेश करूँगा। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी सम्वत् 1972, 6

नवम्बर, 1915, के दिन मैं शिखा-सूत्रादि के बन्धनों से मुक्त हो कर पिता परमात्मा की शरण में पूर्णतया आ जाऊँगा।" इसके बाद उक्त अवधि तक गुरुकुल का उचित प्रबन्ध करने के लिये लिखा गया है। श्री रामकृष्ण जी ने अपने सरल स्वभाव के अनुसार लिखा—"आपके गुरुकुल से अलग होने पर गुरुकुल की बहुत हानि होगी। 75 वर्ष की आयु तक संन्यासाश्रम में प्रवेश न किया, तब भी कोई दोष नहीं है। आर्यसमाज और गुरुकुल दोनों की सेवा एक साथ हो सकती है। अधूरी अवस्था में गुरुकुल को छोड़ना उचित नहीं है। आशा है, आप पुनः विचार करेंगे।" कई मास तक यह पत्र-व्यवहार होता रहा। 21 आषाढ़ को महात्मा जी ने त्यागपत्र ही लिख भेजा। परन्तु प्रधान जी फिर भी आप पर गुरुकुल में रहने के लिये दबाव डालते रहे। महात्मा जी का मानसिक सन्ताप इतना बढ़ गया कि श्रावण मास में आपने प्रधान जी को लिखा—"मैंने समझ लिया कि मेरा यही भाग्य है। सहायकों के विघ्न डालते हुए भी यथाशक्ति काम करूँगा।...ऐसे सौभाग्यशाली दिन के आने से पहिले ही यदि प्राणान्त हो गया तो भी आनन्द है, क्योंकि अन्त्येष्टि-संस्कार तो कुल-पुत्रों के हाथ से हो जायगा।" सम्वत् 1972 और 1973 के दोनों वर्ष इसी पत्र-व्यवहार में निकल गये। जब परिस्थिति बहुत विकट हो गई, तब महात्मा जी ने 18 चैत्र सम्वत् 1973, 30 मार्च सन् 1917, को प्रधान जी को इस सम्बन्ध में अन्तिम पत्र लिखा। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"आपका तथा भक्तराम जी का सन्देश पहुँचा। भक्तराम की इच्छा तो स्वाभाविक है, परन्तु क्या आप सचमुच मेरे शरीर का भला चाहते हैं? यदि ऐसी इच्छा आपकी है तो जो कष्ट और कठिनाइयाँ मुझे म. कृष्ण मन्त्री, म. रामदेव उपाध्यक्ष और लाला नन्दलाल स. मुख्याधिष्ठाता की कृपा से उठानी पड़ी है, उनको भूल कर आप मेरी निवृत्ति के मार्ग में रोड़ा क्यों अटकाते हैं? मैं तो अब शरीर का नाश कर चुका। मुझे तो यही अभीष्ट था कि चुपचाप किसी एकान्त स्थान मे रह कर धर्मग्रन्थों पर विचार करता और यदि कुछ जनता की भेंट रखने योग्य अपने पास होता तो उसको उनके आगे रख देता। परन्तु मुझे अपनी निर्बलताओ का फल मिल रहा है। जिनके लिये मैंने अपयश ख़रीदा, उन्हीं के द्वारा मुझको दारुण दुःख पहुँचे। अब सिवाय जबरदस्ती छुटकारा लेने के और कौनसा मार्ग है? बेचारे भक्तराम को क्या मालूम है कि बरसों से मैं गुरुकुल मे कुछ भी काम नहीं कर सका हूँ और मेरा यहाँ बैठना निरर्थक है। मैंने, इसलिये कि मेरे मार्ग में विघ्न डालने वाले और मेरे पग-पग पर रुकावटें डालने वाले काम के अयोग्य न हो जावें, एक शब्द भी लिख कर पब्लिक नहीं किया। ऐसी अवस्था

में मेरे लिये श्रेय मार्ग वही है, जहाँ मैं विश्वासघाती और मित्रद्रोहियों की क्रियाओं को भूल कर उनके लिये भी परमात्मा से कल्याण की प्रार्थना कर सकूँ। सम्भव है कि आप अन्तिम युक्ति यह सोचें कि आप गुरुकुल के जलसे पर आवें ही नहीं। यदि आपने ऐसा भी किया, तब भी मुझे 11 अप्रैल के प्रातःकाल यहाँ से चले ही जाना है।"

पत्र इतना स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी लिखना उसको अस्पष्ट ही करना होगा। इस प्रकार महात्मा जी ने गुरुकुल के पन्द्रहवें उत्सव के बाद गुरुकुल से विदाई लेकर गुरुकुल के सम्बन्ध में संघर्ष को टाला और उन के ही कन्धों पर गुरुकुल का काम छोड़ दिया, जो आप से रुष्ट थे। अपने लिये तो आपने सम्राट से भी ऊँचा परिव्राट् का पद प्राप्त कर लिया।

(ख)

आर्यसमाज और सरकार

1. सरकारी कोप का कारण, 2. कुछ उदाहरण,
3. मुंशीराम जी का सराहनीय कार्य।

1. सरकारी कोप का कारण

"क्या हवा का रुख़ यह नहीं बतला रहा कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है; फिर यदि गवर्नमेण्ट के कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठे दोषारोपण करें तो आश्चर्य क्या है?"—ये शब्द हैं जो महात्मा मुंशीराम जी ने आर्यसमाज पर सरकारी कोप के कारणों की मीमांसा करते हुए सम्वत् 1965 में लिखे थे। वस्तुतः आर्यसमाज एक उठती हुई संगठित शक्ति था, जिस से सरकार का भयभीत होना स्वाभाविक था। पश्चिमीय देशों के राज्य के विस्तार और स्थिरता के साधनों में 'बाइबिल' का भी प्रमुख स्थान है। सन् 1857 के राजद्रोह का दमन करते हुए अंगरेज़ भारत में अपने राज का यथेष्ट विस्तार कर चुके थे। उस के बाद वे उस को स्थिर बनाने में लगे। ईसाइयों के दल के दल समूचे भारत को ईसाई बनाने के मनसूबे बॉध कर वैसे ही भारत मे आ रहे थे, जैसे कि कोई राजा अपनी सेनाओं को दूसरे देश को विजय करने के लिये भेजता है। लार्ड क्लाइव के बाद लार्ड मैकाले का भारतीयों को दोगले अगरेज बनाने का मिशन शिक्षा-विस्तार की आड़ में सन् 1835 से ही अपना काम कर रहा था। उस ने एक पत्र मे अपने पिता को ठीक ही लिखा था कि पच्चीस वर्ष बाद बंगाल में एक भी आस्तिक हिन्दू नही रहेगा। जो काम औरंगजेब की तलवार (!) से मुगलो के आठ-नौ वर्ष के शासनकाल में नही हुआ था, उस को ईसाई चौथाई शताब्दि में करने का अटूट विश्वास किये हुए थे। ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज आदि को ईसाइयत की लहर हज़म कर चुकी थी। पर, आर्यसमाज उस के लिये चीन की दीवार साबित हुआ। आर्यसमाज के साथ टकराते ही ईसाई मिशनरियो का सुख-स्वप्न टूटा और उन्होने देखा कि उनकी स्वप्न-सृष्टि की उमंगों का पूरा होना सम्भव नहीं है। चोर को जैसे अपने पैर की आहट से भय लगता है, वैसे ही ईसाई आर्यसमाज से घबरा उठे और उनके भरोसे भारत में अपने साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुँचाने की आशा लगाये हुए अंगरेज़ भी व्याकुल

हो गये। ऐंग्लो-इण्डियनों और ईसाई मिशनरियों को आर्यसमाज के हर एक काम में राजद्रोह दीखने लगा। सिखों और मुसलमानों की भरती को भी आर्यसमाज के प्रचार से चोट लगी। उन के चरागाह के द्वार बन्द हो गये। इस पर उन्होने भी आर्यसमाज के विरुद्ध ईसाई पादरियों के हाथ मे हाथ मिलाया। श्राद्ध, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि का खण्डन करने से पोंगापन्थी हिन्दू भी आर्यसमाज से नाराज हो विरोधी-दल के साथ जा शामिल हुए। वीर अभिमन्यु का वध करने के लिये कौरव-दल के सभी महारथियों ने कमर कस ली। ईस्वी सन् 1883 से ही ईसाई पादरियों ने आर्यसमाज को राजनीतिक सस्था कहना शुरू कर दिया था। मुंशीराम जी ने इस सम्बन्ध मे लिखा था–"आर्यसमाज के पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियो के दिलों में डाला था। ग़रीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी पर पटकनी मिलने लगीं, तब वे ओछी करतूतो पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियो को विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्नमेण्ट को है।" इस सन्देह के लिए ऋषि दयानन्द के लेखो में काफ़ी गुंजायश भी थी। भले ही आर्यसमाज उस समय की कांग्रेस की नीति से सहमत नहीं था और चाहे इस समय की नीति से भी सहमत न हो; भले ही उस समय उस के नेताओ ने आर्यसमाज को संन्यासी, धर्मोपदेशक, सुधारक एवं सार्वभौम धार्मिक-सस्था सिद्ध करने का यत्न किया था और चाहे अब भी वैसा ही यत्न क्यो न किया जाता हो; पर इस से इनकार नहीं किया जा सकता कि आर्यसमाज की अपीलों में धर्म के साथ-साथ देश का नाम भी बराबर लिया जाता था और अब भी लिया जाता है; ऋषि दयानन्द के मिशन का लक्ष्य सब संसार को वैदिक धर्म की शरण मे लाना क्यों न रहा हो, पर देश की दुर्दशा, दरिद्रता एव पराधीनता का दर्द उन के लिये असह्य था। अपने देश के लिये स्वराज्य, साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्य की महत्वाकाक्षा पैदा करने वाले इस युग में वे पहले व्यक्ति है; ब्रह्मचर्य, वेद एव धर्म ही क्यों न उस एकता का आधार हो, किन्तु देश मे एकता स्थापित कर उस को अपना देशीय राज्य भोगते हुए देखने के लिये वे तरसते थे और अब भी उनके लेख राजनीतिक दृष्टि से भी मुरदा दिल में जान फूँकने वाले हैं। ऋषि दयानन्द का धर्म देश-प्रेम, देशभक्ति और मातृ-पूजा के भावों से रहित नही था, अपितु मनुष्य के देह में रुधिर के समान उन से पूरी तरह ओत-प्रोत था। भारतीय-संस्कृति के गौरव को देशवासियों में पैदा करते हुए उन में स्वदेशाभिमान

की स्फूर्ति पैदा करने वाला आर्यसमाज नही तो और कौन है? बाइबिल द्वारा भारत मे अपने साम्राज्य को सदा के लिये स्थिर करने वालों के सुख-स्वप्न को आर्यसमाज के भंग नहीं किया तो किस ने किया है? आर्यसमाज के नेताओ को गृह-कलह से जैसे ही छुट्टी मिली, वैसे ही वे वेद-प्रचार तथा गुरुकुल आदि के विधायक-कार्यक्रम में लग गये और सरकारी लोगों के मनों में सन्देह के बादल और भी अधिक मॅडराने लगे। उन को आर्यसमाज के हरएक काम मे राजद्रोह, विप्लव और राज्यक्रांति दीखने लगी। बंग-भंग के आस-पास के दिनों में देश में जब दमन का दौर-दौरा शुरू हुआ, तब हिन्दुओ, सिखों और मुसलमानों ने आर्यसमाज को बलिदान का बकरा बना कर अपने को बचाने के लिये जो हरकतें कीं, उन से ऐसा मालूम होता है, मानो आर्यसमाज के विरुद्ध देश में कोई षड्यन्त्र ही रचा गया था और उस में सरकार के बड़े से बड़े अधिकारी भी शामिल थे।

गुरुकुल के प्रकरण मे गुरुकुल के प्रति किये गये सन्देह का वर्णन किया जा चुका है। आर्यसमाज के प्रति किये गये सन्देह की कहानी भी उतनी ही मनोरजक है और साथ ही निराधार भी। आत्माराम सनातनी बहुत गन्दी और अश्लील भाषा में आर्यसमाज के विरुद्ध प्रचार किया करता था। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के लिये वह गन्दी से गन्दी और अश्लील से अश्लील भाषा काम में लाया करता था। इस गदगी के लिये उसके विरुद्ध सकरार की ओर से सन् 1902 मे इलाहाबाद में और सन् 1905 में कराची मे मुकदमा चलाया गया। इलाहाबाद मे उस ने आर्यो को राजद्रोही और 'सत्यार्थप्रकाश' को राजद्रोह के लिये उकसाने वाला बताते हुए अपना बचाव पेश किया। करॉची में उसने यह चाल चली कि 'सत्यार्थप्रकाश' को फ़ोश एवं राजद्रोही बता कर वहॉ के आर्यसमाज की तलाशी करवा दी और मन्त्री पर मुक़दमा दायर करवा दिया। दोनो जगह उस की दाल नहीं गली, किन्तु आर्यसमाज के प्रति पैदा हुए सन्देह की उसकी ऐसी हरकतों से पुष्टि अवश्य हुई। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा की इंग्लैड और फ्रान्स की राजनीतिक हलचलों को भी आर्यसमाज के माथे मढ़ा गया। लाला लाजपतराय जी का देशनिकाला सन्देह के लिये सब से प्रबल प्रमाण माना गया। सरदार अजीतसिह का आर्यसमाज के साथ कुछ भी सम्बन्ध न होते हुए भी उस को आर्यसमाजी बताया गया। भाई परमानन्द जी के यहॉ तलाशी होने के बाद तो आर्यसमाज के विप्लवी होने में कोई सन्देह ही बाक़ी न रहा। वैलेण्टाइन शिरोल की लम्बी नाक को ऋषि दयानन्द के गोवध बन्द कराने के यत्नो तक में ब्रिटिश-विरोधी-भावना की गन्ध आती थी। सन् 1907 में रावलपिंडी के दगे में पकड़े गए आर्यो के निरपराध छूट जाने

के बाद भी शिरोल ने लिखा था—"पजाब और संयुक्त प्रांत के राजद्रोही आंदोलन में आर्यो ने प्रमुख हिस्सा लिया है। रावलपिंडी के सन् 1907 के दंगों में आर्य प्रमुख नेता थे और पिछले दो वर्षो के उस भयानक आंदोलन में, जिस के परिणामस्वरूप वास्तव में उपद्रव हुए, लाला लाजपतराय और अजीतसिंह दोनों आर्यसमाजी है।" अन्त में उस ने यहाँ तक लिखा था—"जहाँ-जहाँ आर्यसमाज का ज़ोर है, वहाँ-वहाँ राजद्रोह प्रबल है। आर्यसमाज का विकास हठात् सिख-सम्प्रदाय की याद दिलाता है, जो सोलहवीं शताब्दि के आरम्भ में नानक द्वारा प्रारम्भ किये जाने पर धार्मिक एवं नैतिक सुधार का आंदोलन था और पचास ही वर्षो में हरगोविंद की अधीनता में वह एक शक्तिशाली राजनीतिक और सैनिक संगठन बन गया।" इस प्रकार पूरे व्यवस्थित तौर पर आर्यसमाज को राजनीतिक संस्था सिद्ध करने का यत्न किया गया। दयानन्द-कालेज-लाहौर में बंगाली प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति का और एकांत जंगल में गुरुकुल खोलने का भी यही अर्थ लगाया गया।

2. कुछ उदाहरण

सिख रेजिमेण्ट का क्लर्क गुलाबचन्द आर्यसमाजी होने से ही नौकरी से अलग किया गया था। उस के नौकरी के प्रमाण-पत्र में भी यह स्पष्ट लिखा गया था कि आर्यसमाजी होना ही उस का सब से बड़ा अपराध है। करनाल ज़िले के एक जेलदार की डायरी पर ऊपर के किसी अधिकारी द्वारा यह नोट चढ़ाया गया था कि "जेलदार तो बहुत अच्छा है, किन्तु आर्यसमाजी है। इसलिये उस पर निगरानी रखनी चाहिये।" छावनियो में यह आर्डर निकाला गया था कि किसी भी आर्य को छावनी में न आने दिया जाय, जिस से सेनाओं की राजभक्ति में ख़लल न पैदा हो। झांसी में आर्यसमाज के मार्गोपदेशक दौलतराम पर आवारागर्दी की धारा 109 मे मुक़दमा चलाकर उस को सज़ा भी इसलिये दे दी गई थी कि आर्यसमाज के अधिवेशन में उस के व्याख्यान में सेना के कुछ सिपाही पहुँच गये थे। उस के धर्मोपदेश को भी राजद्रोही भाषण बताया गया था। पंजाब के एक ब्रिगेड के कमाडिंग अफ़सर ने आर्यसमाज अथवा किसी भी राजनीतिक संस्था में शामिल न होने का हुक्म जारी किया था। एक सेना के एक फ़र्स्ट-क्लास-हास्पिटल-असिस्टेन्ट को उस के अफ़सर ने आर्यसमाज से अलग होने के लिये कहा ही नहीं, अपितु स्वय उस को त्याग-पत्र भी लिख कर दे दिया। उस की ओर से सरकार की धर्म के सम्बन्ध में निरपेक्ष नीति की दुहाई भी दी गई, किन्तु अन्त में उस ग़रीब आर्यसमाजी को नौकरी से अलग ही होना पडा। रोहतक में एक बार डुगडुगी पिटवाई गई कि जिस किसी के पास आर्यसमाज की कोई भी पुस्तक मिलेगी वह ज़ब्त कर ली जायगी। मुलतान छावनी के समाज के मन्त्री की ओर से कमेटी के मन्त्री को आर्यसमाज के धार्मिक-संस्था होने से टैक्स माफ़ करने को लिखा गया। कमेटी के मन्त्री साहब-बहादुर थे। उन्होने उत्तर में लिख दिया—"आर्यसमाज पूर्णतः धार्मिक संस्था नही है। इसलिये चर्च, चैपल, मन्दिर या मसजिद के समान उसका टैक्स माफ़ नहीं किया जा सकता। इन्दौर की स्टेट-पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल

के आफ़िस के हैड-एकाउण्टेण्ट श्री लक्ष्मणराव शर्मा को स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान-पद से अलग न होने के कारण अपनी नौकरी से त्याग-पत्र देने के लिये विवश किया गया। जोधपुर में वायसराय के आने पर इसलिये समाज-मन्दिर पर से साइन-बोर्ड और 'ओउम्' का झण्डा जबरन उतार दिया गया कि समाज का स्थान वायसराय की सवारी के रास्ते में पडता था। सेना में से कुछ जाटों को संयुक्त-प्रान्तीय-जाट-सभा के विरोध करने पर भी केवल इसलिये अलग कर दिया गया कि उन्होंने आर्यसमाज से अलग होना स्वीकार नहीं किया। डिपुटी-कमिश्नर गॉवों मे जाकर आर्यसमाजियों को तंग करने के लिये लोगों को उकसाते थे। यदि कोई मुसलमान या सिख भी कभी स्वाभिमान की कोई बात किसी अफ़सर से कह बैठता था, तो उसको आर्य-मुसलमान या आर्य-सिख कह कर उसका मुँह बन्द किया जाता था। साम्प्रदायिक लोग भी ऐसे व्यक्तियों को 'आर्य' कह कर उसके जात-बाहर करने का फ़तवा दे डालते थे। कोमागातामारू-जहाज़ के वीर नेता बाबा गुरुदत्तसिंहजी को तब भी आर्य ठहरा दिया गया था, जब कि उन्होंने अपने जहाज़ का नाम 'गुरु-नानक जहाज' और कम्पनी का नाम 'गुरु-नानक-स्टीम-नेविगेशन-कम्पनी' रखा था।

पटियाला की घटना आर्यसमाज के प्रति सरकार के रुख को प्रगट करने वाली सब से अधिक ओछी और बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। सन् 1909 के सितम्बर मास मे पटियाला में वहॉ के सभी आर्यसमाजियों के घरों पर पुलिस ने एकाएक छापा मार कर उनके सब कागज़ पत्र और पुस्तके जब्त कर लीं। उनको गिरफ्तार करके पुलिस की हाजत में, एक कैम्प बना कर, डाल दिया गया और समाज-मन्दिर पर ताला लगा कर पुलिस का पहरा बिठा दिया गया था। धारा 124 अ, 153 अ और 121 अ के अनुसार उन पर मुक़दमा चलाने के लिये स्पेशल ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की गई थी। रियासत के पी. डब्ल्यू डी. के इंजिनियर, एकाउण्टेण्ट और स्कूलों के हैडमास्टर तथा अध्यापक एव साधारण से साधारण आर्यसमाजियो को भी उसमें फॅसाया गया था। रियासत की पुलिस का इन्स्पेक्टर-जनरल मि बारबर्टन मुक़दमे का इनचार्ज था। उसकी ओर से रियासत के सुपरिंटेण्डिग-इन्जीनियर रायबहादुर (सर) गंगाराम सी. आई. ई., लाहौर की विधवा-विवाह सहायक-सभा एवं सर गंगाराम ट्रस्ट के संस्थापक, सरीखे उच्च पदाधिकारियो की गिरफ़्तारी के लिये भी आग्रह किया गया था। लाहौर के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर मि. ग्रे पटियाला की ओर से मुक़दमे की पैरवी के लिए नियुक्त किये गये थे। मि. नार्टन के दक्षिणेश्वर-बाम्ब-केस के समान ही मि. ग्रे ने मुक़दमे के लिये तैयारी की थी।

आर्यसमाज को राजद्रोही-संस्था साबित करने के लिये उसने चोटी से एड़ी तक का पसीना एक कर दिया था। जमानत का प्रश्न आने पर अवस्था का इतना सकटापन्न चित्र खींचा गया और एक-एक आर्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही गई, जैसे कि सरकार का तख्ता एकदम ही उलटने को था। महाराजा को सब क़ानूनों का क़ानून बता कर न किसी क़ानून की परवाह की जाती थी और न ट्रिब्यूनल का ही कोई हुक्म माना जाता था। पूरी मनमानी से काम लिया गया और आर्यसमाज को राजद्रोही-संस्था सिद्ध करने के लिये कोई भी बात उठा न रखी गई। महीनों मुक़दमे का नाटक होने के बाद आर्यसमाजियो को रियासत छोडने का हुक्म देकर मुक़दमा उठा लिया गया।

पटियाला-राज्य में मुक़दमा चलाने का नाटक तो रचा गया था, दूसरे स्थानों पर बिना मुक़दमा चलाये ही आर्यसमाज के रजिस्टरों में से आर्यसमाजियों के नाम ले कर पुलिस की दस नम्बर की लिस्ट तैयार की जाती थी। उस के उपदेशकों और नेताओ के आगे-पीछे पुलिस के खुफ़िया सिपाही चक्कर काटा करते थे। आर्यसमाज के अधिवेशनों पर निगरानी रखी जाती थी। उस के हरएक काम की गहरी छान-बीन की जाती थी। महात्मा मुंशीराम जी के शब्दो मे आर्यसमाजी 'आउट-ला' थे, जिन पर कोई भी बिना संकोच और भय के निशाना साध सकता था। राजदण्ड की सब व्यवस्था आर्यसमाजियों के लिये थी। उन पर निशाना साधने वालो को पूरा अभयदान मिला हुआ था। यह समय वस्तुतः आर्यसमाज के लिये सकट का समय था, जब कि आर्यसमाजियों मे चारों ओर त्रास फैला हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि महारानी विक्टोरिया की धार्मिक निरपेक्षता की नीति की घोषणा आर्यसमाज के लिये नहीं की गई थी।

3. मुंशीराम जी का सराहनीय कार्य

ईस्वी सन् 1900 से 1912 तक के बारह वर्ष आर्यसमाज के लिये संकट के वर्ष थे। समाज या संस्था पर ऐसा संकट उपस्थित होने पर ही उस के नेता या संचालक की परीक्षा होती है। आर्यसमाज के अधिकांश नेताओं ने इस संकट में वैसी बहादुरी का परिचय नहीं दिया, जैसा देना चाहिये था। व्याख्यानों एवं लेखों में रोमन-राज्य में प्रोटस्टेण्ट ईसाइयों की संकटापन्न अवस्था के साथ आर्य अपनी इस अवस्था की तुलना करते थे, किन्तु आर्यसमाजियों में उन के-से त्याग, बलिदान एवं सत्साहस की घटनायें ढूंढ़ने पर कठिनाई से कहीं दो चार ही मिलेंगी; उलटे दब्बूपन, कमज़ोरी और कायरता की घटनायें यथेष्ट मिलती हैं। ऋषि दयानन्द के इतने स्पष्ट लेखो के बाद भी बार-बार और निरन्तर यह सिद्ध करने की चेष्टा करना कि आर्यसमाज राजनीतिक संस्था नहीं है, उस का राजनीति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और वह केवल धर्मोपदेशक संस्था है, सबसे बड़ी कमज़ोरी थी। आर्यसमाज का इससे ऐसा नैतिक पतन हुआ, जिससे वह अबतक भी सँभल नहीं सका। आर्यसमाज का सदा ही विरोध करने वाले बम्बई के 'वेंकटेश्वर-समाचार' तक ने आर्यसमाज को यह सम्मति दी थी कि "आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटों ने विचलित नहीं किया था, किन्तु पजाबी अफ़सरों के टूट पड़ने पर वह विचलित हुआ है। उसने सफ़ाई के इज़हार देने शुरू किये है कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नही है, किन्तु धार्मिक सभा है। आर्यसमाज नाहक़ में फटफटा रहा है। वह अपने सिद्धान्तों में लगा रहे। उस का पक्ष सत्य है तो उसके लिये घबराने का कोई कारण नहीं। कर नही तो डर क्या?" संयुक्त-प्रातीय-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के ता. 20 सितम्बर सन् 1907 के सरक्यूलर नं. 4 को पढकर आज भी लज्जा से सिर नीचे झुक जाता है। झांसी में मार्गोपदेशक दौलतराम के मुक़दमे की पैरवी करने के लिये आर्यसमाज मे जैसे कोई वकील ही नहीं था। झांसी-आर्यसमाज के उस समय के प्रधान वकील थे किन्तु आर्यसमाज के काम के लिये नहीं। उस के लिये

कोई ज़मानत देने वाला भी झांसी में नहीं था। महाशय विष्णुदत्त जी वकील जब अपील के लिये झांसी गये तो वहाँ के समाज के मन्त्री ने उन को लिख दिया—"मालूम हुआ है कि आप दौलतराम के मुक़दमे के मुतअल्लिक तशरीफ़ लाये हैं, इसलिये आप को समाज-मन्दिर में ठहरने की इज़ाजत नहीं है। आप किसी दूसरी जगह ठहरें।" जब सरकारी अधिकारियों द्वारा समाज के सभासदों की सूची माँगी जाने लगी, तब कितने ही आर्यसमाजियों ने सभासदी से अपने नाम कटवा लिये। लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द जी को समाज का सभासद् तक मानने में संकोच किया जाता था। लाला जी के मांडले से वापिस आने पर अनारकली-समाज को अपने समजा-मन्दिर में उनका व्याख्यान कराने का एकाएक साहस नहीं हुआ। ऋषि दयानन्द के स्पष्ट लेखों का विपर्यास केवल सरकारी लोगों को प्रसन्न करने के लिये किया जाने लगा। सरकारी आज्ञा के विरुद्ध समाज के साप्ताहिक अधिवेशन नहीं हो सकते थे। देश-भक्त दयानन्द को राजभक्त बताने की कोशिशे की गई। ऐसे संकटापन्न, त्रस्त और सहज में नैतिकता से गिराने वाले समय में महात्मा मुंशीराम जी ने निस्सन्देह बड़े सत्साहस का परिचय दिया और आपने भभकती हुई आग की लपटों के साथ खेलकर दिखा दिया। 'प्रचारक' में 'क्या आर्यसमाज वेद-प्रचारिणी सभा है या पोलिटिक सोसाइटी?', 'आर्यसमाज और स्वराज्य', 'अब क्या करना चाहिये', 'आर्यसमाज और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट' इत्यादि शीर्षकों से कितने ही लेख इस सम्बन्ध में लिखे। लाला लाजपतराय को निर्दोष साबित करने के लिये आपने कमर कस ली और कितने ही लेख केवल उनके लिये ही लिखे। लाला जी को निर्दोष साबित करते हुए आपने यह भी लिखा था—"यदि एक पल के लिये कल्पना कर लें कि लाला लाजपतराय राजद्रोही है तो क्या फिर आर्यसमाज उनके कामों के लिये उत्तरदाता हो सकता है? कौन नही जानता कि बाबू विपिनचन्द्र पाल से बढ़ कर शोर मचाने वाला कोई भी एक्स्ट्रीमिस्ट नहीं है। यदि पंजाब के कर्मचारियों की दलील ठीक है तो जिस ब्राह्मसमाज के विपिन बाबू मेम्बर हैं, उसको भी आर्यसमाज की तरह दूषित ठहराना चाहिये। सय्यद हैदररज़ा से बढ़ कर गवर्नमेण्ट के विरुद्ध किसने हॉकी है? फिर सब मुसलमानों को या कम से कम देहली के मुसलमानो को बागी क्यूँ न समझा जाय? सनातनधर्म के रक्षक तिलक महाराज से बढ़ कर एक्स्ट्रीमिस्ट कौन है, जिनके सब चेले कहे जाते है। फिर क्यूँ नहीं सारे हिन्दूसमाज को अत्याचारी समझा जाता? इसका कारण स्पष्ट है।" आर्यसमाजियों की उस समय की स्थिति के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"यह बात छिपी हुई नहीं है कि पंजाब के सब

डिपुटी कमिश्नरों ने अपने अधीन तथा पराधीन सब कर्मचारियों को समझा दिया है कि यदि वे आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होंगे, तो उनको अपनी आजीविका से हाथ धोना होगा।...राजपुरुषों ने एक ओर नौकरी को रख कर स्पष्ट कह दिया है कि यदि टकों से हाथ न धोना हो तो आर्यसमाज को छोड दो।" ऐसी स्थिति में आर्यसमाजियों से आपने कहा था—"यदि तुम से यह कहा जाय कि अपने परमात्मा और उसकी पवित्र वाणी वेद से विमुख हो कर ही प्रजा-धर्म का पालन हो सकता है, तो तुम स्पष्ट उत्तर दो कि जिस आत्मा पर संसार के चक्रवर्ती राजा का भी अधिकार नहीं हो सकता, उसको सांसारिक ऐश्वर्य पर न्यौछावर करने के लिये तुम उद्यत नहीं हो।" "आर्य पुरुषो! क्या तुमको परमात्मा पर सच्चा विश्वास है? यदि है तो फिर दो हाथ वालों की ख़ातिर सहस्रबाहु का क्यो अनादर करते हो? दो भुजा वाला जिस रोज़ी को छीन सकता है, क्या सहस्रबाहु उस से बढ़ कर रोज़ी तुमको नहीं दे सकते?" "संसार का सुख क्षणिक है, धर्म सदा रहने वाला है। इस लिये संसार को धर्म पर न्यौछावर करना ही आर्यत्व है।" "जो सरकारी नौकर वैदिक-धर्म के गौरव को नहीं समझते, उनको अपनी निर्बलता मान कर आर्यसमाज से जुदा हो जाना चाहिये। जहॉ वेद और 'इण्डियन पीनल कोड' का विरोध हो वहाँ श्रुति को धर्म का मूल मानना तथा जहॉ परमात्मा की आज्ञा का सांसारिक राजा की आज्ञा से विरोध हो वहॉ पर परमात्मा की शरण लेना यदि अभीष्ट न हो तो फिर आर्यसमाज में रह कर भी क्या लाभ होगा?" सम्वत् 1964 के आषाढ़ मास के 'प्रचारक' मे आपने लिखा था—"मुझ से पूछा जाता है—अब हम क्या करें? ज़िलों के हाकिम हमें तंग कर रहे हैं, आर्यसमाज के साप्ताहिक जलसों में सम्मिलित होने से भी सरकारी नौकरों को जबरदस्ती रोका जाता है, कायर पुरुषों ने इस डर से कई स्थानों मे आर्यसमाज की सभा-सदी से त्यागपत्र दे दिये है, वैदिक-धर्म का प्रचार सर्वथा बन्द होता दीखता है, इसका इलाज क्या करें?" मेरे पास उत्तर एक ही है कि कायरो का वैदिक धर्म की सेवा के लिये उद्यत होने का क्या काम है?" इस प्रकार आर्यो में शक्ति का संचार करते हुए आपने अपने सम्बन्ध में घोषणा की थी—"दूसरों की मैं नहीं जानता किन्तु अपने विषय में निश्चय कर लिया है कि जिस दिन राजकर्मचारियो के आक्रमणो के कारण वैदिक धर्म का पालन स्वतन्त्र देशों की सरताज ब्रिटिश गवर्नमेण्ट मे राज्य में कठिन हो जायगा, उसी दिन इस भूमि को त्याग कर किसी ऐसी गवर्नमेण्ट की शरण लूँगा, जहॉ मुझे अपने परमात्मा की भक्ति अपने विश्वास के अनुसार करने की आज्ञा हो और मैं अपनी तथा अपने साथियों की शारीरिक,

मानसिक तथा आत्मिक उन्नति अपने सच्चे विश्वास के अनुसार कर सकता।" दूसरे वर्ष फिर आप ने लिखा था—"गत वर्ष मैने एक बार यह विचार प्रगट किया था कि यदि अपने धर्म पर चलना भारतवर्ष में वैदिक धर्मियों के लिये कठिन हो जावे, तो उनको किसी अन्य राज्य शासन का आश्रय लेना चाहिये, किन्तु आज मेरी सम्मति सर्वथा बदल गई है। मेरी सम्मति में दुःख-सुख सब इसी स्थान पर सहन करने चाहिये। इसी जन्मभूमि के लिये कष्ट सहना, इसी की सेवा में सारा पुरुषार्थ लगाना और इसी पर सर्वस्व न्यौछावर करना यदि एक एक भारतवासी अपना धर्म समझ ले तो परमात्मा की भी उन पर असीम कृपा हो जाय। किन्तु यहॉ यही तो कमी है।...हा! धर्म के सच्चे प्रचारक कहॉ हैं? सचाई की वेदी पर विश्वास से सिर रखने वाले कहॉ दिखाई देते हैं? क्या आर्यावर्त की पवित्र भूमि धर्मवीरों से शून्य ही हो गई है?" सरकार को भी आर्यसमाजियों को राजद्रोही न बनाने की चुनौती देते हुए आपने लिखा था—"उस राजनीति पर मुझे शोक होता है, जो करोडो बे-जान ख़ुशामदियों की खातिर सैकड़ों जानदार राजभक्तों को राजविद्रोह की ओर धक्का देना अपना कर्तव्य समझती है। जहॉ आर्यसमाज में दस-बीस ही ऐसे दृढ आर्य हैं, जो गवर्नमेण्ट के अन्तिम न्याय और उसके कुछ कर्मचारियो की अधमता में भेद कर सकते हैं, वहॉ हज़ारों वैसे ही साधारण पुरुष हैं जो सच्चे राजभक्त बनने के लिये सच्ची प्रजाभक्ति के दृश्य की प्रतीक्षा रखते है।" "परमात्मा ने एक तृण को भी व्यर्थ नहीं बनाया और एक चिउंटी भी अपने अन्दर चेतन शक्ति रखने के कारण निन्दनीय नही। फिर क्यो आर्यसमाज के प्रत्येक निवेदन का निरादर किया जाता है? आर्यसमाजी सहन करना जानते है और इससे भी बढ़ कर अत्याचारों को सहन करेंगे, किन्तु राज्य प्रबन्ध को निर्विघ्न चलाने के लिये आवश्यक है कि लार्ड मिंटो एक बार आर्यसमाज के अग्रणियों को बुला कर उनसे खुली बातचीत करे। तब उनको पता लगेग कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का शत्रु कौन है और किस प्रकार उससे गवर्नमेण्ट की रक्षा हो सकती है?" जोधपुर के समाज के मन्त्री को जब साइन बोर्ड और 'ओउम्' का झण्डा उतारने के लिये कहा गया था, तब आपने उसको सलाह दी थी कि उस आज्ञा का पालन न किया जाय और यदि पुलिस पाशविक शक्ति का प्रदर्शन करती हुई वैसा करे तो उसका प्रतिकार भी न किया जाय। दौलतराम के मुक़दमे के सम्बन्ध मे आपने न केवल झासी-आर्यसमाज को ही फटकारा था, किन्तु सयुक्तप्रान्तीय-आर्य-प्रतिनिधि-सभा को भी ऐसी फटकार बताई थी कि अन्त में प्रतिनिधि-सभा को उस मामले को अपने हाथ मे लेना पड़ा था। सीमा प्रान्त के

एबटाबाद के समाज के प्रधान धनीराम जी के अदालत में निर्दोष साबित हो जाने पर भी उनको एक वर्ष के लिये सीमा प्रान्त से निर्वासित किये जाने के मामले को आपने प्रचण्ड आन्दोलन का विषय बना दिया था। आर्यसमाजियों की लिस्ट मॉगने के सम्बन्ध मे आपने सलाह दी थी–"वही पुलिस और तहसील वाले जो अपनी रिश्वतखोरी और स्याहकारी के कारण स्पष्टवक्ता आर्यसमाजियों से कॉपा करते थे, आज जगह-जगह पर उनको धमकाने की चेष्टा करते हैं। जब और बस नहीं चलता तो सभासदों की सूची मागने लगते हैं। मेरी सम्मति में आर्यसमाज के किसी मन्त्री को भी सभासदों की सूची नहीं देनी चाहिये।" करॉची-केस के समय आपकी ही प्रेरणा से प्रतिनिधि-सभा ने एक डिफ़ेंस-फण्ड की स्थापना की थी। सरकार से मिलने के लिये डेपूटेशन ले जाने की बात का आपने तीव्र विरोध किया था और कहा था कि बिना बुलाये डेपूटेशन ले जाने की कोई जरूरत नहीं। सरकार को बार-बार ललकारा कि आर्यसमाज के विरुद्ध जो अभियोग हैं, उनकी खुली जॉच की जाय।

पटियाला के मुकदमे के सम्बन्ध में की गई आपकी सेवा समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। गिरे हुए स्वास्थ्य में भी आप पटियाला पहुँचे, लाहौर गये, आर्यसमाजियों को पटियाला के आर्य भाइयो के प्रति कर्तव्य-पालन के लिये सचेत किया। आदि से अन्त तक श्री रोशनलाल जी के साथ मुक़दमे में उपस्थित रहे। पैरवी का बहुत-सा काम भी स्वय किया और डिफ़ेंस-फण्ड के लिये आवश्यक चन्दा भी जमा किया। लाहौर के राष्ट्रवादी वकीलों और कौमी हमदर्दी का दावा करने वाले कालेज पार्टी के महारथियो के इनकार करने पर भी आपने हिम्मत नहीं हारी। इस सम्बन्ध में आपने लिखा था–"लाहौर के प्रमुख वकील सर प्रतुलचन्द्र चैटर्जी को 500 रु. प्रति दिन देने का वचन देकर मैने उनको पटियाला का मुकदमा आर्यसमाज की ओर से लड़ने के लिये कहा। पर, लेडी चैटर्जी ने उनको वह मुकदमा हाथ में नहीं लेने दिया। कुछ प्रमुख आर्यसमाजी वकीलों से भी प्रार्थना की गई। पर, उन्होने भी बहानेबाजी करके टाल दिया। बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की मार्फ़त सर ए. चौधरी से प्रार्थना की गई। वे सिर्फ पॉच दिन देने को तैयार हुए और आने-जाने के दिन मिला कर 1250 रु प्रति दिन मागने लगे। केवल जालन्धर के राय बद्रीदास और लाहौर के लाला द्वारकादास ने हमारा साथ दिया।" इसी प्रकार दूसरी जगह लिखा था–"लाला लाजपतराय जी तो जाने को तैयार थे किन्तु उनके सम्बन्धी फॅसे हुए थे और पटियाला मे उनके विरुद्ध बड़ा पक्षपात था। मैं पहले प्रतुलचन्द्र के पास गया, उन्होंने साफ़ जवाब दे दिया। तब

मै और श्री रोशनलाल जी. रा. ब. लाला लालचन्द के पास गये। उन्होंने सोचने का समय मॉगने पर भी बाद में इनकार कर दिया। फिर मैं रा. ब. सुखदयालु जी के पास गया, उन्होंने भी अस्वीकार किया। तब राय ठाकुरदास जी मुझको साथ लेकर भक्त ईश्वरदास जी एम. ए. एडवोकेट के पास गये। उन दिनों वे प्रादेशिक-सभा के प्रधान थे। सोचने का समय मॉगने के बाद यह लिख भेजा–'राय नारायणदास एम. ए. अभी डिविजन जजी पर नियुक्त नहीं हुए। यदि मैंने पैरवी की तो शायद उनको हानि पहुँचे।' श्री भक्त जी को 500 रु. प्रति दिन की फ़ीस भी कह दी गई थी।'' कालेज़दल ने पटियाला-केस के लिये डिफ़ेंस-कमेटी बनाने में साथ देने से भी इनकार कर दिया।

पटियाला से आर्य भाइयो के निर्वासित किये जाने पर उन को पहिला आश्रय आपने गुरुकुल में दिया। स्वर्गीय नन्दलाल जी, मुरारीलाल जी और लक्ष्मणदास जी सरीखे अनथक सेवक गुरुकुल को इन निर्वासित आर्य पुरुषो में से ही मिले थे। इसके बाद पटियाला में महाशय रौनक़राम पर मुकदमा चलने पर भी आपने खूब आंदोलन किया। अपना अमूल्य समय और हजारों रुपया लगा कर आप ने 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स' नाम की जो पुस्तक श्री रामदेव जी की सहायता से तैयार की थी और उस समय 'सिविल एण्ड मिलीटरी गज़ट' में जो लेख लिखे थे, वे आप के उन दिनों के महान् यत्नो के साक्षी हैं। लाहौर-आर्यसमाज के 31वें और 32वे उत्सव पर इस सम्बन्ध में दिये गये आपके ऐतिहासिक भाषणों का भी समाज के इतिहास में सदा उल्लेख किया जाता रहेगा। रक्षा के इन साधनों के अलावा बडा और महत्त्वपूर्ण काम यह था कि आपने आर्यसमाजियों को दमन के इन दिनों मे भी विचलित नहीं होने दिया। 'प्रचारक' द्वारा आर्य पुरुषों के सन्मुख उनके कर्तव्य-कर्म और वैदिक-सिद्धांतो को रखते हुए उनसे उनके पालन के लिये सदा अपील करते रहे।

इसी सम्बन्ध में आप ने भारत-भूषण गोखले की सहायता से बहुत बड़ा काम किया था। उस समय भारत के माने हुए नेताओं में, जिनकी पहुँच सरकार के ऊँचे से ऊँचे अधिकारियो तक थी, सब से प्रमुख श्रीयुत गोखले ही थे। श्रीयुत गोखले के साथ आप ने इस सम्बन्ध में बहुत अधिक पत्र-व्यवहार किया था और उन पर ज़ोर डाला था कि वे सरकारी अधिकारियों की आर्यसमाज के सम्बन्ध की भ्रांतिपूर्ण धारणा को बदलने का यत्न करे। इसी काम के लिये आप उनसे कई बार मिले भी थे। सन् 1910 में इलाहाबाद में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसके सभापति बूढ़े अंग्रेज़ सर विलियम वैडरबर्न थे। श्रीयुत गोखले

का तार मिलने पर आप तुरन्त इलाहाबाद गये। वहाँ गोखले की उपस्थिति में आप वैडरवर्न से मिले और उनको आर्यसमाज के सम्बन्ध में सब स्थिति खोल कर समझाई। वैडरवर्न ने सब कुछ सुनकर कहा—'बस, आप मेरे साथ कलकत्ता चलिये। लार्ड हार्डिंग को आर्यसमाज के डेपुटेशन से मिलना ही पड़ेगा।' गोखले ने कहा—'अच्छा हो कि आप पहिले उनको तैयार कर लें और वे फिर आर्यसमाज के डेपुटेशन से मिलें।' वैडरवर्न को सलाह पसन्द आई। वैडरवर्न ने फिर क्या किया? इसका पता गोखले के एक पत्र से लगता है, जो उन्होंने 24 मार्च सन् 1911 को महात्मा जी को लिखा था। उसकी कुछ पंक्तियां यहाँ उद्धृत की जाती हैं। वे पंक्तियाँ ये हैं—"आर्यसमाज के बारे में सरकारी अधिकारियों को जो सन्देह है, उस पर सर विलियम वैडरवर्न की नये वायसराय के साथ बहुत-सी बाते हुई। हैं। मैं आप के मिलने पर उसका सारांश आप को बताना चाहता था। आप आ नहीं सके। फिर भी मैं आप को यह बताना चाहता हूँ कि सर विलियम ने वायसराय पर बहुत ज़ोर डाला है कि सन्देह के कारण समस्त भारत के आर्यसमाजियों को जो शिकायतें हैं, वे अवश्य दूर की जानी चाहिये। वायसराय ने बड़े ध्यान से सब बातें सुनीं और प्रतिज्ञा की है कि वे शीघ्र ही जैसा उनको सुझाया गया है, वैसी कार्यवाही करेंगे। इसलिये मेरा यह ख़्याल है कि यदि आर्यसमाज की ओर से वायसराय के सामने सब बात रखी जा सकें, तो अच्छा होगा।" पत्रव्यवहार तो बहुत है, पर प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये एक ही पत्र का यह कुछ भाग काफी है। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ की मार्फ़त भी आपने आर्यसमाज पर मँडराती हुई काली घटा को छिन्न-भिन्न कराने का बहुत यत्न किया था।

इस प्रकार आपने सच्चे नेता और पथप्रदर्शक का काम करते हुए सरकार के दमन से आर्यसमाज की रक्षा की और उसको पथभ्रष्ट होने से भी बचाया। उस काल में यदि आर्यसमाज की नैतिकता की कुछ रक्षा हुई, तो उसका प्रायः सब श्रेय महात्मा मुंशीराम जी को है। उन दिनों मे आपके सामने अपने जीवन का यह ध्येय सदा उपस्थित रहता था—

"अद्येव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।"

आप ने न केवल स्वय धैर्य धारण किया, किंतु आर्यसमाज को भी धैर्य धारण कराये रखा।

फलतः सरकार का रुख बदला। महात्मा जी को सयुक्तप्रांत के लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर और भारत के गवर्नर-जनरल भी मिलने के लिये बुलाते रहे। आर्यसमाजी

संस्थाओं का उन्होंने तथा अन्य सरकारी अधिकारियों ने भी स्वयं निरीक्षण किया। उनको अपनी भूल मालूम हुई। उसका संशोधन किया गया।

यदि लाला लाजपतराय जी का यह लिखना ठीक है कि आर्यसमाज की उठती हुई शक्ति को कुचलने के लिये ही उसमें गृह-कलह पैदा करने में सरकार का हाथ था, तो यह कहा जा सकता है कि जिस शक्ति को सात-आठ वर्ष की गृह-कलह (भेद-नीति) कुण्ठित नहीं कर सकी और जिसको लगभग बारह वर्ष का दमन (दण्ड-नीति) नहीं दबा सका, उसको दो-एक वर्ष की साम और दान की नीति ने इतना मुरझा दिया कि संस्थापक के स्वराज्य के लिये स्पष्ट आदेश, 'सत्यार्थप्रकाश' के छठे समुल्लास में राजनीति का इतना विशद विवेचन और सन्ध्या मे प्रति-दिन दो बार 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' की प्रार्थना करते रहने पर भी आर्यसमाज राजनीतिक दृष्टि से सोया पड़ा है, मानो देश की स्वाधीनता, स्वराज्य और राजनीतिक उत्कर्ष से उसको कोई मतलब ही नहीं है।

(ग)

विविध

1. आर्यसमाज का प्रचार, 2. आर्य-सार्वदेशिक सभा, 3. परोपकारिणी सभा, 4. आर्यकुमार-सम्मेलन, 5. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, 6. महान् व्यक्तित्व।

1. आर्यसमाज का प्रचार

आर्यसमाज में प्रवेश करते ही महात्मा मुंशीराम जी को आर्यसमाज के प्रचार की जो लगन लगी थी, वह गुरुकुल ही स्थापना और उस के काम में पूरी तरह लग जाने के बाद भी जारी रही। वैसे तो गुरुकुल भी प्रचार की ही भावना से ग्वोला गया था। आर्यसमाज को गुरुकुल से प्राप्त गौरव और ख्याति को यदि भुला भी दिया जाय, तो भी गुरुकुल से उस प्रचार को प्राप्त सहायता को नहीं भुलाया जा सकता, जिस की तुलना मे प्रतिनिधि-सभा के कुछ माननीय महानुभाव गुरुकुल को भी तुच्छ समझते थे। गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय ब्रह्मचारियों की पढ़ाई की हानि सहन करके भी बाहर आर्यसमाजों के उत्सवों पर प्रायः जाया करते थे। गुरुकुल के लिये चन्दा जमा करने के लिये जाने पर भी उनके द्वारा आर्यसमाज का प्रचार होता था। महात्मा जी का सफ़री बिस्तर तो हमेशा बॅधा हुआ ही पडा रहता था और आप को एकाएक ही गुरुकुल से कभी किसी समाज के उत्सव के लिये, कभी कही प्रचार के लिये और कभी कही समाज की रक्षा के लिये तुरन्त चल देना पडता था। सम्वत् 1956, तदनुसार सन 1902, में दिल्ली-दरबार पर आर्य कैम्प लगा कर प्रचार का प्रवन्ध किया गया था। आप उस समय गुरुकुल की प्रारम्भिक अवस्था में वहॉ से हिल नही सकते थे। प्रतिनिधि सभा के प्रधान प. रामभजदत्त जी चौधरी का तार पाते ही आप गुरुकुल से चल दिये। आप ने उस समय 'प्रचारक' में लिखा था—"मै पंजाब आर्यसमाजो मे मौजूदा सरदार के हुक्म की तामील में देर नही करूँगा। कोई भी इन्तजाम बगैर तामील हुक्म अफ़सरान के चल नहीं सकता। यह मेरा यकीन है और इसी पर मेरा अमल है।" बात तो यह थी कि दरबार के समय प्रचार करने का प्रस्ताव आप ने ही स्वीकार किया था और आपने ही उस के लिये पॉच हजार की अपील भी की थी। आप को आशा थी कि रुपया हो जाने पर बाकी सब काम दूसरे लोग सम्हाल लेगे। पर, ठीक समय पर लुटिया डूबती देखकर ही सभा के प्रधान ने आपको तार दिया था। वहॉ

22 दिसम्बर से 5 जनवरी तक अच्छा प्रचार हुआ। आर्यसमाज के ट्रैक्ट और गुरुकुल की पाठविधि ख़ूब बाँटी गई। 25-30 जगह आर्यसमाज का डेपुटेशन गया। राव-राजाओं तथा सरदारों आदि के साथ वैदिक धर्म के सम्बन्ध में चर्चा हुई और उन तक आर्यसमाज का साहित्य भी पहुँचाया गया। शाहपुराधीश कैम्प में पधारे और उन को आर्यजनता की ओर से मान-पत्र दिया गया। महात्मा जी के साथ पं. रामभजदत्त जी चौधरी की हिम्मत की भी दाद देनी चाहिये। प्रचार के निमित्त पधारे हुए आर्यसमाजियों में महात्मा जी की प्रेरणा से परस्पर जो विचार-विनिमय हुआ वह बहुत उपयोगी और लाभदायक सिद्ध हुआ। सम्वत् 1964, सन् 1907, में सूरत में भी कांग्रेस के अधिवेशन के साथ बम्बई-आर्यप्रतिनिधि-सभा की ओर से प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। मन्त्री का तार आने पर आप को वहाँ भी जाना पड़ा। वहाँ भी प्रचार की अच्छी धूम रही। लाला लाजपतराय जी और पण्डित रामभजदत्त जी चौधरी ने भी प्रचार में हाथ बँटाया। सम्वत् 1966, सन् 1909, में प्रयाग की सुप्रसिद्ध-प्रदर्शिनी पर इलाहाबाद-आर्यसमाज और संयुक्तप्रांतीय-आर्यप्रतिनिधि-सभा की ओर से प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। संयुक्त-प्रांत की प्रतिनिधि-सभा के निमन्त्रण पर आप वहाँ भी गये और वहाँ के प्रचार में भी पूरा हाथ बँटाया। हरिद्वार में कुम्भी-अर्धकुम्भी के मेलों पर प्रचार का सिलसिला आप का ही शुरू किया हुआ था। हरिद्वार के पास आ जाने से यह प्रचार और भी अधिक उत्साह के साथ अधिक व्यवस्थित रूप में होने लगा। सम्वत् 1966 में अर्धकुम्भी पर और सम्वत् 1972 मे कुम्भ पर बड़ी धूमधाम के साथ प्रचार किया गया। सार्वदेशिक-सभा की स्थापना हो जाने के बाद से यह प्रचार उक्त सभा की ओर से होने लगा। आप उस के प्रधान थे, इसलिये प्रचार का सब प्रबन्ध भी आप को ही करना पड़ता था। सम्वत् 1972 के कुम्भ पर महात्मा गांधी के अभिनन्दन का समारोह करके आपने हरिद्वार, कनखल और ज्वालापुर में ही नहीं, किन्तु देहरादून, रुड़की और सहारनपुर तक में हलचल पैदा कर दी थी।

गुरुकुल और उसके उत्सवो का पौराणिकता तथा अन्धविश्वास के गढ़ हरिद्वार और कनखल पर जो असर पड़ता था, उससे वहाँ के पण्डे मन ही मन जलते और कुढ़ते थे। हरिद्वार में गुरुकुल की ओर से धर्मार्थ-औषधालय का खोलना उनके रोष की दबी हुई अग्नि पर घी डालने वाला साबित हुआ। सम्वत् 1965 में गुरुकुल के सातवें वार्षिकोत्सव के बाद आर्य-स्त्री-पुरुष गुरुकुल से मण्डलियाँ बना कर वैदिक-प्रार्थना के भजन गाते हुए हरिद्वार के बाज़ारों में से जा रहे थे कि उन पर लाठियाँ छोड़ दी गई और एक हलवाई ने तो कड़ाई का खौलता हुआ

घी भी कुछ आर्य पुरुषों पर डाल दिया। लूट-पाट और उपद्रव का दृश्य हरिद्वार में पैदा कर दिया गया। जितने भी आर्य हरिद्वार में मिले, गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर दूकानें लूटने, मूर्तियाँ तोड़ने और हर की पैड़ी पर जूता ले जाने का दोष लगाया गया। हरिद्वार से गुरुकुल में यह समाचार पहुँचते ही महात्मा जी नंगे पैर, नगे सिर, बदन पर केवल कुरता-धोती पहिने हुए, जिस हालत में खड़े थे उसी मे, किसी को साथ लिये बिना ही हरिद्वार को चल दिये। कनखल में चारों ओर त्रास फैला हुआ था। वहाँ के लोगों ने हरिद्वार के विक्षुब्ध वातावरण में जाने से रुकने का आप को आग्रह किया। पर, आपने किसी की एक न सुनी और सीधे हरिद्वार जलती हुई आग में जा पहुँचे। स्वयं वहाँ की स्थिति का निरीक्षण और अध्ययन किया। गिरफ़्तार आर्य पुरुषों को जमानत पर छुड़वाया। गरम घी से जले हुए और लाठियों की चोटों से आहत आर्यो को गुरुकुल पहुँचाने का प्रबन्ध किया, जहाँ उन की मरहम-पट्टी और सेवा-शुश्रूषा की गई। 2 अप्रैल को म्युनिसिपैलिटी के आफिस मे पण्डों ने आप के द्वारा आर्य-पुरुषो से क्षमा माँगी और दुर्घटना के लिये पश्चात्ताप प्रकट किया। 3 अप्रैल को मुक़दमे की पेशी थी। जालन्धर से रायज़ादा भक्तराम जी पैरवी के लिये पधारे थे। पण्डों की ओर से खेद प्रगट करने पर पुलिस ने मुक़दमे उठा लिये। घोर द्वेष से जिस घटना का सूत्रपात हुआ था, उसी की समाप्ति परस्पर के प्रेम की स्थापना में हुई। महात्मा जी के इस उदारतापूर्ण व्यवहार से हरिद्वार में गुरुकुल और आर्यसमाज की धाक जम गई। महात्मा जी ने व्यवहार-कुशल नेतृत्व का परिचय देकर परायो को भी अपना बना लिया।

इस प्रकार किये जाने वाले प्रचार से 'प्रचारक' द्वारा किया जाने वाला प्रचार कही अधिक महत्त्वपूर्ण था। सिद्धान्त और सदाचार का प्रश्न आने पर 'प्रचारक' समझौता करना या दबना नही जानता था। 'प्रचारक' की एक ही आवाज़ थी और वह यह थी कि चरित्र को ऊँचा करो। सदाचार की रक्षा करो। सामाजिक और नैमित्तिक-धर्मो का पालन करो। सम्वत् 1956 से 1969 तक इस आशय के विशेष लेख इसलिये भी लिखे गये थे कि कही आर्यसमाजी सरकारी दमन से आवेश में आकर अपने ध्येय से विचलित न हो जाये। किसी बड़े से बड़े आर्य के भी सदाचार से पतित होने पर 'प्रचारक' ने उस पर परदा नहीं डाला। आर्यसमाज की ओर लोगों का आकर्षण क्यो नहीं रहा? इसका उत्तर देते हुए आपने लिखा था—"आर्यसमाज से लोगों को घृणा पैदा कराने वाले हमारे अपने ही आचरण हैं। जिन पुरुषो के दुराचारों के सम्बन्ध में तुम में से कइयों ने मेरे सामने स्पष्ट साक्षी दी, वही अब उन दुराचारियो को उसी प्रकार के दुराचार की सफलता मे

सहायता दे रहे हैं। इस पर भी आश्चर्य यह है कि जब बातचीत होती है तो उन पुरुषों के दुराचारों को अब तक मान भी लेते हैं।" स्वामी दर्शनानन्द और शंकरानन्द का 'प्रचारक' ने जिस साहस के साथ भण्डा-भोड़ किया था, और कौन वैसा कर सकता था? सम्वत् 1968 में लाहौर के रायबहादुर रामशरणदास के पुत्र के यज्ञोपवीत-संस्कार में कराये गये वेश्या-नृत्य पर 'प्रचारक' की टिप्पणी आज भी पढ़ने योग्य है। निमन्त्रण-पत्र पर 'ओउम्' शब्द लिखा गया था। 'ओउम् जैसे पवित्र शब्द को वेश्या-नृत्य जैसे अधर्म-कर्म के साथ मिलाने वाले को 'विगर्हणीय पुरुष' कहा गया था और जो आर्य नेता उसमें सम्मिलित हुए थे, उनके सम्बन्ध में लिखा गया था—"जो पुराने संस्कारों या लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर अपने आत्मा और धर्म की कुछ भी क़ीमत नहीं समझते, उनको उचित यह है कि वे अपने आपको धार्मिक व आर्य कहना छोड़ दें। जो पुरुष अपने को संसार की बेहूदगियों से परे नहीं रख सकते, जो मित्र को पाप करते हुए देखकर उसे रोकना तो दूर रहा उस के पाप में मिल जाते है, उन्हें किसी धार्मिक संस्था के नेता होने का अधिकार नहीं।" जनता को लक्ष्य करते हुए लिखा गया था—"जिस पंजाब के अन्दर विगत वर्ष की प्रदर्शनी के समय नाच कराने का किसी को साहस नहीं हुआ था, जो पंजाब समाज-संशोधन तथा धर्म-प्रेम के अन्दर सारे भारतवर्ष में अग्रणी समझा जाता है, जो पंजाब आर्यसमाज का केन्द्र-स्थल है, उस पंजाब के हिन्दुओं के नेता खुल्लम-खुल्ला ऐसे सामाजिक पाप करे और पंजाब सहता जाय, यह कैसे आश्चर्य की बात है? जिस आर्यसमाज ने व्यक्तिगत आचार को ही सामाजिक भलाई का साधन समझा हुआ है, अपने आपको उस आर्यसमाज के सभासद कहने वाले लोग ऐसे-ऐसे लोकनिन्दित और आचार-गर्हित कामों में खुल्लम-खुल्ला प्रवृत्त हों और आर्य लोग मौन साधे रहे, यह कैसी विचित्र बात है? उन लोगों से, जो अपने धार्मिक उत्तरदातृत्व को न समझ कर ऐसे ऐसे कार्यो के करने से नहीं रुक सकते, हमारी प्रार्थना है कि वे अपने आप को आर्यसमाज जैसी पवित्र संस्थाओं से पृथक कर ले।"

आर्यसमाज का ठोस प्रचार यही था, जिसके द्वारा उसके सदाचार के दर्जे को ऊँचा बनाने की सदा कोशिश की जाती रही। 'प्रचारक' द्वारा मुंशीराम जी इस ठोस प्रचार में निरन्तर लगे रहे। गुरुकुल एवं अपने जीवन द्वारा भी आपने इस प्रचार को सफल बनाया। इस प्रकार समाज की सेवा और प्रचार द्वारा आर्यसमाजियों के व्यक्तिगत चरित्र के साथ-साथ आर्यसमाज के सार्वजनिक चरित्र का दर्जा भी आपने बहुत ऊँचा किया।

2. आर्य-सार्वदेशिक-सभा

जिस आर्य-सार्वदेशिक-सभा को इस समय सार्वभौम अथवा 'इण्टरनेशनल-आर्यन-लीग' का नाम ही नाम दिया जा रहा है, उस को जनम देने वाले महात्मा मुंशीराम जी ही थे। सम्वत् 1899 में जब आप गुरुकुल के लिये तीस हज़ार रुपया जमा करने को दौरे पर निकले हुए थे, तब ही आपने उसके संगठन की नियमावली बना कर उसके लिये आन्दोलन भी शुरू कर दिया था। उस समय आपका यह भी विचार था कि गुरुकुल की स्थापना उसी की अधीनता में होनी चाहिए। प्रान्तीय आर्य नेताओं को इस 'सार्वभौम' संगठन की सम्भवतः इतनी आवश्यकता नहीं जॅच रही थी, जितना कि महात्मा जी उसके लिये आन्दोलन कर रहे थे। पंजाब-प्रतिनिधि-सभा ने 24 जनवरी, सन् 1897 को सार्वदेशिक सभा की स्थापना के सम्बन्ध मे प्रस्ताव पास किया था। उसके एक मास बाद संयुक्तप्रान्तीय प्रतिनिधि-सभा ने और कोई 6 मास बाद मई में राजस्थान-प्रतिनिधि-सभा ने भी उसकी स्थापना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये थे। इन प्रस्तावों के पास हो जाने के बाद निरंतर आन्दोलन होने पर भी सम्वत् 1965, सन् 1908, से पहिले इस सभा की नियमपूर्वक स्थापना नही हो सकी थी। सम्वत् 1964 के पौष मास में महात्मा जी ने एक लेख 'आर्य-सार्वदेशिक-सभा की आवश्यकता' शीर्षक से 'प्रचारक' मे लिखा था। उस लेख से सार्वदेशिक-सभा के प्रति आर्य नेताओं की उदासीनता के साथ-साथ यह भी पता लगता है कि आपके प्रतिनिधि-सभा-पंजाब के प्रधान बनने से पहले आर्यसमाज के सगठन की क्या अवस्था थी? आपने लिखा है—"कोई समय था, जब कि आर्य-प्रतिनिधि-सभा, पंजाब दयानन्द-कालेज का केवल पुछल्ला थी। लाहौर-आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जब दयानन्द-कालेज-प्रबन्धकर्तृ-सभा का सब काम हो चुकता था, तब खड़े-खड़े एक प्रस्ताव पास हुआ करता था, जिसका नमूना आज के आर्यो को आश्चर्य में डाल देगा। प्रस्ताव निम्न प्रकार का होता था—'सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि अमुक-अमुक महाशय अन्तरंग सभा के सभासद् नियत किये जायॅ तथा लाला

साईदास जी प्रधान, लाला मुरलीधर जी मन्त्री तथा लाला जीवनदास जी कोषाध्यक्ष नियत हों।' सन् 1890 ईस्वी तक इसी प्रकार का सिक्खों वाला सवालक्ख प्रस्ताव देखने में आवेगा। सन् 1891 में कुछ हलचल हुई और सन् 1892 मे तो काया ही पलट गई।'' यही समय था, जब पंजाब में गृह-कलह का सूत्रपात हुआ था और आप उसके प्रधान निर्वाचित हुए थे। इस प्रकार पंजाब-प्रतिनिधि सभा के संगठित होने का प्रभाव दूसरे प्रांतों की प्रतिनिधि-सभाओं पर भी पड़ा और उनमें भी जीवन का संचार हुआ। इसी लेख में आगे आपने लिखा था—''जब से इन सब सभाओं मे जान पड़ने लगी थी, तब से ही मैं सारे भारतवर्ष के लिये एक सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा की आवश्यकता को अनुभव करता था। मेरी दृष्टि की सीमा उस समय बढ चुकी थी और मुझे वह दिन दूर नहीं दिखाई देता था, जब कि अन्य देशों में भी वैदिक-धर्म का डंका बज कर आर्य-प्रतिनिधि-सभायें स्थापित होनी थीं। मुझे उस समय एक सार्वभौम-आर्यप्रतिनिधि-सभा की स्थापना होना भी दुस्साध्य नहीं प्रतीत होता था। ऐसी आशा से भरपूर हृदय से मैंने सार्वदेशिक-सभा का प्रस्ताव किया था। इस प्रश्न को कभी पंजाब की सभा और कभी युक्तप्रान्त की सभा दोनों ही टालती रहीं। फिर नियम बनाने की रुकावट जतलाई गई। मैने गुरुकुल के लिये भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भी समय निकाला और नियम बना भेजे।'' इन नियमों पर आगरा समाज के उत्सव पर सन् 1900 के फरवरी मास में कुछ प्रतिनिधि-सभाओं के प्रतिनिधियों ने उपस्थित हो कर विचार किया और उनके संशोधन का काम राजस्थान वालों पर छोड़ा गया। इस सशोधन के काम में ही आठ-नौ वर्ष बीत गये और 1908 में गुरुकुल-कांगडी के छठे वाकिर्षकोत्सव पर प्रतिनिधि फिर इकट्ठे हुए। इस समय भी सभा की स्थापना नही हो सकी और आगरा में जुलाई मास मे फिर इकट्ठा होने का निश्चय किया गया। जुलाई मे तो नहीं, 25 सितम्बर, 1908 को आगरा में फिर सब प्रतिनिधि इकट्ठे हुए। उसमे नियमादि सब निश्चित कर लिये गये। नियमानुसार सभा का प्रथम अधिवेशन प्रथम वैशाख सम्वत् 1966 को देहली में हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा मुंशीराम जी उसके प्रधान निर्वाचित हुए और जीवन पर्यन्त सदा आप ही उसके प्रधान चुने जाते रहे। सार्वदेशिक-सभा की स्थापना के इस इतिहास से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि आर्यसमाज के उस सब संगठन की इमारत के, जो इस समय इतनी भव्य दीख पड़ती है, बनाने वाले महात्मा मुंशीराम जी ही थे। दूसरी यह कि आप बड़े-बड़े शब्दों के पीछे भागते हुए असलियत को ऑखो से ओझल नहीं करते थे। क्या मुंशीराम जी सार्वदेशिक-सभा को 'सार्वभौम' या 'इण्टरनेशनल' नाम नहीं दे सकते थे? दे सकते थे, परन्तु उसके

लिये अभी समय नहीं आया था। पीछे चौड़ आगे दौड़ की नीति आपको पसन्द नहीं थी। आप नीचे की नींव दृढ़ करने के बाद ही ऊपर की दीवार खड़ी करते थे। इस प्रकार आपके कई वर्षो के निरन्तर आन्दोलन के बाद सार्वदेशिक-सभा की स्थापना हुई और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का काम भी आपको करना पड़ा। देहली में उसके कार्यालय की स्थिर स्थापना की गई, कुम्भ-प्रचार का काम उसकी अधीनता में किया जाने लगा और संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद अपना अधिक समय उसमें लगा कर आपने ही मद्रास प्रान्त में प्रचार की स्थिर नींव डाली। सम्वत् 1966 में पंजाब के दोनों दलो को एक करने का आन्दोलन करते हुए आप ने गुरुकुल-कांगड़ी सरीखी सभी संस्थाओं को इस सभा के ही अधीन करने का प्रस्ताव किया था। उक्त सभा और आर्य-समाज के सम्बन्ध मे आप की महत्त्वाकांक्षा कितनी महान् और ऊंची थी, इस का पता आप के जिस लेख से मिलता है, वह आप ने सम्वत् 1966 में लिखा था। उस की कुछ पंक्तियॉ ये है—"यदि यह सारा काम सार्वदेशिक-सभा के अधीन हो जाय, तो जहॉ एक केन्द्र महाविद्यालय दृढ हो सकता है, वहॉ प्रत्येक प्रात में तथा शनैः शनैः प्रत्येक नगर वा ग्राम के समीप अनगिनत शाखा-गुरुकुल खुल सकते हैं और वह समय भी हमारी समझ में आ सकता है, जब कि एक गुरुकुल-विश्वविद्यालय स्थापित हो सके और सारे भूगोल के मनुष्य आत्मविद्या सीखने तथा अपने चरित्र सुधारने के लिये फिर से इस पवित्र भूमि में आना आरम्भ करे। मेरा यह विचार इस समय एक भ्रान्त चित्त की बडबड़ से बढ़ कर प्रतीत न होगा, किन्तु मेरा निश्चय है कि जब तक साधारण पुरुषो की दृष्टि में असम्भव उच्च विचारो को लक्ष्य में रख कर काम नही किया जाता, तब तक आदर्श की ऊँची चोटी पर चढ़ना कठिन है। मेरी दृष्टि के सामने तो वह दिन भी घूम रहा है, जब आर्यसमाज की सचित शक्ति से प्रेरित सच्चे संन्यासी 'ओउम्' के झण्डे को अमेरिका तथा यूरोप के ऊँचे से ऊँचे गवर्नमेंट हाउस की सबसे ऊँची चोटियों पर, तोप और तलवार की सहायता के बिना ही, स्थापित कर देगे।"

आज आर्यसमाज को अपने जीवन की प्रगति का प्रवाह रुका हुआ दीख पड़ता है। उसका कारण यही है कि उसमें उतनी ऊँची और महान महत्त्वाकांक्षा रखने वाले ऐसे नेता का अभाव है, जो उसके लिये सच्चे पथ-प्रदर्शक का काम कर सके। ऐसे नेता घड़े नहीं जाते, स्वयं ही पैदा होते हैं। निश्चय ही महात्मा मुंशीराम जी उन महापुरुषों में से थे, जो जाति अथवा समाज का नेतृत्व कर उसको घोर निराशा, घने अन्धकार और भयानक संकट से पार लगा कर सदा आगे ही आगे का रास्ता दिखाने के लिये पैदा होते हैं।

3. परोपकारिणी-सभा

आर्यसमाज में परोपकारिणी-सभा की इतनी ही प्रतिष्ठा है कि उसकी स्थापना ऋषि दयानन्द ने अपने वसीयतनामे के द्वारा की है और ऋषि दयानन्द के सब लेख, पुस्तक, प्रेस और सम्पत्ति पर उसका अधिकार है। वैसे परोपकारिणी-सभा एक सफ़ेद हाथी है, जिससे समाज को संकट-काल में न कुछ सहायता ही मिली है और न कभी उसकी कोई आशा ही उससे पूरी हुई है। आर्यसमाज के प्रति सरकार की इतनी सन्देहास्पद दृष्टि और दमन-नीति के रहते हुए भी परोपकारिणी सभा के कानों पर जूं नहीं रेंगी। महात्मा मुंशीराम जी द्वारा उसके अधिकारियो के नाम की गई अपील भी बेकार ही सिद्ध हुई। आप कुछ प्रारम्भ ही से उससे निराश थे। सम्वत् 1964 में आपने उसके सम्बन्ध में लिखा था—"कई महाशयों का यह विचार है कि परोपकारिणी-सभा को ही सार्वदेशिक-सभा में परिणत करने का यत्न किया जावे। मेरा भी पारसाल ऐसा ही विचार था, किन्तु एक वर्ष के अनुभव ने मुझको निश्चय दिला दिया कि यदि परोपकारिणी से सार्वदेशिक का काम लेना हो तो 25-30 वर्षो से प्रथम सफलता नही हो सकती। जब तक परोपकारिणी में कुछ सभासद आर्यसमाज के विरुद्ध मत रखने वाले बने रहेंगे, तब तक उसका नाम आर्य-सार्वदेशिक-सभा रखना व्यर्थ होगा। सम्भव है, ऐसे सभासद 30 वर्षो से अधिक समय तक भी जीते रहें।" इस निराशापूर्ण अवस्था में भी जब आपसे सम्वत् 1665 में परोपकारिणी सभा का सभासद होने के लिये आग्रह किया गया तो आप कुछ भलाई की आशा से उसके सभासद हो गये। आपको सभा के वैदिक-यन्त्रालय का अधिष्ठाता और वैदिक-पुस्तकालय-सभा का सभासद नियत किया गया। जब आर्यसमाज एव परोपकारिणी-सभा का इतिहास लिखने के लिये नियुक्त कमेटी ने वर्षभर कुछ नहीं किया, तब वह काम भी आपके ही सिपुर्द किया गया। दो वर्ष लग कर काम करने के बाद भी आपको निराश होना पड़ा और सभा के सब कामों एव सभासदी से त्याग-पत्र देने के लिये विवश

होना पड़ा। त्यागपत्र मे आपने लिखा था—"मुझे इस पद से मुक्त किया जाय, क्योंकि मुझे गुरुकुल के काम के अतिरिक्त और कोई काम करने का अवकाश नहीं मिल सकता। विशेषतः जहाँ व्यक्तियों के परस्पर के झगड़े हों, वहाँ तो मुझ-से बिगड़े स्वास्थ्य वाले मनुष्य का काम करना कठिन क्या असम्भव ही है।" इतिहास का काम आपने शुरू भी कर दिया था। सभा से अलग होने पर उसके लिए इकट्ठा किया हुआ सब मसाला सभा को ही सौंप दिया था और ऋषि दयानन्द का प्राप्त पत्र-व्यवहार आपने अपनी ओर से प्रकाशित कराया था।

आपकी इच्छा तो यह थी कि सभा के अधिवेशन में उपस्थित होकर उसमें ही त्याग-पत्र दें और सभा की स्थिति भी सब सभासदो के सामने खोल कर रख दें, किन्तु कर्तव्यपरायण (!) सभा के अधिवेशन का करवाना भी कुम्भकर्ण की निद्रा खोलने के ही समान अत्यन्त दुस्साध्य था। मन्त्री को तार व पत्र देने पर भी सभा का अधिवेशन नहीं हुआ। शाहपुराधीश उस समय सभा के मन्त्री थे, उनको आपने लिखा—"जिस सभा की जायदाद और प्रबन्ध की यह अवस्था हो, उसमें प्रबन्ध का काम करना मेरे जैसे आदमी के लिये असम्भव है, विशेषकर तब जबकि मेरा शरीर भी आरोग्य नहीं और भविष्य में इस प्रकार के झगड़ो के लिये मैं तैयार भी नहीं। यदि परोपकारिणी सभा के किसी अधिवेशन के शीघ्र होने की सम्भावना होती, तो अपने सब पदों का चार्ज उस सभा को ही देता, किन्तु सभा के अब किसी अधिवेशन के शीघ्र होने की आशा नहीं रही,...तो यही समझा कि इन बखेडों से शीघ्र ही छुटकारा हासिल कर लूँ।" परोपकारिणी-सभा के प्रति आपको सबसे बडी शिकायत यह थी कि "मन्त्री तथा प्रधान अपने हाथों से काम करने वाले नही हैं। महाराजे अपने नौकरो पर विश्वास करके उनसे काम कराते है, जिससे सभा की हानि होती है।"

पहिले जालन्धर-आर्य समाज के, फिर पंजाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद एवं गुरुकुल-कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता एव आचार्य के पदों की जिम्मेवारी को जिस तत्परता और कर्तव्य-परायणता से आपने पूरा किया था, उसको देखते हुए यह सम्भव भी कैसे था कि आप कर्तव्य-विमुख और सोई हुई संस्था के साथ केवल नाम के लिये चिपटे रहते?

4. आर्यकुमार-सम्मेलन

भारतवर्ष के आर्य-नवयुवकों के अखिल-भारतवर्षीय संगठन का नाम 'आर्य-कुमार-सम्मेलन' है। देहली में सम्वत् 1970 में 22-23 आश्विन को होने वाला चौथा अधिवेशन आप के सभापतित्व मे हुआ था। अपने ओजस्वी भाषण में आपने अपने को सभापति निर्वाचित करने का कितना सुन्दर कारण बताया था? आपने कहा था—"आज मेरे बाल सफ़ेद हो गये हैं, तथापि आर्यसमाज के वृद्ध सेवकों में, काम करते हुए नेताओ मे, नवयुवक से नवयुवक हृदय से भी अधिक मैं अपने हृदय को नवयुवक पाता हूँ। आप इसे अभिमान समझे। मैं इस अभिमान का दोष अपने सिर पर लेने को तैयार हूँ। मुझे हर्ष है कि युवक-सम्मेलन का सभापति बना कर आपने मेरे इसी सद्गुण पर ठप्पा लगाया है।" भाषण के अन्त में युवकों से आपने अपील की थी—"सेवक बनने का यत्न करो, क्योंकि लीडरों की अपेक्षा आर्य जाति को सेवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब कभी आप का पैर डगमगाने लगे तो राम के सेवक हनुमान का स्मरण कर लिया करो।...नवयुवको! मै पूछता हूँ, क्या तुम मे से कोई भी दयानन्द रूपी राम का पायक हनुमान बनने का यत्न न करेगा? महावीर के बिना दयानन्द का काम अधूरा पडा है। मुझे पूरी आशा है कि दयानन्द के काम को पूरा करने के लिये पाप की लंका का विध्वंस करने के लिये तुम्ही में से महावीर निकलेंगे।"

5. हिन्दी-साहित्य-सम्मलेन

इसी वर्ष भागलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन का आपको सभापति बना कर, हिन्दी भाषा के लिये की गई आप की सेवाओं के लिये आप के प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हुए हिन्दी जनता ने जहॉ आप का गौरव किया था, वहॉ आप द्वारा सम्मेलन को भी गौरवान्वित किया था। हिन्दी के कुछ अन्य सुप्रसिद्ध लेखको के समान आप को भी हिन्दी भाषा ने उर्दू से अपनी ओर आकर्षित किया था। उर्दू के आप ओजस्वी लेखक थे। उर्दू में ही आपने अपना पत्र 'प्रचारक' शुरू किया था और उर्दू मे कई ट्रैक्ट और पुस्तकें भी लिखी थीं, पर हिन्दी का प्रेम भी आप के हृदय में असाधारण रूप में विद्यमान था। सम्वत् 1955 के 'प्रचारक' में आपने इस आशय की एक टिप्पणी लिखी थी कि "दृढ प्रयत्न करना चाहिये कि प्रतिनिधि का दफ्तर ओर आर्यसमाओं का पत्र-व्यवहार आर्य-भाषा में हो जावे। क्या उर्दू का स्थान आर्य-भाषा को लेते मैं अपनी ऑखो से देखूँगा?" सम्वत् 1966 के 21 ज्येष्ठ के 'प्रचारक' मे उक्त टिप्पणी की ओर सकेत करते हुए आपने लिखा था—"क्या यह टिप्पणी लिखते हुए मुझ को स्वप्न भी आ सकता था कि मैं अपनी ऑखो से ही न केवल प्रतिनिधि सभा के कार्यालय का सब काम तथा पत्र-व्यवहार ही आर्य-भाषा मे होता देखूँगा, प्रत्युत्त 'सद्धर्मप्रचारक' को आर्य-भाषा में परिवर्तित देखने के अतिरिक्त देवनागरी लिपि के प्रचार के लिये सारे देश मे आन्दोलन भी देखूँगा।" आर्यसमाज का यह दावा है कि उसका धर्म सार्वभौम है। इसलिये आप सार्वभौम धर्म के लिये सार्वभौम-लिपि नागरी और भाषा हिन्दी को ही अपनाना आवश्यक समझते थे। पजाब मे आर्यसमाज द्वारा हिन्दी का प्रारम्भिक दिनो मे जो प्रचार हुआ था, उसका सब श्रेय आपको ही है।

हिन्दी को अपनाने के बाद आपने कभी व्यक्तिगत-व्यवहार में भी उर्दू अथवा अगेज़ी से काम नही लिया। जब कभी किसी दूसरी भाषा से काम लेने का समय आया तो उसको अपने लिये सकट-काल अथवा आपत्काल ही समझा। महात्मा

गांधी के नेटाल से लिखे हुए जिस पहिले पत्र का पीछे उल्लेख किया जा चुका है, उसका उत्तर आपने हिन्दी में देते हुए यह भी लिखा था कि "जो व्यक्ति हिदी को देश का भाषा बनाना चाहता है, उसको कोई अधिकार नहीं कि वह दूसरी भाषा में पत्र-व्यवहार करे।" इसी से महात्मा जी भी आपको हिन्दी में ही पत्र लिखने लग गये थे। 'प्रचारक' को एकाएक उर्दू से हिन्दी में परिवर्तित करना और गुरुकुल में प्रारम्भ से अन्त तक सब शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रखना हिन्दी की सेवा के लिये किये गये आपके इतने महत्त्वपूर्ण कार्य थे कि उन पर ही मुग्ध होकर आपको भागलपुर में 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का सभापति बनाया गया था। सभापति का यह पद किसी धुरन्धर विद्वान के लिये 'रिज़र्व' समझा जाता था। यह पहिला अवसर था जबकि विद्वत्ता के साथ-साथ प्रचार और सेवा के कार्य को भी कुछ महत्त्व दिया गया था। हिन्दी के कुछ धुरन्धर विद्वान् इस चुनाव से असन्तुष्ट थे, किन्तु प्रायः सभी समाचार-पत्रों ने उसके लिये हर्ष और सन्तोष प्रगट किया था। इलाहाबाद के 'लीडर' ने स्वागत समिति को बधाई देते हुए लिखा था—"लाला मुंशीराम जी इतने विख्यात हैं कि उनकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। जिस सम्मेलन का ऐसा व्यक्ति सभापति हो, उसको अवश्य ही सफलता और सहायता प्राप्त होगी।"

सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गये आप के भाषण की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि आपने राष्ट्र भाषा हिंदी के लिये 'मातृभाषा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। 'अभ्युदय' ने आप के भाषण की रिपोर्ट मे इस विशेषता का विशेष-रूप से उल्लेख किया था। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये अन्य युक्तियों में आप की एक युक्ति यह थी कि "हमारी सभ्यता के तीन प्रधान चिन्ह हैं—अहिंसा, मातृशक्ति का सत्कार और ब्राह्मणत्व। ये तीनो गुण परकीय भाषा द्वारा परिस्फुट नहीं हो सकते। इसलिये यदि हम परकीय भाषा को अपनावेंगे तो हम भ्रष्ट होंगे—एक राष्ट्र का निर्माण नही कर सकेगे।" किसी अधिक विद्वान और योग्य व्यक्ति को सभापति न बनाकर आप को ही सभापति क्यो बनाया गया? इसके लिये आप ने कहा था—"आप ने सोचा कार्य तभी सम्पन्न होता है, जब ब्राह्मण मस्तिष्क से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन से और शूद्र सेवा से उसकी सहायता करे। सम्मेलन को मस्तिष्क की सहायता मिल ही चुकी है और बाहुबल की अपेक्षा नहीं है। धन की सहायता मिली है और भी मिलेगी। शूद्र की सहायता और सेवा आप मुझसे चाहते है। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र को सेवक हनुमान की सहायता न मिलती तो रावण के मारने में कदाचित् वह सफल न होते।"

इन शब्दों में कितनी नम्रता और उच्चाशयता झलकती है।

आप हिन्दी के भी वैसे ही सच्चे सेवक, विद्वान लेखक और ओजस्वी वक्ता सिद्ध हुए, जैसे कि उर्दू के थे। सच पूछो तो, आप को उर्दू का सेवक तो कहना भी नहीं चाहिये। पर, हिन्दी की तो आपने वस्तुतः सेवा की है। हिन्दी में आपने आर्यपथिक लेखराम की जीवनी, ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, आदिम-सत्यार्थप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थ और ट्रैक्ट लिखे हैं। उच्च शिक्षा के लिये गुरुकुल के अध्यापकों द्वारा हिंदी में कृषि-शास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भौतिकी और रसायन आदि जटिल विषयों पर भी आपने ग्रन्थ लिखवाये और उनको गुरुकुल की ओर से प्रकाशित भी किया। अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के नाते आपने जो भाषण दिया वह भी हिंदी में दिया और इस प्रकार हिंदी को राष्ट्रीय महासभा के मंच पर अधिष्ठित करने का सर्वप्रथम श्रेय और गौरव भी आपने ही प्राप्त किया। हिन्दी की सेवा, उस के प्रचार और देश के एक बड़े हिस्से में उस को जीवित भाषा बनाने का कार्य भी आप के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो हिन्दी के क्षेत्र में चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा और जिसके कारण आप का नाम हिन्दी के सेवकों की पहली श्रेणी में बड़े गौरव के साथ सदा ही लिया जाता रहेगा।

6. महान् व्यक्तित्व

आपके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। फिर भी सम्वत् 1969 की एक ऐसी मनोरंजक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जिस से आप के महान् व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश पडता है। सन् 1912, सम्वत् 1969, में लाहौर के 'प्रकाश' ने अपने पाठकों से एक प्रश्न किया था कि उनकी दृष्टि में भारत के छः महापुरुष कौन-कौन है? एक हजार पाँच व्यक्तियो ने उस प्रश्न का उत्तर दिया था। उन उत्तरों में दिये गये नामों के लिये प्राप्त सम्मतियाँ जोड़ने पर निम्नलिखित परिणाम निकला था—श्रीयुत् गोपाल कृष्ण गोखले—762, महात्मा मुंशीराम—603, लाला लापतराय—533, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक—475, पं. मदनमोहन मालवीय—475 और भीष्म पितामह दादाभाई नौरोजी—433। चार वर्ष पहिले सन् 1907, सम्वत, 1964, में 'हिन्दुस्तान' ने भी अपने पाठकों से इसी प्रकार का प्रश्न किया था। उसके निर्णय के अनुसार महात्मा मुशीराम जी का सातवॉ नम्बर था। इससे प्रतीत होता है कि चार वर्षों में आप बहुत लोकप्रिय हो गये थे। 'प्रकाश' ने इसी सम्बन्ध में लिखा था—"महात्मा मुशीराम जी ने अपनी चुपचाप परन्तु स्थिर लोकसेवा के कारण लोगों के हृदय पर अधिक अधिकार जमा लिया है।" यह स्पष्ट है कि आपके जीवन में आपकी लोकप्रियता इससे भी अधिक अनुपात से बढती चली गई थी और बडी तेज़ी के साथ आप लोगों के हृदय पर अधिकाधिक ही अधिकार करते चले गये थे।

इसी सम्बन्ध में एक और घटना भी बड़ी मनोरंजक है। अन्तिम परिणाम के अनुसार बिलकुल ठीक-ठीक उत्तर देने वाले के लिये 'प्रकाश' की ओर से 50 रु. का इनाम रखा गया था। ऐसे ठीक-ठीक उत्तर देने वाले नौ सज्जन थे। एक छोटे से बालक से कहा गया कि उनके कार्डो को जमीन पर फैला कर उनमें से कोई एक उठा ले। उसने महात्मा जी के परम-भक्त, अनन्य-सेवक, श्रद्धासम्पन्न, कर्मशील लुधियाना-निवासी श्री लब्भूराम जी नय्यड़ के नाम का कार्ड उठाया और

50 रु. का वह इनाम आपको मिला। गुरुकुल की ओर से गुरुकुल की सेवा के पुरस्कार में रखा गया 'महात्मा मुंशीराम-पदक' भी आपको ही मिला था। सच्चे स्नेह और अनन्य भक्ति का यह स्वाभाविक परिणाम था।

सम्भवतः कहा जाय कि 'प्रकाश' तो आर्यसमाजी पत्र था, उसका पैसा परिणाम निकलना कोई बड़ी बात नही थी। महात्मा मुशीराम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद में पड़ने के लिये उपयुक्त स्थान नहीं है। पिछले और अगले पृष्ठों में इस विवाद का स्वयं ही निर्णय हो गया और हो जायगा। हा, उस महान् व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे दो-एक विशेष घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। सन् 1907 की सूरत-कांग्रेस मे फूट पडने पर 27 जनवरी, 1908 को श्रीयुत गोखले ने आपको कलकत्ता से एक पत्र मे लिखा था—"मुझ को यह देख कर बड़ी निराशा हुई कि आप 27 दिसम्बर को सूरत नही पहुँच सके, क्योंकि मै आप से मिलने के लिये बहुत उत्सुक था। उन दुःखपूर्ण घटनाओं के बाद, जिनसे सूरत-काग्रेस भंग हो गई, आप सरीखे व्यक्ति से मिलना और भी ज़रूरी हो गया है। घटनाओं का इस समय जो रुख है, उससे मैं अब भी विक्षिप्त हूँ, और आपके साथ वर्तमान स्थिति पर विचार-विनिमय करने से मुझको जो सन्तोष प्राप्त होगा, वह दूसरी तरह नही हो सकता। आपको मुझ से मिलने मे जो कठिनाई है, वही मुझ को आप से मिलने मे है। मै काम मे बुरी तरह गुँथा हुआ हूँ। मुझ को नही मालूम कि उससे मैं कैसे छुटकारा प्राप्त करूँ।" इसके बाद अपना कार्यक्रम और इगलैण्ड जाने के सम्बन्ध मे लिखते हुए आपने लिखा था—"इस से आपको पता लग जायगा कि इस वर्ष भी मेरे लिये गुरुकुल आना सम्भव नही है। मै आपको विश्वास दिलाता हूँ कि गुरुकुल आने की अपनी असमर्थता के लिये जितना मुझ को दुःख है, उतना शायद ही किसी और को हो।" इस पत्र से स्पष्ट है कि महात्मा जी के व्यक्तित्व से श्रीयुत गोखले कितने प्रभावित थे? वे सचमुच महात्मा जी को अपना अन्तरंग साथी समझते थे और व्यवस्थापिका-सभा के काम के सम्बन्ध में भी आपके साथ सलाह-मशविरा करते रहते थे। आपने 17 अप्रैल सन् 1911 के पत्र में लिखा था—"आपके पत्रों के लिये मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। वास्तव मे मै अपना अहोभाग्य समझता हूँ कि आप मुझको अपना निजी अन्तरग मित्र समझते है।" फिर एक पत्र में लिखा था—"यदि आप पूना आकर हमारी सोसाइटी का अवलोकन कर सकेंगे, तो हम लोगों को बडी प्रसन्नता होगी। यदि आप आने का निश्चय करें, जैसा कि मुझको विश्वास है कि आप ज़रूर करेंगे, तो पहिले सूचना दे दें, जिससे मैं आपको अनुकूल अपना कार्यक्रम बना रखूँ।"

स्वर्गीय गोखले के समान महात्मा गाधी भी जिस प्रकार आप के व्यक्तित्व से प्रभावित थे, उस का एक हलका-सा चित्र पीछे दिया जा चुका है। अहमदाबाद मे सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना करते हुए उस के सम्बन्ध मे गांधी जी आप से बराबर परामर्श करते रहे। एक पत्र मे गांधी जी ने लिखा था—"आप का पत्र मुझ को बल देता है। मेरे कार्य मे आर्थिक त्रुटि आयगी तब आप का स्मरण अवश्य करूँगा।...आश्रमवासी सब आपके आने की राह देखते हैं। अवधि बीतने पर हम सब अधीर हो जायेंगे।" इसी प्रकार एक दूसरे पत्र में लिखा था—"मेरी ये आजीज़ी है की थोड़े दीनों के लीये अहमदाबाद को और इस आश्रम को पावन करो। आश्रमवासी आप का दर्शन कर कृतार्थ होगे।" गांधी जी के पत्रों से मालूम होता है कि वह भी आप के साथ अपने हर कार्य के सम्बन्ध में सदा परामर्श करतें रहते थे।

दीनबन्धु एण्डरूज़ का आप के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण था, उस का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। दीनबन्धु अपने लिये आप को आंतरिक स्फूर्ति का प्रधान साधन मानते थे। मि. हावर्ट सरीखे सरकारी-अधिकारी भी आप से अपने विवाह के लिये विलायत से पत्र द्वारा शुभ-आशीर्वाद मॉगते थे। विवाह के बाद विलायत मे लौटने पर वह पत्नी सहित आप के समक्ष आशीर्वाद लेने के लिये ही उपस्थित हुए थे। मि. रैम्ज़े मैकडानल्ड आदि आप द्वारा जिस प्रकार प्रभावित हुए थे, उस को दोहराने की आवश्यकता नही।

आप के व्यक्तित्व की महानता को बतलाने वाली यह केवल दो-एक घटनाये है। वैसे भारत के महापुरुषों मे आप का चाहे कोई सा भी स्थान क्यो न रहा हो, किन्तु आम जनता और विशेषत. आर्य जगत के तो आप हृदय-सम्राट ही थे, जिस ने आप की अंगुली के इशारे पर गुरुकुल के लिये तन, मन, धन न्यौछावर करने में कभी भी हीनता. दीनता अथवा कृपणता नही दिखाई थी और उस के ही भरोसे आपने गुरुकुल सरीखी असम्भव जॅचने वाली सस्था को इतना महान् और विशाल बना कर 'महात्मा' शब्द को वस्तुतः सार्थक कर दिखाया था।

चौथा-भाग

संन्यास

1. स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी, 2. संन्यासाश्रम में प्रवेश,
3. आर्यसमाज का इतिहास, 4. गढवाल में दुर्भिक्ष-पीडितों की
सहायता, 5. धौलपुर का समाज-मन्दिर, 6. राजनीति के
विस्तृत क्षेत्र में, 7. गुरुकुल में फिर दो वर्ष,
8. सार्वदेशिक-सभा और मद्रास में दलितोद्धार,
9. हिन्दू-महासभा, 10 शुद्धि, 11. संगठन,
12. आर्यसमाज, 13. अन्तिम दिन,
14. अमर-पद की प्राप्ति।

1. स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी

आर्य जनता के महात्मा मुंशीराम, सन्यासाश्रम मे प्रवेश करने के बाद, स्वामी श्रद्धानन्द बन कर मनुष्यमात्र के हो गये। उन पर अकेली आर्य जनता का अधिकार न रहा, मनुष्यमात्र का उन पर अधिकार हो गया। गुरुकुल के लिये सर्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले त्यागी ने देश, समाज और राष्ट्र के लिये आदर्श सर्व-त्यागी बन कर दिखा दिया। गुरुकुल के लिये जिस ने गले में भिक्षा की झोली डाली थी, अब उस ने मनुष्यमात्र की सेवा के लिये सदा के लिये ही भिक्षुक का बाना पहन लिया। समय ही कुछ ऐसा आ गया था कि महात्मा मुंशीराम जी सरीखे व्यक्ति का देश के एक कोने में बैठा रहना सम्भव नही था। जब मुंशीराम जी ने आर्यसमाज मे प्रवेश किया था, तब यह कौन जानता था कि आर्यसमाज में नेता के अभाव की पूर्ति करने के लियें ही आप ने आर्यसमाज में प्रवेश किया था। जिस समय गुरुकुल खोलने का आप स्वप्न देख रहे थे, उस समय किस को पता था कि अनुव्रता पत्नी का वियोग गुरुकुल के लिये किये जाने वाले सर्वमेध-यज्ञ की पूर्व सूचना है? इसी प्रकार जब आपने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का विचार किया था, तब किसको मालूम था कि आप के लिये इतना महान् और विस्तृत कार्यक्षेत्र तैयार हो रहा है। महात्मा गाधी के सत्याग्रह की उस समय कोई कल्पना भी नही कर सकता था। देहली की शाही जामा-मसजिद, घण्टाघर, अमृतसर-कांग्रेस और मियावाली जेल की घटनाओं का किसी को स्वप्न मे भी विचार न था। संन्यासी के लिये गोरे अथवा काले, जाति अथवा सम्प्रदाय और धर्म अथवा समाज का कोई बन्धन और भेद नहीं है। मनुष्य-कृत भेद-भाव से ऊपर उठा हुआ वह मनुष्यमात्र का सेवक है। सेवक के इस कर्तव्य को स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जिस तत्परता के साथ निभाया उसकी तुलना इधर किसी के साथ करना सम्भव नहीं है। धौलपुर के समाज-मन्दिर के लिये, गढ़वाल के दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिये, देहली की अन्याय-पीड़ित मुस्लिम जनता के लिये, गुरु

का बाग में धर्मयुद्ध में लगे हुए सिखों के लिये सदियों की वंश-परम्परा से पद-दलित दक्षिण की अस्पृश्य ठहराई हुई मूक जातियों के लिये और घर के द्वार खोल कर गहरी नींद की मूर्छित अवस्था में पड़े हुए तथा दिन पर-दिन नष्ट होते हुए हिंदू-समाज के लिये भी आर्य संन्यासी के हृदय में, सभी के लिये, एक-सा दर्द था। उसने सब किसी की बिना भेद-भाव के और बिना किसी पक्षपात के सेवा की। बीमारी में निरन्तर गिरता हुआ स्वास्थ्य नहीं देखा, दिन में चौबीस घण्टे काम करने के बाद जागते बिताई हुई रात्रियाँ नहीं गिनीं और देहली से बम्बई, बम्बई से मद्रास, मद्रास से कलकत्ता, कलकत्ता से बर्मा, बर्मा से हरिद्वार और हरिद्वार से लाहौर तक का मार्ग बार-बार नापते हुए भी कभी थकान अनुभव नहीं की। वेद के 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः' के आदेश को मृत्यु आने के क्षण तक आपने बराबर पालन किया। बीमारी के बिस्तर पर पडे हुए भी आप की मानसिक क्रिया कभी बन्द नहीं हुई। सदा ही सामने सुलगती हुई आग की लपटो में कूद कर आपने अपनी सचाई का परिचय दिया। नीति के 'मृत्युना गृहीत इव केशेषु' के उपदेश को सदा सामने रखा। जिस किसी पहाड़ी पर चढ़ने का संकल्प किया, उस की चोटी पर ही चढ़ कर साँस लिया। जिस काम को हाथ में लिया उसको सफल करके ही छोड़ा। जिस किसी क्षेत्र में पैर रखा, उसी में चोटी के नेताओं की भी चोटी पर जा पहुँचे। इसीलिये इस जीवन के सन्यास-काल में आपने जनता की दृष्टि मे परिव्राट् से भी अधिक ऊँचे सम्राट् पद को प्राप्त किया। जनता की श्रद्धा की आप प्रतिमा थे और उसके विश्वास की मूर्ति। गुरुकुल के लिये जिस जनता ने आपको हर एक अपील पर आँख मूँद कर लाखों दिये थे, अब वह आप की हर एक बात पर आप के सामने लाखो का ढेर लगाने लग गई। जनता के प्रति नेता के कर्तव्य-पालन में आपने कभी चूक नही की, उसके प्रति कभी विश्वासघात नहीं किया और जनता ने भी अपने नेता के प्रति कोई चूक नही की, उसकी किसी भी बात को अनसुना नही किया। सन्यास-काल की यह जीवनी साहस, त्याग, पुरुषार्थ, आत्म-विश्वास तथा कर्मशील जीवन की वह शिक्षाप्रद-कहानी है, जिस का अन्त अमर-पद की प्राप्ति मे होता है और चरित्रनायक के साथ-साथ वह कहानी भी अमर हो जाती है।

2. संन्यासाश्रम में प्रवेश

सम्वत् 1973 के 28 चैत्र तदनुसार सन् 1917 के 9 अप्रैल का वह दृश्य कितना गम्भीर, सुन्दर और भव्य था, जिस मे गुरुकुल के प्राण महात्मा मुंशीराम जी के प्रति समस्त भारतीय आर्य जनता के प्रतिनिधियों की, पन्द्रह-बीस हजार आर्य स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति में, न केवल कुलवासियों की ओर से किन्तु आर्य जनता की ओर से भी कृतज्ञता प्रकट की जा रही थी। गुरुकुल के उस पन्द्रहवें उत्सव पर गुरुकुल के लिये धन-संग्रह की अपील करने के समय, अपील न करते हुए, आप को गुरुकुल से विदा होते हुए—वानप्रस्थ से संन्यासाश्रम मे अथवा आर्यसमाज की सेवा के सीमित क्षेत्र से मनुष्यमात्र की सेवा के विस्तृत क्षेत्र में जाते हुए—मान-पत्र देने का आयोजन किया गया था। उस समय आर्य जाति की ओर से आप की सेवा में निम्नलिखित मान-पत्र भेट किया गया था—

आर्य जाति के हृदयसम्राट्!

आज आप सम्राट् से भी ऊँचे परिव्राट् के सिहासन पर अधिरोहण करने लगे है। आज जो पुष्पाजलि लेकर हम आप की सेवा मे आते है, वह आँसुओ से भीगी है। यद्यपि हम जानते है कि जहाँ आप अब तक आर्य जाति के हृदयों पर उस अधिकार से शासन करते थे जो आर्य जाति ने स्वय आपको आपके गुणो पर मुग्ध होकर आपके गले मे पहनाया था, वहाँ अब आप उस अधिकार से शासन करेंगे जिसके लिये आप केवल परम साक्षी के आगे उत्तरदाता है, तो भी हृदय द्रव हुए विना नही रहता।

श्रीमन्! आर्य जाति आज बताना चाहती है कि जहाँ अब तक आप की सेवा के लिये धन, समय और प्रेम का दान करने में वह दरिद्र नहीं हुई, आज इस विदाई और मिलाप के विलक्षण सगम में वह अपने एक सच्चे पुत्र पर शब्दो की वर्षा करने मे भी दरिद्र नही है। यदि है, तो केवल इसलिये कि हृदय भरा हुआ है, केवल इसलिये कि आप का कीर्तिगान करने के लिये शब्द उचिततम साधन नही है।

भारत का विशेषत पजाब का कौन-सा कोना है, जो आपके ओजस्वी नाद से न गूँजा

हो, जिसमे आप के वैदिक धर्म, ऋषि दयानन्द और आर्य जाति के प्रति अगाध प्रेम का कोई न-कोई स्मारक न हो, जिसमे आप के उस अपूर्व त्याग का कोई न कोई दृश्य उपस्थित न हो, जिसके कि एक जीते उदाहरण इस गुरुकुल मे आज हम आपकी सेवा मे उपस्थित होते है। इस कार्य के लिये इससे अच्छा स्थान हम नही चुन सकते थे। इन भावो से इस भूमि मे हम सम्राट् को विदाई देते है और परिव्राट् के चरणो में सिर झुकाते हैं। राजन्! आपका मगल सकल्प पूर्ण हो। भगवन्! आप हमे आशीर्वाद दे। राजाओ का राजा तथा परिव्राजको का परिव्राजक हम सब को आशीर्वाद दे। आचार्य दयानन्द का महायज्ञ पूर्ण हो।

वशंवद—आर्य जाति।

इस मान-पत्र के लिये धन्यवाद देते हुए उपस्थित स्त्री-पुरुषों से संन्यासाश्रम का कर्तव्यपालन करने के लिये आपने आशीर्वाद माँगा। उस समय यूरोप का महायुद्ध ज़ोरों पर था और चारों ओर आर्थिक संकट तथा निराशा छाई हुई थी, फिर भी बिना अपील किये ही गुरुकुल के लिये 71 हज़ार रुपया नकद जमा हुआ था। आर्य जनता के आप के प्रति अगाध प्रेम की यह स्पष्ट साक्षी थी।

सम्वत् 1974 की पहिली वैशाख, 12 अप्रैल सन् 1917, को आपने मायापुर-वाटिका-कनखल में संन्यासाश्रम में प्रवेश किया। उससे पहिले दिन सवेरे आपने महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों को विशेष उपदेश दिया। उपदेश के अन्त में विदाई की ओर निर्देश करते हुए आपका गला भर आया। अधिक बोलना कठिन हो गया। ब्रह्मचारियों और उस भूमि से विदाई लेना कुछ सहज नहीं था। वैसे तो आपने जालन्धर से भी इस भूमि के लिये विपदा ली थी। पर, उस दिन प्रेम और कर्तव्य में इतना संघर्ष नहीं हुआ होगा, जितना कि इस दिन इस भूमि को छोडते हुए हुआ। मनुष्य का मन किराये के छोटे से मकान में भी फँस जाता है। फिर यह भूमि तो, जिसमें कभी दिन मे भी दीया जलाना पडता था, आपकी जीवन-साधना के फलस्वरूप इतनी उज्ज्वल हो गई थी कि वह संसार के समस्त प्राणियो को अपनी ओर आकर्पित करने लग गई थी। आपका मन तो उसकी धूलि के एक-एक अणु-परमाणु तक मे फँसा हुआ था। गौतम बुद्ध के समान घर-गृहस्थी का त्याग कर आप इस भूमि में आये थे, आज बोधि-वृक्ष के नीचे की तपस्या पूरी होने पर संसार को उसका दिव्य-सन्देश सुनाने का अवसर उपस्थित हुआ था। एक बार मोह-माया, ममता तथा प्रेम का पर कर्तव्य ने फिर विजय लाभ की। मध्यान्ह समय उस राजर्पि ने उसी प्रकार इस भूमि से विदा ली, जैसे कि पन्द्रह वर्प पूर्व इसमें प्रवेश किया था। उसके हृदय में आज भी वैसा ही उत्साह,

पुरुषार्थ और महत्वाकांक्षा थी, जैसी कि आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व थी। पर, पीछे चलने वाले चौंतीस के स्थान मे दो सौ से अधिक ब्रह्मचारी थे और सब के चेहरो पर उदासी छाई हुई थी, हृदय सब के मुर्झाये हुए थे। कर्तव्य की विजय-यात्रा का वह जलूस आचार्य के बॅगले से होता हुआ कनखल हो कर मायापुर पहुँचा। आचार्य को वहाँ छोड़ कर सब ब्रह्मचारी लौट आये और दूसरे दिन सवेरे ही सस्कार में सम्मिलित होने के लिये फिर मायापुर पहुँच गये। गुरुकुल-उत्सव पर पधारे हुए संन्यासी, नेता और बहुत-से आर्य स्त्री-पुरुष भी उस मगल-महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये रुक गये थे। मायापुर-वाटिका धन्य हो गई, जहाँ आर्यसमाज को ऋषि दयानन्द के बाद स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी के रूप मे वह महान् विभूति इतनी जल्दी फिर प्राप्त हो गई, जो दूसरे देशो तथा समाजों को सदियों मे कभी एक बार बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ करती है। सवेरे नौ बजे संस्कार शुरू हुआ। आधी विधि के बाद पीले डुपट्टे के वेश को उतार, दाढ़ी-सिर मुंडवा कर जब आचार्य सफ़ेद धोती पहिने हुए फिर यज्ञशाला मे आये, तब का दृश्य देखने वालो मे इस आयु में कौन भूल सकता है? कितनों की ऑखें उस समय डबडबा गई। प्रेम और भक्ति के आंसुओं के मोती ऑखो से झरने लगे। आचार्य ने खड़े होकर बडे गम्भीर-भाव से कहा—"श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज तक के इस जीवन को मैने पूरा किया है। श्रद्धा के मेरे जीवन की आराध्य देवी है। अब भी श्रद्धा-भाव से प्रेरित होकर ही मै सन्यासाश्रम में प्रवेश कर रहा हूँ। इसलिये इस यज्ञकुण्ड की अग्नि को साक्षी रख कर मै अपना नाम 'श्रद्धानन्द' रखता हूँ, जिससे मै अगला सब जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूँ।" इस प्रकार आचार्य ने गुरुकुल के आचार्य का पीला वस्त्र उतार कर ससार के आचार्य का भगवा वस्त्र धारण कर लिया और महात्मा 'मुशीराम' नाम त्याग कर 'श्रद्धानन्द सन्यासी' नाम रख लिया। वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैष्णा आप वर्षो पहले ही त्याग चुके थे। केवल एक गुरुकुलैषणा बाकी थी। उसके भी बन्धनो से मुक्त हो कर आचार्य ने लोक-सेवा के निर्द्वन्द्व क्षेत्र मे प्रवेश कर लिया।

3. आर्यसमाज का इतिहास

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद कुछ रोगों की निवृत्ति के पीछे गुरुकुल-कुरुक्षेत्र में आपने चातुर्मास्य किया। उसी समय आप ने 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखने के बहुत पुराने संकल्प को पूरा करने का निश्चय किया। परोपकारिणी-सभा की ओर से भी सम्वत् 1966 में आप ने यह काम अपने हाथ में लिया था, पर सभा के कार्य से असन्तुष्ट होकर उस समय उस को बीच में ही छोड़ देना पड़ा था। 17 भाद्रपद सम्वत् 1974 के 'प्रचारक' में आपने अपने इस संकल्प की घोषणा करते हुए लिखा था—"समकालीन इतिहास लिखने का काम बड़ा कठिन तथा दुस्साध्य समझा जाता है और है भी ऐसा ही। परन्तु मैंने फिर भी इस आशा पर काम आरम्भ किया है कि प्रथम तो मैं अपने व्यक्तित्व को जुदा रख कर निष्पक्ष भाव से आर्यसमाज का इतिहास लिखने की अवस्था में आ गया हूँ। यदि मैंने घटनाओ का ठीक परिणाम निकालने में कहीं ठोकर खाई तो उसे आने वाले इतिहास-लेखक सुधार लेगे।" इस घोषणा के अन्त में आर्यसमाजी पत्रों के सम्पादकों से पत्रों की फ़ाइलें और संस्थाओं के सचालकों से उन की रिपोर्टें भेजने के लिये अपील की गई थी। इतिहास के साथ साथ दसों उपनिषदो का हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में भाष्य करने का भी विचार किया। इतिहास की सामग्री जमा करने के लिये आर्यसमाजों में घूमने की आवश्यकता प्रतीत हुई। दो मास का दौरे का कार्यक्रम बना कर आप निकल पड़े। इतिहास की सामग्री जमा करने के साथ-साथ व्याख्यानों द्वारा 'ब्रह्मचर्य का सन्देश' जनता को सुनाते हुए आचार की शुद्धता की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने का यत्न भी किया। पंजाब के दो मास के दौरे में इतिहास की बहुत सामग्री हाथ आ गई और चारों ओर से भी बहुत सा मसाला आना आरम्भ हो गया। दौरे के बाद कुरुक्षेत्र में कार्य आरम्भ किया ही था कि प्रतिनिधि-सभा, पंजाब के प्रधान श्री रामकृष्ण जी तथा गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री रामदेव जी के आग्रह तथा अन्तरंग सभा की प्रार्थना पर आपने

गुरुकुल कांगड़ी मे ही बैठ कर इतिहास लिखने का निश्चय किया। पौष मास में आप गुरुकुल-कांगड़ी आ गये। 21 पौष सम्वत् 1974 में 'प्रचारक' मे प्रस्तावित इतिहास का एक ख़ाका प्रकाशित कराया गया। गुरुकुल-कांगडी के सोलहवें वार्षिकोत्सव अर्थात् चैत्र सम्वत् 1974 तक आपने इतिहास की अच्छी तैयारी कर ली थी और कोई 32 हजार काग़ज़ों की जॉच पड़ताल थी कर ली थी। इतिहास लिखने का कार्य शुरू होने को ही था कि गढ़वाल की दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की दु:खभरी आहों ने उधर खीच लिया। पॉव-छः मास उस काम मे निकल गये। फिर आर्यसमाज-धौलपुर की समस्या सुलझाने में एक मास लग गया। इसी बीच मे कनखल के पास कटारपुर में हिंदू-मुसलमानों मे भयानक मार-पीट हो गई, जिसमे कनखल के भी कुछ रईस व साहूकार पकड़े गये। कनखल तथा हरिद्वार के आस-पास इतना आतक छा गया था कि मुँह खोलते हुए भी लोग डरते थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुक़दमा लड़ने आदि में तो कोई प्रत्यक्ष सहायता नही की, किंतु कनखल-हरिद्वार के लोगों को काफ़ी धीरज बँधाया, गिरफ़्तार हुए लोगों के परिवारों को हौसला दिया और उनकी दर्दभरी आवाज़ को दूसरे नेताओं तक पहुँचाया। महामना मालवीय जी को इसके लिये प्रेरित करने वालो में स्वामी जी का बहुत अधिक हाथ था। कटारपुर गुरुकुल के सामने गगा के ठीक दूसरे पार था। इसलिये पुलिस की कृपा-दृष्टि गुरुकुल पर भी पड जाती, यदि स्वामी जी उस समय सत्साहस का परिचय न देते। इसी समय गुरुकुल मे इनफ़्लुएजा की बीमारी फूट निकली जिसने भयानक रूप धारण कर लिया था। आचार्य रामदेव जी के परिवार पर भी उसने हमला बोल दिया था। इसलिये आप ब्रह्मचारियो मे आ-जा नही सकते थे। डेढ-दो मास स्वामी जी ने वैसे ही लग कर ब्रह्मचारियो की सेवा की, जैसे कि आचार्य होते हुए करते थे। अपने बॅगले के पास ही रोगियो का कैम्प डलवाया, बॅगले का कुछ हिस्सा भी खाली कर दिया और स्वय दिन-रात सब व्यवस्था का निरीक्षण करते रहे। नवम्बर मे लाहौर-आर्यसमाज का उत्सव भुगता कर देहली आ गये और देहली मे नया बाजार मे सेठ रग्घूमल जी के उस नये मकान मे स्थिर रूप से रहना शुरू कर दिया, जो उन्होंने आपके अधीन कर दिया था। इसी मकान मे आप ने अमर-पद की प्राप्ति की। उस मकान का नाम 'श्रद्धानन्द-भवन' और नया बाजार का नाम 'श्रद्धानन्द-बाजार' रखा गया। देहली में देश के सार्वजनिक जीवन मे कुछ ऐसा पैर फॅसा कि इतिहास बीच मे ही रह गया। कई बार सकल्प तथा यत्न करने पर भी और दो-एक बार कुछ लिख लेने पर भी वह काम पूरा नही हो सका। मथुरा की श्रीमद्दयानन्द-जन्म शताब्दी के शुभ-अवसर

पर आप के सुयोग्य पुत्र प. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति ने उस संकल्प को पूरा किया और 'आर्यसमाज के इतिहास' की पहिला भाग लिख कर प्रकाशित किया। आपकी बड़ी इच्छा तो यह थी कि आर्यसमाज के सम्बन्ध में आप अपने निजी अनुभवों को प्रकाशित करे। पर, आपकी वह इच्छा पूरी न हुई और आपकी इच्छानुसार आर्यसमाज का इतिहास भी पूरा नहीं लिखा जा सका।

4. गढ़वाल में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता

गुरुकुल से किसी कार्यवशात् स्वामी जी बिजनौर गये। वहाँ आप को पता चला कि समाचार-पत्रों में उत्तराखण्ड गढवाल मे दुर्भिक्ष फैलंने के जो समाचार प्रकाशित हो रहे है वे सब ठीक हैं। उन मे सन्देह के लिये गुंजायश इसलिये थी कि सरकार की ओर से दुर्भिक्ष के होने का खण्डन किया जा रहा था। इस मे सरकार का कुछ हेतु भी था। मुख्य हेतु तो यह था कि गढवाल में यूरोप के महायुद्ध के लिये भरती का काम खूब जोरो पर था। दुर्भिक्ष-पीडित लोग निर्वाह का कोई और उपाय न देखकर सेना मे दबादब भरती हो रहे थे। सरकार यह कैसे सहन कर सकती थी कि मैदान के लोग पहाड जाकर उस के इस कार्य मे खलल पैदा करे। दुर्भिक्ष की पीड़ा दूर होने से ही उस मे खलल पैदा होने का भय था। ईसाई-मिशनरियो ने भी गढ़वाल मे अपना मायाजाल अच्छा बिछाया हुआ था। उन के कार्य मे खलल पैदा होने से भी सरकार की स्पष्ट हानि थी। अज्ञानान्धकार मे सोयी पडी हुई जनता का मैदान के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ के साथ ससर्ग मे आना भी सरकार को अभीष्ट नही था। दुर्भिक्ष को छिपाने का यत्न करते हुए भी सरकार से कुछ भूलें हो गई। एक तो जमीन का नया बन्दोबस्त शुरू कर दिया, जिस पर बहुत शोर मचा। सरकार ने इस को शुरू तो किया था दुर्भिक्ष की अवस्था छिपाने के लिये, किन्तु प्रतिकूल आदोलन इतना बढ़ा कि प्रातिक कौसिल मे भी प्रश्न उठा कि दुर्भिक्ष के दिनो मे यह नया वन्दोबस्त क्यो किया जा रहा है? वहाँ कह दिया गया कि दुर्भिक्ष नही है, बन्दोबस्त जारी रहेगा। पर, असन्तोष की आग की लपटे युद्ध के मैदान मे गई हुई गढ़वाली सेनाओं मे जा फैली। इस पर बन्दोबस्त का काम एकाएक ही बन्द करना पड़ा। दूसरी भूल सरकार से यह हुई कि बद्रीनाथ की यात्रा यह कह कर बन्द कर दी गई कि वहाँ वहुत महँगी है। धर्म-परायण लोगो में बडी खलबली मच गई। उन्होंने अपने स्वार्थवश ऊपर अनाज भेजना और यात्रा खुलवाने का आदोलन शुरू किया। यात्रा खुलने

का उद्देश्य पूरा होते ही अनाज भेजना बन्द कर दिया गया। स्वामी जी का हृदय कुछ प्रारम्भ से ही ऐसे दुर्भिक्षों के समय बहुत व्याकुल हो जाता था। गुरुकुल में रहते हुए भी देश में कभी कहीं दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आने पर आप अध्यापकों तथा ब्रह्मचारियों को कुछ न-कुछ त्याग करने के लिये अवश्य ही प्रेरित किया करते थे। पहिले ही त्याग का जीवन बिताने वालों का थोड़ा-सा भी त्याग दूसरो में बहुत बड़ा त्याग करने की स्फूर्ति पैदा कर देता है। अपने कार्यकताओं द्वारा स्वयं अनुसन्धान करके वस्तुस्थिति मालूम की और लाहौर के उर्दू दैनिक 'देश' में एक अपील प्रकाशित कर दी। वह ता. 23 अप्रैल सन् 1918 के दिन प्रकाशित हुई और ता. 24 अप्रैल से ही गुरुकुल कांगड़ी में आप के नाम पर मनीआर्डर पर मनीआर्डर आने शुरू हो गये। ता. 24 को भारत-हिन्दू-सभा के मन्त्री जागे और तारीख 25 को महात्मा हंसराज जी की भी एक अपील समाचार-पत्रों मे प्रकाशित हुई। यत्न किया गया कि सब मिल कर काम करें। पर, अलग-अलग ढपली पर अलग-अलग राग अलापने की भारत की बीमारी उस समय भी कैसे दूर हो सकती थी? फिर भी अलग-अलग कार्यक्षेत्र बॉट लिये गये। कोटद्वार के मार्ग से पौड़ी-श्रीनगर होते हुए बद्रीनाथ तक सहायता पहुँचाने का काम स्वामी जी के सिपुर्द हुआ। स्वामी जी गुरुकुल से 3 मई को पहाड़ी-जंगल रास्ते से कोटद्वार को चल दिये। रास्ते में झगडूखाल में एक पुरानी पाठशाला को ईसाई-पादरियों के हाथ से निकाल कर उसका स्वतन्त्र प्रबन्ध कर दिया और उसके लिये 2500 रु. की अपील करते हुए साथ में उसमे कुछ दूरी पर एक और वैसा ही स्कूल चलाने के लिये भी 2500 रु. की अपील समाचार-पत्रों में निकाल दी। बिना विलम्ब 5 हज़ार रुपये आपके पास आ गये और वे गुरुकुल-कांगड़ी के कोष में पाठशालाओं के लिये जमा कर दिये गये। कोटद्वार पहुँच कर पण्डित गंगादत्त जी के सहयोग से दुर्भिक्ष-पीडितों को सहायता पहुँचाने की सब व्यवस्था की। 7 मई को आपको कन्या-गुरुकुल के सम्बन्ध में देहली में होने वाली एक सभा के लिये वहाँ जाना आवश्यक था। उसको निबटा कर आप 10 को गुरुकुल लौट आये। यहाँ महामना मालवीय जी की इलाहाबाद-भारत-सेवा-समिति के मन्त्री श्री हृदयनाथ जी कुजरू इलाहाबाद से आकर आपको मिले। उन्होने समिति की ओर से आपके दल के साथ मिल का काम करने की इच्छा प्रकट की। आपने सहर्ष स्वीकार किया। दोनों ने एक साथ मिल कर काम शुरू किया। स्वामी जी ने स्वयं पौड़ी में जाकर आसन जमाया। अपने सुपुर्द किये गये कार्यक्षेत्र मे पॉच कैम्प खोल कर स्वयंसेवकों का जाल बिछा दिया। एक-एक गॉव में घूम कर एकदम असहाय तथा कुछ-कुछ

पीडित लोगों की तालिकाएँ तैयार की गई। असहायों को मुफ्त सहायता दी जाती थी और कुछ-कुछ पीड़ितों को सस्ते दामों में अन्न मोल दिया जाता था। गुरुकुल के बहुत से स्नातक और ब्रह्मचारी आपके पास सेवा के लिये जा पहुँचे थे। 12 श्रावण सम्वत् 1975 के 'प्रचारक' में आपने लिखा था–"जो रुपया और अनाज आज तक मेरे तथा भारत-सेवा-समिति के पास दान में आ चुका है, उसका जोड़ 85 हज़ार के लगभग है। मैं गुरुकुल के स्नातकों, ब्रह्मचारियों तथा गुरुकुल के प्रेमियों के प्रतिनिधि-रूप से ही काम कर रहा हूँ। आज तक सब काम मेरी अध्यक्षता में हो रहा है। मैं उन सब को आर्य जनता की ओर से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने निःस्वार्थ-भाव और परिश्रम से काम करने मे आर्यजाति के नेताओं का हाथ बँटाया है। परमेश्वर उन सब को भविष्य में इससे भी अधिक धर्म-भाव से काम करने के लिये प्रेरित करे–यह मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।" पूरे दो मास स्वामी जी ने पहाड़ पर बिताये। 19 दिन में 268 मील का दौरा किया। शेष दिन पौड़ी में बैठ कर सब काम की व्यवस्था करते रहे। सेवा-समिति के श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी को सब काम सँभलवा कर 4 अगस्त को आप गुरुकुल लौट आये।

इस काम के लिये 70330 ।≡)॥। आपके पास जमा हुआ। 54389 ।=)। गढ़वाल मे ख़र्च किया गया। 10 हज़ार रुपया आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब को ऐसे ही किसी भावी-संकट के निवारण के काम में लाने के लिये आपने सौंप दिया। 5 हजार भारत-सेवा-समिति के सुपुर्द कर दिया। 500) रु. अछूतोद्धार के काम के लिये प्राप्त हुआ था, वह उस काम में लगा दिया गया। शेष धन, दुर्भिक्ष-कार्य की रिपोर्ट और उत्तराखण्ड-सम्बन्धी कुछ साहित्य प्रकाशित कर उसको दानियों के पास पहुँचाने में खर्च हुआ। पौड़ी से लौटते हुए कोई 23000 रु. का अन्न वग़ैरह आप तिवारी जी के सुपुर्द कर आये थे और गुरुकुल से भी दस हज़ार रुपया बीमा से भेजा था। उस सब का हिसाब भारत-सेवा-समिति के ही पास रहा। बिना कहीं आये गये और बिना किसी विशेष यत्न के केवल एक अपील पर इतनी घड़ी रकम आपके पास चले आना आपके प्रति जनता के प्रेम, विश्वास एवं श्रद्धा को प्रगट करता है।

इस प्रकरण में दो-एक घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रारम्भ में सरकार की ओर से आपको तथा आपके कार्यकर्त्ताओ को सब सहूलियतें प्राप्त थीं, किन्तु यह अनुकूलता अधिक दिन क़ायम नही रही। जिस भाव से सरकार दुर्भिक्ष की वास्तविकता को छिपा कर मैदान के लोगों को ऊपर नहीं आने देना चाहती थी, वह भाव बिलकुल दबा नहीं था। थोड़े ही दिन बाद वह फिर जाग

उठा। भारत-सेवा-समिति का झण्डा पौडी में केम्प पर फहरा रहा था। पहाड़ी जिलो के मजिस्ट्रेट तो वहॉ के राजा ही होते हैं। उसकी ऑखों मे वह चुभने लगा। अर्दली की मार्फ़त झण्डा उतारने का हुक्म भेजा गया। स्वामी जी ने कह दिया कि "जाओ, अपने मालिक से कह दो कि यह झण्डा गोखले की आत्मा ने लगाया है। सिवा उसके दूसरा कोई इसको उतार या उतरवा नहीं सकता।" यह गुस्ताख़ी सरकारी अधिकारियों को उभारने के लिये बहुत थी। प्रदेश-भर में सरकारी अधिकारियों ने कुछ जी-हुजूरों को साथ लेकर स्वामी जी और उनके सहकारियों के प्रतिकूल एक षड्यन्त्र रचा। एक स्वयंसेवक द्वारा गढवाली लोगों की सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक-अन्धविश्वासों के सम्बन्ध में 'प्रचारक' में लिखे गये लेखों को लेकर अनगढ, अशिक्षित और नासमझ जनता को उभारा गया। उनको कहा गया कि 'आर्या' इस बहाने आर्य धर्म को फैलाने के लिये यहॉ आये हैं। गढ़वाली लोगो की पचायत करके साथियों सहित स्वामी जी के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार का फ़तवा दिया गया। उन द्वारा स्थापित अन्न के भण्डारों का भी बहिष्कार कराने का असफल यत्न किया गया। सरकारी कोप का एक कारण यह भी था कि सरकार ने भी अपनी उदारता का परिचय देने के लिये 'गढ़वाल-सेण्टल-फ़ेमिन कमेटी' बनाई थी और उसकी ओर से सस्ते अनाज के कुछ डिपो भी खोले थे। वह कमेटी और उसके डिपो स्वामी जी के काम के सामने चल नहीं सके। सरकार की ऊॅची नाक इस अपमान को कैसे सह सकती? इस प्रकार रचे गये षड्यन्त्र से पैदा की गई असन्तोष की अग्नि एक बार तो बड़े ज़ोरो से भभक उठी। पौड़ी में एक बडी बहिष्कार-सभा की आयोजना की गई। स्वामी जी का सिर काट लेने की धमकियॉ दी जाने लगीं। सभा के दिन सवेरे स्वामी जी दौरे से लौट रहे थे कि पौड़ी के कुछ सज्जन दो मील की दूरी पर ही जाकर आप से मिले। आप के पैरों मे माथा टेक कर आप से उन्होंने प्रार्थना की कि यहीं से लौट जाइये। पौड़ी मे आपके जाने से ख़ून खराबी हो जायगी और महान् अनर्थ मच जायगा। अग्नि से खेलने के आदी स्वामी जी फिर भी पौड़ी आये और वेकटेशनारायण जी तिवारी तथा श्रीराम जी वाजपेयी आदि के हजार मना करने पर भी शाम की सभा में नियत समय 4 बजे से 15 मिनट पहिले ही जाकर सभापति के आसन के पास जा बैठे। असन्तोष का ज्वार-भाटा उस शांत, गम्भीर और भव्य मूर्ति का दर्शन करते ही उतर गया। जमुना का तूफ़ान वासुदेव के पैर का स्पर्श करते ही शांत हो गया। नमकहलाली का परिचय देते हुए दिलों के अरमान निकल कर अपने को धन्य करने के अलभ्य अवसर की कई दिनों से प्रतीक्षा में बैठे हुए

जी-हजूरो की दिल की दिल मे रह गई। स्वामी जी के साहस, धैर्य और आत्मविश्वास की चारों ओर विजयदुन्दुभि बज गई। कायरता पर धैर्य ने, अनैतिकता पर नैतिकता ने और जीहजूरी पर कर्तव्यपरायणता ने विजय लाभ की। विरोध और बहिष्कार दब गया। दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की सेवा का सब काम सुव्यवस्थित करके स्वामी जी विरोध में भी विजयी होकर गढ़वाल से वापिस हुए। गुरुकुल जाकर इतिहास के काम को हाथ लगाया ही था कि धौलपुर के आर्यसमाज-मन्दिर का मामला उठ खडा हुआ।

5. धौलपुर का समाज-मन्दिर

धौलपुर में आर्यसमाज-मन्दिर का एक भाग गिराकर राज की ओर से वहाँ आम लोगों के लिये टट्टियाँ बनवाई जाने लगी थीं। स्थानीय आर्य पुरुषों के अनुनय-विनय-विरोध को राज ने अनसुना कर दिया। समस्त आर्य-जगत् में भयंकर विक्षोभ पैदा हो गया और आर्य जनता ने भी एक व्यकित के समान विरोध में आवाज़ उठाई। जब उस विरोध का भी कुछ फल न निकला, तब आर्य-संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। धौलपुर-महाराज के राजप्रासाद के द्वार पर जाकर अन्न-जल ग्रहण किये बिना बैठ जाने और अन्याय का प्रतिकार हुए बिना वहाँ से न उठने का निश्चय किया। इस घोषणा ने आर्य-जनता में बेचैनी पैदा कर दी और जगह-जगह से आर्यों ने धौलुपर जत्थे भेजने की तैयारी शुरू की। धौलपुर की आर्य देवियों ने भी अदम्य उत्साह का परिचय दिया। अकड़ी हुई राजसत्ता को झुकना पडा और आर्यों के प्रति किये जाने वाले अन्याय का प्रतिकार करना पड़ा। आर्य जनता के हृदय-सम्राट् ने जीवन की बाज़ी लगाकर उस के प्रति किये जाने वाले अन्याय का प्रतिकार करवाया।

6. राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में

धौलपुर से निबट कर स्वामी जी गुरुकुल पहुँचे ही थे कि वहाँ इनफ्लूएंज़ा की बीमारी में ब्रह्मचारियों की सेवा में आपको दिन-रात एक करना पड़ा। बीमारी शांत होने के बाद आप नवम्बर सन् 1918 के अन्त में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर होते हुए देहली चले आये और देहली में ही निश्चित रूप से रहने का विचार कर लिया। दिसम्बर में कांग्रेस की धूमधाम से निवृत्त होकर फिर इतिहास के साथ-साथ आर्य-सार्वदेशिक-सभा को, जिस के कि आप प्रधान थे, जीवित एवं जाग्रत संस्था बनाने का यत्न शुरू किया। इस सम्बन्ध में अभी कुछ अधिक काम नहीं हुआ था कि महात्मा गांधी की सत्याग्रह की घोषणा ने आप को उधर खींच लिया। सत्याग्रह की ओर आप इतनी जल्दी कैसे खिंच गये—यह जानने के लिये कुछ पीछे की ओर लौटना होगा। जीवनी के पिछले पृष्ठों में जानबूझ कर स्वामी जी के राजनीतिक विचारो तथा कार्यो की ओर संकेत नहीं किया गया है। उन सब का एक ही प्रसंग में उल्लेख करना इसलिये भी आवश्यक समझा गया है कि स्वामी जी की राजनीतिक विचार-सरणि और उन के जीवन के राजनीतिक उतार-चढाव को समझने मे पाठकों को कुछ कठिनाई न हो। प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये उस को निम्न भागों में बॉट लेना अच्छा है—(क) राजभक्त, (ख) राजद्रोही-सत्याग्रही, (ग) पंजाब तथा अमृतसर-कांग्रेस में, (घ) असहयोग के मैदान में, (ङ) अमृतसर जेल मे, (च) कांग्रेस से जुदाई।

(क) राजभक्त

स्वामी श्रद्धानन्द जी मुंशीराम जी के रूप में कभी राजभक्त भी थे, इस बात पर कुछ पाठकों को सहसा विश्वास न होगा। सन् 1857 के विप्लव के बाद रानी विक्टोरिया की किसी के धर्म में हस्तक्षेप न करने की घोषणा ने भारतवासियों पर सचमुच कुछ ऐसा जादू किया था कि अच्छे से अच्छे विचारशील लोगो को

भी उसने मूढ़ बना दिया था। अपने धर्म-प्रचार की धुन के पीछे पागल आर्यसमाजियों को तो उसने मूर्छित ही किया हुआ था। मुंशीराम जी पर भी यह मूर्छा पूरी तरह छाई हुई थी। आश्चर्य तो यह है कि सन् 1901 से 1912 तक सरकार द्वारा इतने लांछित, अपमानित एवं पद-दलित होने पर भी आर्यसमाजियों की वह मूर्छा भग नहीं हुई। आर्यसमाजियों का यह आन्तरिक विश्वास था कि देश का कल्याण अंग्रेजी राज से है। अंग्रेजों ने भारतीयों के दिमाग़ में मुसलमानी अत्याचारों का अत्युक्तिपूर्ण इतिहास ऐसा ठोस-ठोंस कर भर दिया था कि उनके सामने अंग्रेज़ी-राज राम-राज ही प्रतीत होता था। वे समझते थे कि जिस स्वच्छन्दता के साथ इस राज मे धर्म-प्रचार का काम होता है, वैसा किसी और राज में होना सम्भव नहीं। अग्रेज़ो की धार्मिक-स्वतन्त्रता पर आर्य समाजी मुग्ध थे। आर्यसमाज के प्रति सरकार के दमन का अर्थ यह किया जाता था कि सरकारी अधिकारियों को आर्यसमाज के प्रति कुछ स्वार्थियों के बरग़लाया है, जानबूझकर आर्यसमाज के लिये उनमे झूठा सन्देह पैदा किया है। इसलिये आर्यसमाजी इतने दमन के बाद भी सरकार से कभी रुष्ट नहीं हुए। सरकारी अधिकारियों के प्रति भी उन्होंने कभी रोष प्रगट नही किया। सम्वत् 1964 में सम्राट् एडवर्ड के जन्मदिन पर सरकार का आर्यसमाज की ओर से धन्यवाद माना गया था, जिसकी कुछ राष्ट्रीय पत्रों ने आलोचना की थी। उस को ठीक बताते हुए महात्मा मुंशीराम जी ने लिखा था—"आर्यसमाज का प्रचार ब्रिट्रिश गवर्नमेण्ट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओ तथा मुसलमानो की रियासतों मे जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नही है। हम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की रक्षा का लाभ उठाते है, उस के लिये साल में एक बार धन्यवाद अवश्य देना चाहिये। यदि ब्रिटिश प्रजा होने के कारण कुछ अधिकार हैं, तो कुछ कर्तव्य भी है।...भारतवर्ष-मात्र के आर्यसमाजो को एकमत होकर गवर्नमेण्ट के धन्यवाद के लिये एक दिन नियत करना चाहिये।" ऐसे उद्धरणों को अधिक देने की आवश्यकता नही। अग्रेज़ी सरकार की नेकनीयती पर आप को पूरा विश्वास और भरोसा था। देहली-दरबार के समय सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके 'सम्राट्! तुम यही रहो' के शीर्षक से लिखा गया 'प्रचारक' का मुख्य लेख आप की अगाध राजभक्ति का जीता जागता चित्र था। सम्वत् 1969 मे लार्ड हार्डिग के देहली-प्रवेश के समय आर्य-सार्वदेशिक-सभा की ओर से स्वागत का अभूतपूर्व प्रबन्ध किया गया था। सभा के कार्यालय ज्योतिः-पाठशाला के ठीक सामने मैदान में बड़ा शामियाना सजाया गया था, जिस मे अढ़ाई-तीन सौ आर्यसमाजी बैठे थे। शामियाने के सामने दो चौकियाँ थी, जिन

पर आर्यसमाज के भूषण श्री स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज, महात्मा मुशीराम जी, पूर्णानन्द जी, राय रोशनलाल जी बैरिस्टर, बृजनाथ जी बी.ए. इत्यादि विराजमान थे। जैसे ही वायसराय का हाथी शामियाने के सामने आया, सब ने खड़े हो कर शातिपाठ पढ़ा और 'नमस्ते भगवन्!' के ऊँचे नाद से मण्डल को गुँजा दिया। राजद्रोही ठहराये जाकर गहरे दमन की चक्की मे पीसे जाने वाले समाज की गहरी राजभक्ति का इससे बढ़िया चित्र और नही खीचा जा सकता। वह राजभक्त मुंशीराम जी के ही दिमाग की उपज था। सरकार को भी आप की राजभक्ति पर पीछे इतना विश्वास हो गया कि सन् 1916 मे लखनऊ-कांग्रेस के अवसर पर सयुक्त प्रांत के उस समय के लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने आप को अपने यहाँ बुलाकर आपके सुपुर्द यह काम किया था कि आप मि. कर्टिस को महात्मा गांधी से मिला दें और भारतीय नेताओं के सामने भावी शासन-सुधारों के सम्बन्ध मे उस योजना को पेश करें जिस की रूप-रेखा मारिस-कर्टिस-सरक्यूलर में अकित की गई थी।

सरकार के प्रति आपकी राजभक्ति और सरकार के आपके प्रति इस विश्वास में एक बात बहुत अच्छी यह थी कि आपकी राजभक्ति मे पूरी ईमानदारी होते हुए भी उसमे खुशामद की गन्ध तक नही थी। खुशामद और चापलूसी के भाव आप में वश-परम्परा से ही नही थे। यदि वे कुछ थोडी-सी भी मात्रा मे होते तो नायब-तहसीलदारी मे पडने के बाद न मालूम आप किधर चले गये होते? लाला लाजपतराय जी के निर्वासन पर आपने जिस धीरता और वीरता का परिचय दिया था, खुशामद और चापलूस स्वभाव होने पर उस का परिचय देना सम्भव नही था। सन् 1906-7 के सरकारी दमन का भी आपने तीव्र विरोध किया था और लिखा था—"जेल भरने से यह रोग दूर न होगा।" अमरावती से निकलने वाला 'कर्तव्य' बहुत ही गरम पत्र था। चेतावनी मिलने पर उसने लिखा था कि हम कर्तव्य पालन से कभी विमुख नही होंगे। दिसम्बर सन् 1907 में जब उस पर राजद्रोह का मुकदमा चला तब उसने क्षमा माँगकर अपना छुटकारा कराया था। इस पर आपने लिखा था—"ऐसे गिरे हुए लफंगे यदि स्वराज्य प्राप्त कर भी लें तो विचारणीय यह है कि वह स्वराज्य कही रसातल में ले जाने वाला तो सिद्ध न होगा।" पंजाब के लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर इबिट्सन के स्मारक बनाने का जब आदोलन उठाया गया था, तब आप ने रायबहादुरान लालचन्द, मोहनलाल, ईश्वरदास के नाम देते हुए लिखा था "क्या रायबहादुरान इबिट्सन साहब के इसलिये कृतज्ञ है कि उन्होंने उनके आर्य भाई लाजपतराय को बिना अपराध देश-निकाला दिया

था? सम्भव है रायबहादुर भक्त नारायणदास एम. ए. भी इस शुभ कार्य में दिल खोल कर चन्दा दें मैंने उनसे पूछूँगा कि क्या यह ठीक नहीं है कि आप गुजरांवाला की डिपुटी-कमिश्नरी करते हुए इबिट्सन साहब के धमकाने पर ही आर्यसमाजों के अधिवेशनों में न जाते थे? यह सच है कि वर्तमान अवस्था में रायबहादुरों को लाट साहबों की खुशामद करनी पड़ती है, किन्तु खुशामद की कहीं हद भी होनी चाहिये।'' कभी मद्रास में कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष होने वाले मि. नार्टन जब बंगाल में क्रांतिकारियों के प्रतिकूल सरकार की ओर से वकील हुए थे, तब उनके इस कृत्य की आपने घोर निन्दा की थी और सरकारी गवाह बनने वाले गोसाई नरेन्द्रनाथ को 'महा अधम विश्वासघातक' लिखा था। महाराजा दरभंगा ने अपने जन्म-दिन पर 2॥ लाख रुपया बंगाल-सरकार को कलकत्ता-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के लिये भवन बनाने को दिया था। उस पर आप ने लिखा था—''महाराजा सनातनधर्म-महामण्डल के प्रधान हैं। महामण्डल के मन्त्री ने एक ब्रह्मचर्याश्रम खोलने के लिये अपील कई वर्षों से निकाल छोड़ी है। क्या उसके लिये दान उपयोगी न था?...यह सिद्ध है कि वाममार्गी महाराजा साहब दरभंगा सनातनधर्म-महामण्डल के प्रधान पद पर धार्मिक विचार से नहीं, प्रत्युत किसी अन्य विचार से ही सुशोभित हो रहे हैं।''

राजभक्तिपूर्ण विचारों के बाद ऊपर के इन विचारों को पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चरित्रनायक की राजभक्ति में सचाई थी, किन्तु चापलूसी या खुशामद लेशमात्र भी नहीं थी। यदि राजभक्ति के साथ कुछ था तो वह देशभक्ति ही थी, किन्तु आपका देशभक्ति का दृष्टिकोण भी कुछ दूसरा ही था। न वह लोकमान्य के साथ मिलता था और न गोखले के साथ, न वह कांग्रेस के साथ मिलता था और न नेशनल सोशियल कान्फरेंस के साथ। आप स्वभाव से ही पूर्णरूपेण धार्मिक, सरल, सत्यप्रेमी और अहिंसावादी थे। इस लिये कुटिल राजनीति से आपको बहुत घृणा थी। पुरानी कांग्रेस में कभी दर्शक और कभी प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित होते हुए भी आप उसके साथ तन्मय नहीं हुए, अपितु उससे दूर ही दूर होते चले गये। आपके इस स्वभाव को प्रगट करने के लिये भी दो-एक उद्धरण यहाँ देने आवश्यक हैं। सन् 1907 में कांग्रेस के डेपूटेशन पर लाला लाजपत, गोखले और सुरेन्द्र बाबू जब विलायत गये थे, तब आपने लिखा था—''इन डेपूटेशनों से तरक्क़ी की आशा रखना हानिकारक है। मेरी अपनी राय यह है कि इस धन और समय को व्यर्थ न खोकर हिन्दुस्तान के एक-एक व्यक्ति को अपना चरित्र और आगामी सन्तति के चरित्र को सुधारने में लग जाना चाहिये।'' स्वदेशी की

आड़ में पाप करने से बचने के लिये अपील करते हुए आपने लिखा था—"मुक़ाबला स्वदेशी पाप तथा विलायती पाप का नहीं होना चाहिये; प्रत्युत पाप का सर्वथा त्याग करना ही सच्ची स्वदेशी स्पिरिट है।" दो कांग्रेसी वकीलों के विलायती शराब पीकर वेश्याओं के यहाँ जाने की घटना को देते हुए आपने लिखो था—"उनसे किसी भले आदमी से कहा—'लाला जी, आप तो कांग्रेस के भूषण हो, यह निन्दनीय कर्म क्या कर रहे हो?' पोलिटिकल पहलवान ने लड़खड़ाती वाणी में गालियाँ देते हुए कहा—'अरे...खड़े तो हम...स्वदेशी वेश्या के दर पर हैं।' यदि स्वदेश से मतलब पवित्र आर्यावर्त भूमि है तो ऐसे पुलिटिकल लोगों के प्रेम से उसकी सुरक्षा की आवश्यकता है। इस भूमि में इन्द्रियो पर विजय पाकर आत्मा के स्वतन्त्र होने का नाम स्वराज्य प्राप्ति था। आज अपने वृद्धों की पगड़ियाँ उछालना ही स्वराज्य का आदर्श समझा जाता है।" सूरत में कांग्रेस में जो फूट पैदा हुई थी, उसके लिये सचमुच आँसू बहाते हुए आपने लिखा है—"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियाँ तुम्हारे अपने वश में नहीं, जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? अधिकार! अधिकार!! अधिकार!!! हा! तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी? क्या तुमने 'कर्तव्य' कभी नहीं सुना? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो? मातृभूमि में अधिकार का क्या काम? यहाँ धर्म ही आश्रय दे सकता है। अधिकार शब्द से 'सकामता' की गन्ध आती है। विषयवासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस 'अधिकार' की वासना को अपने हृदय से नोच कर फेंक दो। निष्काम-भाव से धर्म का सेवन करो। माता पर जब चारों ओर से प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़ कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो, क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है?...शब्दों पर क्यो झगड़ा करते हो? क्यो न स्वराज्य प्राप्ति के साधनों को सिद्ध करने मे लगो? स्वराज्य के प्रकार का झगड़ा आने वाली सन्तानों के लिये छोड़ो। उनकी स्वतन्त्रता पर इस समय इन झगड़ों से जजीरें डालना अधर्म है। इस समय दोनों छल-कपट से काम ले रहे है। जिस कांग्रेस का आधार अधर्म पर है, उसका प्राप्त कराया हुआ स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख तथा शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा।...एक ऐसे धार्मिक दल की आवश्यकता है जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो जैसा कि अपने भाई को, जो सरकारी अत्याचारों को प्रगट करते हुए अपने भाइयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो, जो मौत के भय से भी न्याय के पथ को छोडने का विचार तक मन मे न लाने वाला हो।

पुलिटिकल-जगत् मे ऐसे ही अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा और क्या उसके पीछे चलने वाले पॉच पुरुष भी निकलेंगे? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षो के लिये तह करके रख दो।" इतना लम्बा उद्धरण यहॉ इसीलिये दिया गया है कि चरित्रनायक की राजनीतिक-आत्मा का यथार्थ चित्र इसमें अंकित है। ऐसे ही एक दूसरे लेख में आपने लिखा था—"यदि अग्नि और खड्ग की धार पर चलने वाले दस पागल आर्य भी निकल आवें तो राजा और प्रजा दोनों को होश में ला सकते हैं।...भगवन्! आर्य-समाजियों की आँखें जाने कब खुलेंगी?" इसी दृष्टि से आप नरम-दल वालों के लिये 'भिक्षार्थी', गरम-दल वालों के लिये 'सुखार्थी' और सरकार के लिये 'गोसशाही' शब्दो का प्रयोग किया करते थे।

ये विचार सम्वत् 1964-65, सन् 1907-8, में प्रगट किये गये थे। जिस अग्रणी या महात्मा के आगे आने की आवश्यकता ऊपर के विचारों में कही गई थी, गांधीजी ने उसको पूरा किया और गाधीजी का व्यक्तित्व ही स्वामी जी को 'राजद्रोही-सत्याग्रही' के रूप मे देश के सार्वजनिक-राजनीतिक-जीवन में ऐसे खींच लाया, मानो कि वे गुरुकुल-कागडी से देहली रहने को इसी काम के लिये आये थे।

(ख) राजद्रोही-सत्याग्रही

न केवल आप के विचार किन्तु आप की वृत्ति भी बहुत कुछ महात्मा गाधी के साथ मिलती थी। उस पारस्परिक आकर्षण को पैदा करने वाली अनुकूल परिस्थिति भी आप ही पैदा हो गई। यूरोप के महायुद्ध की सेवाओ को पुरस्कार पाने की आशा में बैठे हुए देश को रॉलेट एक्ट का पुरस्कार प्राप्त हुआ। देश मे भयंकर और ठोस आदोलन उठ खड़ा हुआ। प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति के सम्पादकत्व और आप के तत्त्वावधान में निकलने वाले देहली के दैनिक 'विजय' ने उस आदोलन में अपने प्राणों की बाजी लगा दी। कौंसिल मे प्रायः सभी भारतीय सदस्यो ने एक्ट के विरोध का निश्चय किया और कौसिल से उठ आने तक का भी विचार पक्का कर लिया। माननीय श्रीनिवास शास्त्री विरोध मे ज़ोरदार भाषण देने पर भी उठ आने से सहमत नहीं हुए। मालवीय जी स्वामी जी के पास आये कि वे शास्त्री जी को भी उस के लिये तैयार करे। शास्त्री जी के यहॉ पहुँचते ही वे महात्मा गाधी की सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की ओर संकेत करते हुए बोले—"क्या आप ने अपने महात्मा का नया रंग देखा है? लीजिये, इस को पढिये। मुझ को

ज़रूर इस का विरोध करना होगा।" स्वामी जी ने केवल उस के ऊपर का हिस्सा पढ़ कर शास्त्री जी से कहा—"मानवीय अधिकारों की रक्षा का यह पहिला सिद्धान्त है। मैं स्वयं इस पर हस्ताक्षर करने को तैयार हूँ। क्या उस को प्रकाशित करने से पहिले उन्होंने आप में से किसी से सलाह नहीं की?" आप ने शास्त्री जी से यह भी कहा—"क्यों आप ऐसे कार्य का व्यर्थ में विरोध करते हैं, जिस की जिम्मेवारी आप पर नहीं है। यदि आप गांधी जी से सहमत नहीं हैं तो आंदोलन में उन का साथ मत दीजिये।" शास्त्री जी ने जब एक न मानी और यही जवाब दिया कि—'मैं तो विरोध करूँगा ही', तब स्वामी जी ने उठते हुए कहा—'तो फिर मैं भी तुरन्त महात्मा जी को तार देता हूँ कि रौलेट-एक्ट के प्रतिकूल सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर मैने भी हस्ताक्षर कर दिये हैं।' निवास-स्थान पर वापिस आते ही आपने महात्मा जी को तार दिया—"अभी अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये हैं। इस धर्मयुद्ध मे सम्मिलित होने में मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" इस तार के 'धर्मयुद्ध' शब्द से भी स्वामी जी की मनोवृत्ति पर काफ़ी प्रकाश पडता है। देहली से यह तार गांधी जी के पास जा रहा था और गांधी जी देहली की ओर आ रहे थे।

देहली में दोनों भाइयो मे दिल खोल कर बातें हुई। स्वामी जी ने महात्मा जी के सामने अपना यह कार्यक्रम उपस्थिति किया कि पंचायती अदालतें स्थापित करके सरकारी अदालतो का बहिष्कार किया जाय। अक्तूबर सन् 1919 तक भारत मे दस जिले तैयार किये जायें, जो एक साथ भूमि का लगान देना बन्द कर दे। आप ने पजाब के पॉच जिलो को तैयार करने का भार स्वीकार करते हुए गुजरात के पॉच ज़िलों को तैयार करने का काम गाधी जी को स्वय करने को कहा। महात्मा जी देश भर के सत्याग्रह के सचालन का काम बम्बई की कमेटी की अधीन रखना चाहते थे। स्वामी जी का मत था कि स्थानीय कमेटियो को भी कुछ स्वाधीनता दी जानी चाहिये। महात्मा जी ने इस पर हँसते हुए एक ही बात कही—"भाई साहब! आप देखेगे कि सत्याग्रह के सचालन मे मै पूर्णतया तज्ज्ञ हूँ और मै जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये।" स्वामी जी ने महात्मा जी की बात को मान लिया। देहली मे 7 मार्च सन् 1919 को सत्याग्रह की तैयारी के लिये पहिली सार्वजनिक-सभा हुई। 18 हज़ार की उपस्थिति मे स्वामी श्रद्धानन्द जी पहिली बार राजनीतिक-मंच पर खडे हुए। आपने सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए लोगों को बताया कि यह आंदोलन राजनीतिक की अपेक्षा अधिक धार्मिक है। देहली के पण्डित रामचन्द्र जी महोपदेशक सरीखे कट्टर आर्यसमाजी भी स्वामी

जी के प्रभाव से राजनीति की ओर खिंच आये। प्रायः समस्त देश के आर्यसमाजियो पर स्वामी जी के राजनीतिक-क्षेत्र में प्रवेश करने का अच्छा असर पड़ा। गुरुकुल-कांगडी के लिये शिल्प-शिक्षा-सम्बन्धी योजना बनाने का काम आपने पहिले ही से हाथ में लिया हुआ था। उसके लिये ही आप बड़ोदा और बम्बई की ओर गये, किंतु बम्बई की सत्याग्रह-कमेटी ने आप से अपने आंदोलन का काम भी करा लिया। इसी कारण आप बंगलौर, मद्रास और बंगाल की यात्रा पर नहीं जा सके। बम्बई में आपके पॉच व्याख्यान सत्याग्रह पर ही हुए। सूरत में 17-18 मार्च को दो व्याख्यान हुए। भडौच में भी 19 को व्याख्यान के लिये ही ठहरना पड़ा। 20 को अहमदाबाद मे वहॉ के मजदूरों और मिल-मालिकों की आपस की सुलह के वार्षिक समारोह में आप सम्मिलित हुए, जिसमें 50 हज़ार की जनता में आपका भाषण हुआ। शाम को 15 हज़ार की उपस्थिति में सत्याग्रह पर दूसरा भाषण हुआ। यही वह भाषण था जिसने वायसराय चैम्सफ़ोर्ड को भी घबराहट में डाल दिया था और उसने भारत-सचिव मि. माण्टेगू को विशेष तार भेज कर स्वामी जी के गांधी जी के साथ मिल जाने की शिकायत की थी। उस तार का आशय यह था—"आन्दोलन तेज़ी पर है। महात्मा मुंशीराम जिसने अब स्वामी श्रद्धानन्द नाम रख लिया है, गाधी के साथ इस आंदोलन में एक हो गया है। वह बहुत पुराना धार्मिक नेता है, और समाज-सुधार के नाते भी उसने बहुत नाम पैदा किया है। अब मालूम होता है कि राजनीतिक-आन्दोलन के नाते भी वह नाम पैदा करना चाहता है। कष्ट-सहन करने का जब समय आयगा तब मालूम होगा कि उसमे सहन करने की कितनी शक्ति है? उसका बड़ा पुत्र ब्यूनो एरिए में कभी सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी...का मेहमान था। उसका छोटा लड़का देहली से सरकार-विरोधी देशी-भाषा का गरम दैनिक-पत्र निकाल रहा है, देखें, क्या होता है?" ब्यूनो एरिए दक्षिण अमेरिका के एक प्रजातन्त्र राज्य की राजधानी है। बड़े लड़के से तात्पर्य पं. हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, छोटे से प. इन्द्र विद्यावाचस्पति और पत्र से 'विजय' का है। इस तार की नक़ल कोई उड़ती हुई सरकारी चिड़िया स्वामी जी के हाथ में दे गई थी। स्वामी जी ने उसको महात्मा गाधी को भी दिखाया था।

22 को देहली आकर आपने देखा कि देहली सोया पड़ा है। आप के पीछे न कोई सभा हुई थी, न कुछ आंदोलन और न प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर ही करवाये गये थे। ता. 24, 27 और 29 मार्च को सभायें हुईं। तीनों में आप के ज़ोरदार भाषण हुए। ता. 29 की सभा में ता. 30 की हड़ताल का ऐलान किया जाना था। यह हड़ताल 30 मार्च को रोलट एक्ट के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में होने

वाली थी।

30 मार्च का दिन शुभ लक्षणों के साथ प्रारम्भ हुआ। प्रातःकाल उठते ही चारों ओर हड़ताल के दृश्य दिखलाई दिये। सब बाजार एकदम बन्द थे। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या सिख और क्या जैनी सबने एकदम हड़ताल कर दी। नौ बजे तक शहर में बिलकुल शांति रही, फिर तरह-तरह के क्षोभजनक समाचार फैलने लगे। एक समाचार यह फैला कि हौज काजी के पास कुछ लड़कों ने एक मोटर को रोककर सवारों को नीचे उतरने को कहा। दैवयोग से उन सवारों में पुलिस के कप्तान भी थे, उन्होंने आव देखा न ताव सीटी बजाते हुए झट से पुलिस को बुला लिया। पुलिस ने आते ही डण्डा बरसाना शुरू कर दिया। इस पर भीड़ बिखर गई, जिसके पश्चात् पुलिस ने दो आदमियों को गिरफ़्तार कर कोतवाली में भिजवा दिया। थोड़ी देर में चार-पॉच हजार आदमी इकट्ठे हो गये। लोगों ने इन बेकसूर आदमियों को छोड देने का आग्रह किया। इधर यह बातचीत हो रही थी और उधर किले से मशीनगनों के साथ गोरो का रिसाला आ पहुँचा। हथियारबन्द पुलिस वहॉ पहले ही विद्यमान थी, लेकिन लोग डरे नहीं। कहते हैं कि चौदह साल का एक बालक कूदकर मशीनगन पर चढ़ गया और निर्भयता का उपदेश देने लगा। पुलिस ने उसे खींचकर नीचे उतारा। इस समय अकस्मात सिपाहियों ने पहले भीड पर संगीनों का वार किया और फिर गोली चला दी।

सगीनो एवं गोलियों ने कितने लोगों को घायल किया, इसके बारे में एक मत नहीं हो सका। दर्शको की सम्मति थी कि सत्ताईस के लगभग लोग घायल हुए जिसमें से दो वही मर गये। लाशो और घायलो को घसीट कर सिपाही कम्पनी बाग मे ले गये। उधर अफवाह फैल गई कि कम्पनी बाग मे सैकड़ों लाशें पड़ी हैं। अब चॉदनी चौक मे इकट्ठे लोग बाग के सामने वाले द्वार पर जमा हो गये तथा लाशो की मॉगें करने लगे। पुलिस ने दूसरी बार फिर गोली चला दी, जिससे कम से कम दस आदमी घायल हो गये। इस प्रकार भारत के इस नवीन अभ्युत्थान का श्रीगणेश रक्तपात से हुआ। इस रक्तपात में हिन्दुओं का रक्त भी था तथा मुसलमानों का भी। कुर्बानी के इस अनूठे उदाहरण ने बूढ़ी दिल्ली मे जवानी का ख़ून भर दिया।

उधर स्वामी जी के आगे-पीछे बीस-पच्चीस हज़ार की भीड़ 'भारत माता की जय! हिन्दू-मुसलमान की जय' के नारे लगाती हुई चली। उनके पीछे कई मशीनगनें और घुडसवार सिपाही पहरा देते हुए चले जा रहे थे। जब जनसमुदाय घण्टा घर पहुँचा तो देखा, गोरखा सिपाही लाइन बॉधे खडे हैं, पर जनता मे से

न तो कोई भयभीत हुआ तथा न ही किसी ने दिल्ली के नाम को कलकित करने वाला ऐसा कोई कार्य किया।

उधर सिपाहियों ने संगीनें स्वामी जी की ओर बढाते हुए कहा, "हट जाओ नहीं तो हम छेद देगे।" स्वामी जी एक कदम और बढ़े गये। संगीन स्वामी जी की छाती को छू रही थी। उन्होंने गरजते हुए कहा, 'मारो गोली।' यह दृश्य शायद मिनट भर रहा होगा। हतप्रभ सिपाहियो ने बन्दूके नीचे कर लीं तथा स्वामी जी के साथ जुलूस आगे बढ़ गया। हिन्दू-मुसलमानो के इस बलिदान ने चमत्कार दिखलाया और लोग 'हम' शब्द की व्याख्या करने लगे—'ह' से हिन्दू तथा 'म' से मुसलमान। हिन्दू-मुसलमानो की यह एकता अभूतपूर्व थी। 30 मार्च को ही गोली से आहत एक मुसलमान का जनाजा निकालने का निश्चय हुआ।

31 मार्च को पचास हज़ार की मातमपुरसी मे मुसलमान शहीद का जनाजा निकला। इस शहीद के चरणों मे पहली बार स्वामी जी की सर्गीय हकीम अजमल खॉ साहब से क्या मुलाकात हुई, हिन्दू और मुसलमान पहली बार गले से गले मिले। बरसों से बिछुडे हुए एक हृदय के दो टुकड़े फिर एक हुए। शाम को भी वैसे ही पॉच जनाजे और निकले। शहीदों के खून से तैयार हुई भूमि मे बिखेरे गये एकता के बीजो का सिंचन ऑखो से बहती हुई प्रेम की जलधारा से किया गया। वह कैसा दृश्य था! विमानों पर बैठकर यदि इन्द्रपुरी के देवगण उसको देखने आ सकते तो दोनो हाथों से देहली निवासियो पर पुष्प-वर्षा करते।

4 मार्च को देहली ने एक और सुनहरी तथा भव्य दृश्य उपस्थित कर दिखाया। शाही जामा मसजिद के मिम्बर पर से एक आर्य हिन्दू सन्यासी ने "त्व हि न पिता बसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ। अथाते सुम्नयीमहे।" वे वेदमन्त्र द्वारा ईश्वर के माता और पिता के रूप का वर्णन किया और 'ओउम् शान्ति'। शान्तिः।। शान्ति'।।।' के साथ अपना भाषण समाप्त किया। कई मसजिदो में ऐसे ही दृश्य देखने मे आये और कई मन्दिरों मे भी मुसलमानो के भाषण होने की अद्भुत घटनाये दीख पडने लगी। शुद्धि तथा सगठन के सन् 1926 के दिनो मे भी स्वामी जी ने लिखा था—"परस्पर मनोमालिन्य की इतनी दुर्घटनाये घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी ऑखो के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर ज़िन्दा हूॅ कि आपस के सन्देह की सब घटायें शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जायेगी, धर्म तथा सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे ही सुवर्णीय दृश्य देखने में आयेगे।" ता 18 अप्रैल की रात तक देहली में राम-राज रहा। शहर मे एक भी ताला नहीं टूटा, एक भी मारपीट नही

हुई, एक भी जेब नही कतरी गई—और तो क्या जुएख़ाने तथा शराबख़ाने भी बन्द रहे और सब ने देवियों को माँ बहन और बेटी समझ कर उन का आदर किया। इस रामराज मे सरकार की पुलिस व फौज की कही छाया तक देखने में न आती थी। शहर का सब प्रबन्ध जनता के अपने हाथों मे था।

इस रामराज के दिनों में स्वामी जी को गुरुकुल के दिनों से भी अधिक मेहनत से काम करना पड़ा। शाम को सात बजे लौटकर आठ बजे भोजन करते, फिर ग्यारह बजे तक कार्यकर्त्ताओं के साथ सलाह-मशवरा होता और आप को एक-मात्र पच मानकर फ़ैसले के लिये आये हुए मामलो को निबटाया जाता। ग्यारह बजे बिस्तर पर लेटते। अढाई बजे सवेरे ही उठकर बैठ जाते। पाँच बजे तक नित्य कर्म से निवृत्त होकर शहर में गश्त लगाने निकल पड़ते। दुपहर को बारह बजे पानी या शरबत का एक गिलास लेकर दिन भर निकाल लेते और रात को आठ बजे चौबीस घण्टों में केवल एक बार भोजन करते। सरकारी अदालतों में पाँच-पाँच वर्ष तक फ़ैसला न हुए मामले भी स्वामीजी अथवा हकीम जी द्वारा खड़े खडे निबटा दिये गये। 19 अप्रैल को देहली की हड़ताल खुली और स्वामी जी को सुस्ताने को कुछ समय मिला। हडताल के इन दिनों मे किसी-किसी दिन तीन-तीन चार-चार सभाओ मे बोलना और घण्टो लोगो के साथ दिमाग़ लडाना पड़ता था। पजाब और सिंध के दौरे पर जाते हुए महात्मा जी को देहली ठहरने का निमन्त्रण भी स्वामी जी ने देहली के निवासियों की ओर से दिया था। उस निमन्त्रण को स्वीकार कर महात्मा जी देहली आते हुए पलवल मे गिरफ़्तार करके बम्बई वापिस लौटा दिये गये थे। उस दिन भी लोगो को काबू रखना बहुत कठिन था। देहली की जनता जानती है कि इन दिनों मे स्वामी जी ने जिस निर्भीकता, वीरता, साहस, धैर्य, लोकसेवा तथा सच्चे नेतृत्व का परिचय दिया, उसमे देहली के दूसरे नेता पूरे नही उतरे। खुफ़िया पुलिस की शरारतो को सफल न होने देना कोई साधारण बात नही थी। देहली मे पंजाब के मार्शल लॉ की घटनाओ का न होने देना भी स्वामी जी के अनथक परिश्रम का परिणाम था। 19 अप्रैल को बडे सवेरे दीनबन्धु एण्डरूज ने आपके निवास स्थान पर आकर आपको सूचना दी कि यदि आज हडताल न खुली तो शहर मे फ़ौजी शासन की घोषणा कर दी जायगी। पर, स्वामी जी के परिश्रम के फलस्वरूप उस दिन हडताल खोलना पहिले ही तय हो चुका था। हड़ताल खुल गई और नेताओं को नीचा दिखाने की ताक मे बैठे हुए अधिकारी हाथ मलते रह गये। देहली के सत्याग्रही शहीदों की यागदार खड़ी करने का आदोलन उठाया गया। उसके लिये एक कमेटी भी

बनाई गई। पर, आपने अपनी ही हिम्मत पर उसके लिये पहिले की काम शुरू कर दिया था। पाटोदी-हाउस का स्थान ख़रीद कर वहाँ स्मारक बनाने के लिये एक लाख की प्रतिज्ञा भी स्वर्गीय दानवीर सेठ रग्घूमल जी से ले ली थी। डा. अन्सारी और हकीम अजमल ख़ाँ आदि तो अंगोरा फ़ण्ड के लिये एक लाख जमा करने मे लग गये। स्वामी जी ने इस स्मारक के लिये सब आवश्यक रुपया स्वयं ही शहर में घूम-घूम कर जमा किया और पाटोदी-हाउस की सब ज़मीन को ख़रीद लिया।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में महात्मा जी के साथ आपका कुछ ऐसा तीव्र मतभेद हुआ कि 2 मई सन् 1919 को आपने सत्याग्रह कमेटी के त्याग-पत्र दे दिया। इस मतभेद के कुछ कारण ये थे—महात्मा जी ने सत्याग्रह बन्द करते हुए गोली चलाये जाने का सब दोष लोगों पर ही डाला था। देहली की ओर से प्रतिवाद करने पर भी महात्मा जी ने अपनी भूल स्वीकार नहीं की। लाला शंकरलाल पर खुफ़िया पुलिस के फ़क़ीर मुहम्मद को पीटने का झूठा मुक़दमा चलाया गया था। महात्मा जी ने सब मामला जाने बिना ही उनको मुक़दमा न लडने के लिये तार दे दिया था। बम्बई से छपकर पोस्टरों के रूप में आने वाले सन्देशों में स्थानीय अवस्थाओं का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। देहली में ये पोस्टर कहीं भी न चिपका कर स्वामी जी द्वारा नष्ट करा दिये जाते थे। महात्मा जी का आदेश था कि पुलिस के माँगने पर सत्याग्रह कमेटी के सदस्यों की सूची उसको दे दी जाय। स्वामी जी इससे सहमत नहीं थे। अपने त्याग-पत्र में भी आपने इन बातों की ओर निर्देश किया था और उसमें लिखा था—"मेरी सम्मति मे रौलट एक्ट मानवीय स्वतन्त्रता तथा न्याय के मूलभूत सिद्धांत पर ही कुठाराघात करते है और आप मेरी दृष्टि में अपने देश की प्राचीन-आध्यात्मिक-सस्कृति के प्रतिनिधि है, इसलिये राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध न रखते हुए भी आपकी पुकार पर अपने तन-मन से आप का साथ देना मैने अपना कर्तव्य समझा। परन्तु देहली तथा अन्य स्थानो पर अधिकारियों के जान बूझ कर जनता को भड़काने और पंजाब मे क़ानून तथा व्यवस्था के नाम पर किये गये अत्याचारो पर आपने जो मौन साधा है, उसमें मैं आपका साथ नहीं दे सकता। इस समय भी आपके तथा आपके उच्च चरित्र के लिये मेरे हृदय मे बहुत अधिक सम्मान है और आप से मतभेद होने का मुझको हार्दिक खेद है। अन्तरात्मा में मतभेद रखते हुए भी यदि उसको मैं प्रगट नहीं करता और उस के परिणाम को सहन नहीं करता तो मैं अपने प्रति ही मिथ्या व्यवहार करूँगा। संन्यासी की हैसियत से मै सत्य, अहिंसा

और ब्रह्मचर्य रूपी धर्म के प्रचार में लगा रहूँगा। रौलट एक्ट के सम्बन्ध में मेरी अब भी वही धारणा है और समय आने पर उसकी अवज्ञा करना मैं अपना कर्तव्य समझूँगा। इस समय मैं विशेषरूप में अपने को देश में ऐक्य की स्थापना करने, पचायतों द्वारा आपस के झगडे निबटाने, स्वदेशी तथा राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी के प्रचार करने और सरकारी यूनिवर्सिटियों से स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा को विकसित करने में लगाना चाहता हूँ। अन्त में मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे दिल में आप के लिये प्रेम तथा आशा के भाव वैसे ही विद्यमान हैं, जैसे पहिले थे और जब आपकी ओर से किसी ऐसे धार्मिक काम के लिये फिर बुलाया जाऊँगा, जिसमें मैं आप से सहमत हो सकूँ, तो आपके पीछे चल कर क्रिया द्वारा साथ देने में ज़रा भी आगा-पीछा न करूँगा।''

स्वामी जी की ही प्रेरणा से लोकमान्य की बरसी पर देहली में एक पचायत की स्थापना की गई थी और हकीम साहेब उसके सयोजक बनाये गये थे। इसी बीच में आप की गिरफ्तारी की बहुत गप्पें सुनाई देने लगीं। यह भी कहा जाने लगा कि आप देहली से बाहर पैर रखते ही गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। ता. 8 जून को इलाहाबाद में कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी की बैठक मे अमृतसर में कांग्रेस होने-न-होने के सम्बन्ध में विचार होने वाला था। उसके लिये आप को भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ आप गये, पर गिरफ्तारी की अफ़वाहे सच्ची सिद्ध नहीं हुई।

(ग) पंजाब तथा अमृतसर में

हृदय से काग्रेस आदोलन के साथ न होते हुए भी आप काग्रेस की ओर अनजाने ही खिचते चले गये। इलाहाबाद मे आप के ही आग्रह पर काग्रेस का अमृतसर मे होना तय हुआ। सम्भवतः इसीलिये उस के आयोजन का सब भार भी आप के कन्धों पर ही आ पडा। दीन, दुखियो और सतप्त लोगों को सकट मे सहायता करना आप का स्वभाव-सा हो गया था। पंजाब फ़ौजी-शासन की अन्यायपूर्ण असहनीय चोटों के घावो से घायल हुआ पड़ा था। जलियांवाला बाग मे सैकडों के भाई, पति और बालक डायर की गोलियो के शिकार हो गये थे। कितने ही घरो में मातम छाया हुआ था। अचिंतित आपत्ति के आतक से प्रात के लोग चोट खाने के बाद मुँह से आह तक नही निकाल सकते थे। अत्याचारपूर्ण उस शासन की गरमी में जब ऊपर आकाश में स्वच्छन्द विचरने वाले परिन्दों के भी पर जलते थे, तब भूमि पर विचरने वाली निःशस्त्र एवं मूक प्रजा का तो कहना ही क्या था? स्वामी जी ने अमृतसर-काग्रेस के स्वागताध्यक्ष के आसन से दिये गये भाषण

मे मार्शल-लॉ के खूनी शासन का रोमांचकारी चित्र खीचते हुए कहा था—"जिन हक़ूमत के नशे मे चूर मनुष्यो का जीवन ही स्वार्थ का स्वरूप हो, उन की समझ में न सत्य का गौरव आ सकता है और न वे सत्याग्रह की शान को समझ सकते हैं। स्वार्थ का इन्द्रासन डॉवाडोल हो गया। इस दुबले, बीमार, मुनहनी जिस्म के अन्दर वाले आत्मा के तेज को दुनियादार स्वार्थ न सहन कर सका। जिन बहादुर ब्रिटिश जनरलों और गम्भीर नीतिमान् ब्रिटिश शासको ने एक तिहाई दुनिया को जीत कर जर्मन-साम्राज्य की शक्ति खाक़ मे मिला दी थी, उस के योद्धा इस नई शक्ति के उद्‌भव से दहल गये और उसी का नतीजा पंजाब का घोर उपद्रव है। अराजकता का राज हो गया, मनुष्य की जान का कुछ मूल्य न रहा, जेलख़ाने भर दिये गये, बोलना अपराध हो गया, नंगे चूतड़ों पर कोडे खाकर चिल्लाना पाप हो गया, इज्ज़तदारों ने खाली इज्ज़त बचाने के लिये पुलिसरूपी यमदूतो के घर भर दिये और साध्वी सतियो के लिये अपने सतीत्व की रक्षा कठिन हो गई। जलियावाला बाग की घटना सामने लाओ और जनरल डायर के इस कथन को याद करो—'हॉ, मै समझता हूँ कि बिना गोली चलाये भी शायद मै उन को मुन्तशिर कर सकता था।' इस पर प्रश्न हुआ कि फिर आप ने ऐसा ही क्यो न किया? उत्तर मिला—'वे लौट कर मेरी हॅसी उडाते और मै बेवक़ूफ़ बनता।' शायद इसी मौके के लिये शायर ने कहा था—'किसी की जान जाये आप की अदा ठहरी।' एक बहादुर ब्रिटिश जनरल की शान पर सैंकडों युवा, बूढे और बालको के सीस चढ जायॅ तो क्या परवा है, उस की शान मे फ़रक़ न आना चाहिये। उन ग्यारह से पन्द्रह वर्ष की विधवाओं का चित्र अपने सामने लाइये, जिन के पति शूली पर चढे या भून डाले गये और जिन के उदासीन मुखो के दर्शन-मात्र ने मुझे, नेहरू जी और मालवीय जी को आठ-आठ ऑसू रुलाया। एक युवक के नगे चूतडो पर बेतो की मार का हाल सुना कर एक वृद्ध ऐसा रोया कि उस की घिग्घी बॅध गई। सिह पुरुष चौधरी बुग्गा की वीर रमणी का एक गोरे के हाथ से खीच कर मकान से बाहर लाया जाना केवल एक घटना है।...नियम के नाम पर विप्लव और शान्ति के नाम पर अत्याचार का राज्य फैल गया। मार्शल-लॉ ने नर-नारी, बाल-वृद्ध और युवा सब को बेजान कर दिया। वैशाख की पवित्र सक्रान्ति के दिन जो रक्त से भूमि लाल हुई, उस के श्रवण मात्र से सब के छक्के छूट गये। हॉ, उस दिन मार्शल-लॉ का विजय हुआ और शांति फैल गई, परन्तु वह श्मशान-भूमि और क़ब्रिस्तान की शांति थी—वह मौत की शांति थी।"

पंजाब की ऐसी अवस्था मे उसकी सुध लेने वालो में और आहत पजाब

के अधिकाश भाग का पुलिस तथा खुफिया-पुलिस की छाया मे दौरा करने वालो में वीरवर, निर्भीक और साहसी स्वामी श्रद्धानन्दजी का नाम सबसे पहला है। इलाहाबाद की भारत-सेवा-समिति के, जिसके महामना मालवीयजी स्थिर प्रधान थे, उप-प्रधान होकर आपने पीडित और आहत पजाब के अनाथो और विधवाओ को सहायता देने का काम अपने जिम्मे लिया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव और व्यक्तिगत अपीलो ने सवा लाख से अधिक रुपया इस काम के लिये जमा किया। सहायता के बाद बचा हुआ लगभग एक लाख रुपया समिति को सौप दिया, जिससे मालवीयजी ने समिति के स्थिर कोष की स्थापना की। जिस काम के लिये समिति के उप-प्रधान हुए थे, उसको सम्पन्न करने के बाद आप उससे अलग हो गये। सहायता देने का यह काम करते हुए आपने मूर्छित और मृतप्राय पजाब को संजीवनी प्रदान कर फिर से जीवित किया और उसमे पहिले से भी अधिक उत्साह, तेजस्विता तथा नैतिकता का सचार किया। काग्रेस की उस जॉच-कमेटी को, माननीय मोतीलालजी नेहरू जिसके प्रधान और महात्मा गांधी, देशबन्धु दास और महामना मालवीय जी जिसके सदस्य थे, आपने जो सहायता पहुॅचाई उसको खोल कर लिखने की आवश्यकता नही। गुप्त कागज़-पत्र और चोरी से लिये हुए चित्र पूरे विश्वास के साथ बिलकुल नि:सकोच होकर लोग आपको ला देते थे और आपके पास आकर भीतर के भेद भी खोल जाते थे। जहॉ से साक्षियॉ मिलनी कठिन होती थी, वहॉ आपके पहुॅचते ही लोग निर्भय हो जाते थे। बात तो यह थी कि पजाब आपका अपना प्रदेश था। वहॉ के लोगो के हृदयो पर आप कोई आधी शताब्दि पहिले से ही अधिकार किये हुए थे। आपके प्रेम, सचाई और सहृदयता की उन पर छाप लगी हुई थी। काग्रेस की जॉच-रिपोर्ट पर आपका नाम तो नही है, किन्तु वह आपका ही किया-कराया हुआ सब काम है।

दुखी, पीडित, सन्तप्त तथा आहत पजाब मे और वहॉ भी उस अमृतसर शहर मे, जिसका अग-प्रत्यग छिदा हुआ था, उस वर्ष काग्रेस के अधिवेशन के होने की कोई कल्पना भी नही कर सकता था। सरकारी लोगो के विरोध को विफल बना कर सब नेताओ को भी आपने अमृतसर मे काग्रेस का अधिवेशन करने को मना लिया, किन्तु आल-इण्डिया-काग्रेस-कमेटी के उस वर्ष के प्रधान महामना मालवीयजी को मनाना कठिन हो गया। आपने अपने भाई एण्डरूज़ को मालवीयजी के पास केवल उनको मनाने के लिये भेजा। पर, वे नही माने। फिर आप स्वयं मालवीयजी से मिले। मालवीयजी इस शर्त पर अमृसर मे काग्रेस होने देने को सहमत हुए कि दूसरे नेताओ और प्रान्तो से किसी प्रकार की भी सहायता

की अपेक्षा नही रखनी होगी। आपने सब ज़िम्मेवारी अपने पर ले ली। अब प्रश्न यह था कि स्वागत-समिति का अध्यक्ष कौन हो? स्वामीजी को जिन अवस्थाओं मे इस ज़िम्मेवारी को भी अपने ही कन्धों पर उठाने के लिये बाधित होना पड़ा था, उनका उल्लेख अपने भाषण में करते हुए आपने कहा था—"पहिला कारण मेरे लिये इस वेदी पर आने का यह है कि पजाब मे जिन रत्नो ने भारतमाता के उज्ज्वल माथे को दाग़ से बचाने के लिये फांसी तथा जन्म-क़ैद को तुच्छ समझा और निरपराध होते हुए भी रहम की दरख़ास्त को पाप समझ कर कैदख़ाने को काशी और क़ाबे का रुतबा दिलाया—हरकिशनलाल, दुनीचन्द, रामभजदत्त, किचलू, सत्यपाल—उन्होंने अपनी भरी सभा से मुझको आज्ञा भेजी कि मैं स्वागतकारिणी का सभापति बनूँ। फिर मैने जेल के खूनी पिजरो से श्रद्धा-सम्पन्न चौधरी बुग्गा और वीर महाशय रत्तो से सिह-पुरुषो की भी यही ध्वनि सुनी। परन्तु जब इनमें से कुछ वीरों की धर्मपत्नियो ने यह कहते हुए कि 'बन्दी-गृहो मे घिरे हुए हमारे पति-महाशयों की आत्मा तभी शान्त होंगी, जब काग्रेस का महोत्सव न टले'—भिक्षु संन्यासी से भिक्षा माँगी तो उसे मातृशक्ति के आगे सिर झुकाना पड़ा। यह पहिला कारण मेरे इस वेदी पर आने का है। दूसरा कारण मेरा आश्रम और उसका कर्तव्य है। सनातन वैदिक-धर्म की रक्षा के लिये जो सम्प्रदाय (सनातन-धर्म समाज, आर्यसमाज और अन्य सभा-समाजें) भारतवर्ष मे स्थापित है, उनका प्रश्न है कि सन्यासी का राजनीति से क्या सम्बन्ध? मेरा उत्तर—"वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ वर्षो की उमर तक जीने की आशा कर्म करते हुए ही करूँ, परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मो मे फँसूं नही।" भाषण मे बताये गये इन कारणो के अलावा एक कारण और भी था। देवियों के डेपुटेशन के प्रार्थना करने के बाद आपने महात्मा गाधी से भी इस सम्बन्ध मे सम्मति माँगी थी। गाँधी जी ने साबरमती से भाद्रपद शुक्ल 10 सम्वत् 1975 को आपको इस आशय का पत्र लिखा था—"भाई साहब! आपका पत्र मिला। मेरा यह विश्वास है कि जब तक हम लोग धार्मिक भावना से राजनीतिक-क्षेत्र में प्रवेश नही करते, तब तक भारत का सच्चा और वास्तविक अभ्युदय नही हो सकता। यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप काग्रेस मे धार्मिक भाव पैदा करने मे समर्थ हो सकेंगे। इसलिये आपको स्वागत-समिति का सभापति होना ही चाहिये। यही सलाह मै आप को दे सकता हूँ।" इस सलाह ने निर्णय कर दिया। आप ने पहिले ही से अपने ज़िम्मे लिये हुए काम को स्वागत-समिति के सभापति की हैसियत से और भी अधिक उत्साह से शुरू कर दिया। भगवान् को भी, मालूम होता है, आपकी हिम्मत की

परीक्षा लेने का यही अच्छा अवसर हाथ आया था। पण्डाल के लिये तैयार की हुई भूमि बार-बार पानी से भर गई। अमृतसर में कुछ ऐसा मूसलाधार पानी बरसना शुरू हुआ कि अन्य बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद वर्षा ने कल्पनातीत संकट उपस्थित कर दिया। 24 दिसम्बर को, जिस दिन बारह स्पेशल ट्रेनें आने को थीं, सब मेहनत तथा साधन लगा कर पण्डाल खड़ा कर लेने के बाद ऐसी वर्षा हुई, जैसे पिछले चालीस वर्षो में कभी नहीं हुई थी। अमृतसर की गलियो में घुटनों पानी चलने लगा। प्रतिनिधियों के लिये डाली हुई छोलदारियाँ पानी में तैरने लगीं। शहर में बाढ का-सा दृश्य उपस्थित हो गया। स्वामी जी शहर में घूमे और एक-एक मुहल्ले में जाकर लोगो से अपील की कि काग्रेस पर आने वालों के लिये अपने घरों में स्थान ख़ाली करो और अतिथि-सेवा के धर्म का पालन करते हुए अपने शहर की लाज बचाओ। इस अपील ने शहर मे जादू कर दिया। लोग स्टेशन और रास्तों पर जा खडे हुए। जिसके सामने जो आया, उसको ही वह अपने घर ले गया। घरो में केवल ठहराने का ही प्रबन्ध नहीं किया गया किन्तु भोजनादि की भी सर्वोत्तम व्यवस्था की गई। अमृतसर गये हुए प्रतिनिधि आज तक भी अमृतसर वालो की अतिथि-सेवा को याद करते है। इस प्रकार प्राकृतिक और सांसारिक सभी तरह की विघ्न-बाधाओ पर विजय प्राप्त कर कांग्रेस के ऐतिहासिक अधिवेशन को सफलता की दृष्टि से भी ऐतिहासिक बनाने में आपने जिस सत्साहस का परिचय दिया, वह कांग्रेस के इतिहास में चिरस्मरणीय हो गया।

आप का राष्ट्रभाषा हिन्दी मे दिया गया ओजस्वी भाषण भी ऐतिहासिक ही था। एक सन्यासी का भगवे वेश मे काग्रेस के मच पर से अधिकारयुक्त वाणी से भाषण करना जहाँ काग्रेस के इतिहास मे पहली महान् घटना थी, वहाँ इस महान घटना के अन्तर्गत कई ऐसी छोटी-मोटी महत्त्वपूर्ण घटनाये घट गई जिन्होने उस घटना की महानता को और भी अधिक बढा दिया। सोने मे सुगन्ध पैदा कर दी। अहमदाबाद में काग्रेस का जो राष्ट्रीय रूप खिले हुए कमल के रूप में दीख पड़ा, उसका बीज स्वामी जी के हाथों से अमृतसर में ही रोपा गया था। राष्ट्रभाषा हिन्दी को काग्रेस के मंच पर अधिष्ठित करने के साथ साथ देशवासियों से भिखारियो की सूखी राजनीति को तिलांजलि देकर काग्रेस के मच पर से यह मार्मिक अपील पहली ही बार की गई थी—"यदि जाति को स्वतन्त्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बन कर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। जब सदाचारी-ब्रह्मचारी हो शिक्षक और क़ौमी हो शिक्षा-पद्धति, तव ही कौम की जरूरतों को पूरा करने वाले नौजवान निकलेंगे, नहीं तो इसी तरह आप

की सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी।" त्याग, तपस्या और चरित्रनिर्माण के लिये अपील करते हुए पहिली ही बार काग्रेस के मंच से यह कहा गया था कि—

"अक्रोधेन जयेत्क्रोध, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम् ॥"

और पहली ही बार यह कहा गया था—"सब व्यक्ति हमारे भाई है, उन मे जो दोष घुस जाते है वे ही हमारे शत्रु है। ओडायर और डायर, जानसन और ओब्रायन ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक ही पिता की तो सब सन्तान हैं। उन के अन्दर क्रोध और असाधुता के जो भाव है, वे ही हमारे शत्रु हैं।...जिस वेदना मे से गुज़रने का पजाब को सौभाग्य प्राप्त हुआ है उस का फल यह है कि जाति को 'तप' का गौरव मालूम हो गया। मार्शल-लॉ के दिनों में पता लगा कि पुलिटिकल अधिकारों का शोर मचाने वाले यदि चरित्रहीन हों तो वे देश को रसातल मे ले जाते है। इसलिये सब से बढ़कर काम चरित्र-संगठन का है, जिसे जाति को अपने हाथ मे लेना चाहिये।"

जो हरिजन आन्दोलन इस समय महात्मा गान्धी सरीखे देवपुरुष की कठोर साधना के बाद देशव्यापी बन रहा है और जिसके लिये उस दिव्य-पुरुष ने अपने प्राणों जी बाजी लगा दी है, उसके लिये भी काग्रेस के मच पर से सबसे पहिली आवाज़ इस ऐतिहासिक भाषण में ही उठाई गई थी। उसमे कहा गया था—"लण्डन नगर मे भारत की रिफार्म-स्कीम-कमेटी के सामने ईसाई-मुक्ति-फौज के बूथ टकर साहब ने कहा था कि भारत के साढ़े छः करोड अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिये और उसके लिये हेतु दिया था—'क्योंकि वे भारत मे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट रूपी जहाज़ के लंगर है।' इन शब्दो पर गहरा विचार कीजिये और सोचिये कि किस प्रकार आपके साढे छः करोड़ भाई, आपके जिगर के टुकडे, जिन्हें आपने काट कर फेक दिया है, किस प्रकार भारतमाता के साढे छ· करोड पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट रूपी जहाज़ के लंगर बन सकते है। मै आप सब बहिनो और भाइयो से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय मन्दिर मे बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेमजल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि—'आज से वे साढ़े छः करोड हमारे लिये अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे बहिन और भाई है। उनकी पुत्रियाँ और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं मे पढ़ेंगे। उनके गृहस्थ नर-नारी हमारी सभाओ में सम्मिलित होंगे। हमारे स्वतन्त्रता प्राप्ति के युद्ध मे वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को

पूरा करेंगे।' हे देवियो और सज्जन पुरुषो! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"

राजनीतिक क्षेत्र में इस प्रकार के मौलिक विचारो से भरे हुए उस भाषण में विदेशी खान-पान, विदेशी वस्त्र-भूषा और विदेशी भोगमय जीवन को तिलांजलि देने की भी जोरदार अपील पहली ही बार कांग्रेस के मंच पर से की गई थी।

स्वामी जी द्वारा जिन धार्मिक भावों का समावेश गांधी जी कांग्रेस में कराना चाहते थे, उन भावों से वह भाषण अथ से इति तक भरा हुआ था। महात्मा गांधी ने 'यंग इण्डिया' मे उस ऐतिहासिक भाषण के सम्बन्ध में लिखा था–"स्वागत-समिति के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी का भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सचाई का नमूना था। वक्ता के व्यक्तिगत की छाप उस में आदि से अन्त तक लगी हुई थी। मनुष्य-मात्र के प्रति उस में सद्भावना प्रगट की गई थी। उन्होने ठीक ही कहा था कि अंग्रेजों को प्रेम से जीतना चाहिये।" कांग्रेस के प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए बम्बई के 'इण्डियन-सोशियल-रिफार्मर' ने लिखा था–"अमृतसर-कांग्रेस के सप्ताह मे सहसा ही सब को अपनी ओर आकर्षित और अपने व्यक्तित्व से हर किसी को प्रभावित करने वाले महान् व्यक्ति स्वामी श्रद्धानन्द थे, जिन्होंने अपने देशवासियो के लिये भयानक संकटापन्न अवस्था मे उस पवित्र कर्तव्य का भार स्वयं ही अपने कन्धो पर उठा लिया था। भारत की पवित्रता के द्योतक काशाय वस्त्रो के वेश मे वह विशाल, ओजस्वी तथा प्रतिभाशाली मूर्ति, जिस के चेहरे पर शक्ति तथा तेज चमक रहा था, साधारण से साधारण दर्शक की भी स्वयं सेवा करते हुए और महान संगठन के छोटे से छोटे कार्य का भी स्वयं निरीक्षण करते हुए यहाँ-वहाँ सभी जगह व्यापक दीख पडती थी।" न केवल देशवासियों की सेवा के कर्तव्य-पालन में किन्तु भगवान की कठोर परीक्षा मे भी स्वामी जी पूरे उतरे। अमृतसर में कांग्रेस की वह महान् सफलता स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व की महान् विजय थी।

मांटफोर्ड-सुधार-योजना के लिये मि. माण्टेगू को धन्यवाद देने और उस सुधार-योजना के स्वीकार करने के सम्बन्ध मे लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, देशबन्धु दास और महामना मालवीय जी आदि नेताओ मे इतना अधिक मतभेद था कि कभी-कभी अमृतसर मे भी सूरत का दृश्य उपस्थित होने का भय दीखने लगता था। अमृतसर मे सूरत के इतिहास की पुनरावृत्ति न होने देने मे भी स्वामी जी का बहुत अधिक हाथ था। नेताओ को एक मार्ग पर लाकर कांग्रेस के अधिवेशन की सफलता द्वारा आप ने न केवल पंजाब का ही मस्तक ऊँचा किया, किन्तु

समस्त देश का ही माथा गौरव के साथ ऊँचा कर दिया और बता दिया कि राजनीतिक-क्षेत्र में भी आप क्या कुछ कर सकते हैं।

कांग्रेस के बाद एक मास और पीड़ित पंजाब की सेवा में निकल गया। कांग्रेस के अपने ऐतिहासिक-भाषण में आपने 'जलियांवाला-बाग़' को 'अमर-वाटिका' का नाम दिया था। वहाँ शहीदों का स्मारक बना कर उसको वस्तुतः 'अमर-वाटिका' बनाने का विचार किया गया। आपने देहली के 'पटौदी हाउस' के समान वहाँ की सब भूमि को ख़रीदने का प्रस्ताव किया। उस प्रस्ताव को पूरा करने के लिये चन्दा आदि जमा करने के यत्नों में अन्य नेताओं के साथ पूरा हाथ बँटाया। जब तक सब भूमि ख़रीद न ली गई, तब तक आप को सन्तोष नही हुआ और जब तक उस की योग्य व्यवस्था नहीं कर दी गई, तब तक आप नेताओं विशेषत. महात्मा जी के साथ बराबर पत्र-व्यवहार करते रहे।

अमृतसर की कहानी पूरी करने से पहिले एक और घटना का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। पजाब के फ़ौजी-शासन की ज्यादतियों के सम्बन्ध मे जाच करने के लिये सरकार की ओर से लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई थी। काग्रेस ने उस कमेटी का बहिष्कार नही किया था। लार्ड हण्टर ने गांधी जी से पूछा—"आप के लेफ़्टिनेण्ट स्वामी श्रद्धानन्द ने क्या आप के सत्याग्रह को दूषित समझ कर आप से सम्बन्ध तोड लिया था?" महात्मा जी ने उत्तर दिया—"लेफ्टिनेण्ट न कहिये, मेरे सहयोगी कहिये। स्वामी श्रद्धानन्द ने मेरे सत्याग्रह को दूषित नहीं समझा था, प्रत्युत वे मुझ से भी कुछ आगे जाना चाहते थे और मै उन के साथ आगे नही बढ़ सकता था।" इस प्रश्न के पूछने मे लार्ड हण्टर का भाव शुद्ध नहीं था, परन्तु महात्मा जी के उत्तर से स्वामी जी की उग्र और प्रगतिशील वृत्ति का परिचय मिलता है।

फरवरी 1920 मे आप को गुरुकुल-कागड़ी जाने के लिये विवश किया गया। गुरुकुल जाने और उस से फिर अलग होने का उल्लेख गुरुकुल के प्रकरण मे किया जायगा। अक्तूबर सन् 1921 मे गुरुकुल से अलग होने के बाद की जीवन-कथा का आरम्भ असहयोग आन्दोलन से होता है।

(घ) असहयोग के मैदान में

गुरुकुल चले जाने के बाद आप ने सब से पहला यत्न गुरुकुल के स्थिर-कोष को पूरा करने का किया। इसी उद्देश्य से जब आप कलकत्ता गये हुए थे, तब वहाँ कांग्रेस का विशेष अधिवेशन स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी की अध्यक्षता

में हुआ था। उस में भी आप सम्मिलित हुए थे और आप ने अछूतोद्धार-सम्बन्धी एक प्रस्ताव विषय-नियामक-समिति में उपस्थित करने के लिये स्वागत-समिति के पास भेजा था। प्रस्ताव को अनावश्यक समझ कर विषय-नियामक-समिति मे भी उपस्थित नहीं होने दिया गया। महात्मा गांधी के असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव की धूम थी। गांधी जी समेत यदि देश के उस समय के सौ नेता मान लिये जायँ, तो निन्यानवे उस के प्रतिकूल थे। स्वामी जी ने विषय-नियामक-समिति में महात्मा जी का पूरा साथ दिया था, किन्तु खुले अधिवेशन मे 'डिवीज़न' होने पर भी आप तटस्थ रहे थे। इस का कारण यह था कि नेताओं ने महात्मा जी को नीचा दिखाने के लिये मुख्य प्रस्ताव में धींगा-धीगी से 'सब विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार' को भी शामिल कर दिया था। महात्मा जी अहिंसा की दृष्टि से बहिष्कार के प्रतिकूल थे। स्वामी जी भी ऐसे बहिष्कार को व्यावहारिक नहीं मानते थे, इसलिये वे उस के विरुद्ध थे। खुले अधिवेशन में महात्मा जी ने बहिष्कारवादी नेताओं के साथ समझौता कर के उन की बात मान ली थी। विषय-नियामक-समिति की इस धींगा-धींगी की कथा और समझौते का हेतु स्वामी जी जब अपने भाषण मे बताने लगे, तब सभापति ने आप को बोलने से रोक दिया। स्वामी जी मंच पर से तुरन्त अपनी जगह लौट आये और जनता के आग्रह पर भी आप ने सभापति की आज्ञा की अवज्ञा नहीं की। जिस अनुशासन का देश के सार्वजनिक-जीवन में प्रायः अभाव है, उसके पालन का वह एक ही दृश्य था। कलकत्ता के बाद महात्मा जी जब मद्रास के दौरे पर गये, तब आप को अछूतोद्धार का इतना महत्त्व मालूम हुआ कि कांग्रेस के नागपुर के अधिवेशन मे बारह मास मे स्वराज्य प्राप्त करने की शर्तो में अछूतोद्धार का भी समावेश किया गया। नागपुर-कांग्रेस मे भी स्वामीजी सम्मिलित हुए थे और वहाँ से ऐसे बीमार होकर लौटे थे कि तीन मास लगातार बिस्तर पर ही पड़े रहे थे। बिस्तर पर पड़े हुए भी आप प्रति-दिन दो घण्टा भारत के लिये स्वराज्य-प्राप्ति की प्रार्थना करने में बिताया करते थे। बिस्तर से उठते ही आप अप्रैल सन् 1921 के मध्य मे प. मोतीलाल नेहरू की कन्या के शुभ-विवाह में सम्मिलित होने के लिये इलाहाबाद गये। वहाँ कांग्रेस के प्रायः सभी नेता पधारे थे। शिमला से महात्मा जी को वायसराय लार्ड रीडिंग से मिलने के लिये मालवीय जी के तार व पत्र आये। दीनबन्धु एण्डरूज भी कुछ ऐसा ही सन्देश लाये थे। महात्मा जी ने इस सम्बन्ध में जब स्वामी जी की सम्मति पूछी, तब आपने कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी की सलाह के बिना जाने का स्पष्ट विरोध किया। पर, महात्मा जी इस सलाह को न मान लेने के करमि लिये चले ही गये। स्वामी

जी की दृष्टि में यह बहुत बडी भूल थी, जिससे कांग्रेस को लाभ न होकर हानि ही हुई। बेजवाडा में आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी में भारतीय राष्ट्र का चरखे वाला तिरगा झण्डा तथा तीन माह मे स्वराज्य-प्राप्ति के लिये एक करोड सभासदों, एक करोड़ रुपये और बीस लाख चरखो का कार्यक्रम बनाया गया। आप ऐसे कार्यक्रम से सहमत अवश्य थे और ठोस विधायक दृष्टि से ही उसकी आवश्यकता भी स्वीकार करते थे, किंतु स्वराज्य-प्राप्ति के लिये तीन मास या बारह मास की आशाये दिलाने के आप सख़्त विरोधी थे। आपका कहना था कि इस अवधि मे स्वराज्य तो मिलेगा नहीं और उसकी प्रतिक्रिया बहुत बुरी होगी। 'श्रद्धा' में भी आपने इस नीति का प्रतिवाद किया था और महात्मा गांधी को पत्र लिख कर भी उनके प्रति अपना भाव प्रगट किया था।

इसी बीच में एक उल्लेखनीय और हलचल पैदा करने वाली घटना और हुई। वह यह थी कि सरकार के उस समय के होम मेम्बर सर विलियम विसेण्ट ने बार-बार एसेम्बली में यह कहा था कि उसके पास इसका लिखित प्रमाण है कि मौलाना मुहम्मद अली ॲगरेजों के विरुद्ध काबुल के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे हैं। स्वामी जी को किसी ने यह भी बताया था कि मौलाना का अपने हाथ का लिखा हुआ ऐसा एक पत्र सर तेज बहादुर सप्रू को सरकार की ओर से दिखाया भी गया था। स्वामी जी ने इस सब विषय को 'श्रद्धा' में प्रकाशित कर सरकार को चैलेंज दिया था कि वह मौलाना के पत्र का ब्लाक बना कर प्रकाशित करे। सरकार को इस चैलेंज को स्वीकार करने का साहस नही हुआ।

महात्मा जी का अपने अनुयायियों पर अन्धा विश्वास था। स्वामी जी इससे भी उनको बराबर सावधान करते रहते थे। मुसलमान अपनी खिलाफ़त कान्फ्रेंसो मे प्रायः कुरान-शरीफ की काफ़िरों के प्रति जहाद करने की आयतों को पढ़ा करते थे। स्वामी जी ने उनके सम्बन्ध मे गाधी जी को लिखा था—"यह अहिसा के सिद्धांत के प्रतिकूल है। समय आने पर मुसलमान उन्ही आयतों का प्रयोग हिदुओं के प्रतिकूल भी अवश्य करेंगे।" अन्य अवसरों पर भी आप कांग्रेस के नेताओ की हिसात्मक वृत्ति से महात्मा जी को सावधान करते रहते थे। नागपुर-काग्रेस की समाप्ति पर बीमारी के बिस्तर पर पड़े हुए भी आपने श्री महादेव भाई देसाई के द्वारा इसी सम्बन्ध मे एक सन्देश महात्मा जी को भेजा था। मुसलमानो के हिज़रत करने के विचार से भी आप सहमत नहीं थे। आपने लिखा था—"भिन्न-भिन्न धर्म तथा सम्प्रदाय भी देश मे राजनीतिक तथा सामाजिक एकता पैदा करने मे बाधक नहीं हो सकते और इकत्तीस करोड भारतवासी देश में सच्ची राष्ट्रीयता

स्थापित कर सकते हैं। जिस एक केन्द्र में सब इकट्ठा हो सकते हैं... धर्मी, आर्यसमाजी, ब्राह्म, जैन, बौद्ध, पारसी, मुसलमान, ईसाई और यहूदी आदि सब अपने-अपने ढंग से पूजा-पाठ करते हुए भी भारतमाता की पूजा में, जन्मभूमि की सभ्यता के नाम पर, एक होकर भ्रातृभाव का सुदृढ़ सैनिक-संगठन पैदा कर सकते हैं।" पहिले प्रबन्ध किये बिना सेना तथा पुलिस आदि की नौकरियों से सब को एकदम हटा लेने के भी आप पक्ष में नहीं थे।

गांधी जी के साथ ऐसे छोटे-मोटे मतभेद रखते हुए भी देश में जो नव-चेतना पैदा हो रही थी, उसमें आपको आशा की स्पष्ट रेखा दृष्टिगोचर हो रही थी। आपका मन-मयूर देश में पैदा होते हुए नवजीवन के साथ नाच रहा था। गुरुकुल में बैठे रहना आपके लिये सम्भव नहीं रहा। प्रतिनिधि-सभा की पुरानी मण्डली के साथ आपकी फिर भी नहीं पटी। आपने फिर सार्वजनिक-क्षेत्र के मार्ग का ही अवलम्बन करना उचित समझा। प्रतिनिधि-सभा के प्रधान श्री रामकृष्ण जी को आपने 25 सितम्बर सन् 1920 को लिखा—"इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आंदोलन अकृत कार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न पचास वर्ष पीछे जा पड़ेगा। इसलिये मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आप की सम्मति में इस काम में लगने के लिये मुझे गुरुकुल या आर्यसमाज के काम से अलग हो जाना चाहिये तो जैसा पत्र आप तजबीज़ करेंगे, मैं पब्लिक में भेज दूँगा। मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता। मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है।" 'इस प्रकार असहयोग-आंदोलन के लिये ही गुरुकुल छोड़ कर आप सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में आये। मुलतान में पंजाब-प्रांतिक-राजनीतिक-कान्फ्रेंस में आप सम्मिलित हुए। देश में खिलाफ़त-आंदोलन की लहर भी ज़ोरों पर थी। आप भी उससे अलग नहीं रहे। पर, आपकी मनोवृत्ति कुछ दूसरे ही ढंग पर काम कर रही थी। मुलतान से लौटते हुए लाला जी से आप मिले और उसके सामने अपना मन खोल कर रखते हुए आपने अछूतोद्धार की समस्या को सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया। लाला जी ने 500 रु. इस काम के लिये आपको देते हुए अधिक सहायता कांग्रेस-फ़ण्ड में से लेने की सलाह दी। अगस्त में देहली पहुँच कर आपने देखा कि सरकार की ओर से अछूतों को कांग्रेस के मुक़ाबले में खड़ा किया जा रहा था और कांग्रेस के लोग उधर से बिलकुल बे-ख़बर थे। कांग्रेस वालों की उदासीनता से आप इतने खिन्न हुए कि कांग्रेस-फ़ण्ड में से सहायता लेने का विचार त्याग कर आपने स्वतन्त्ररूप में उस काम को शुरू किया और

स्वामी जी की हस्तलिपि

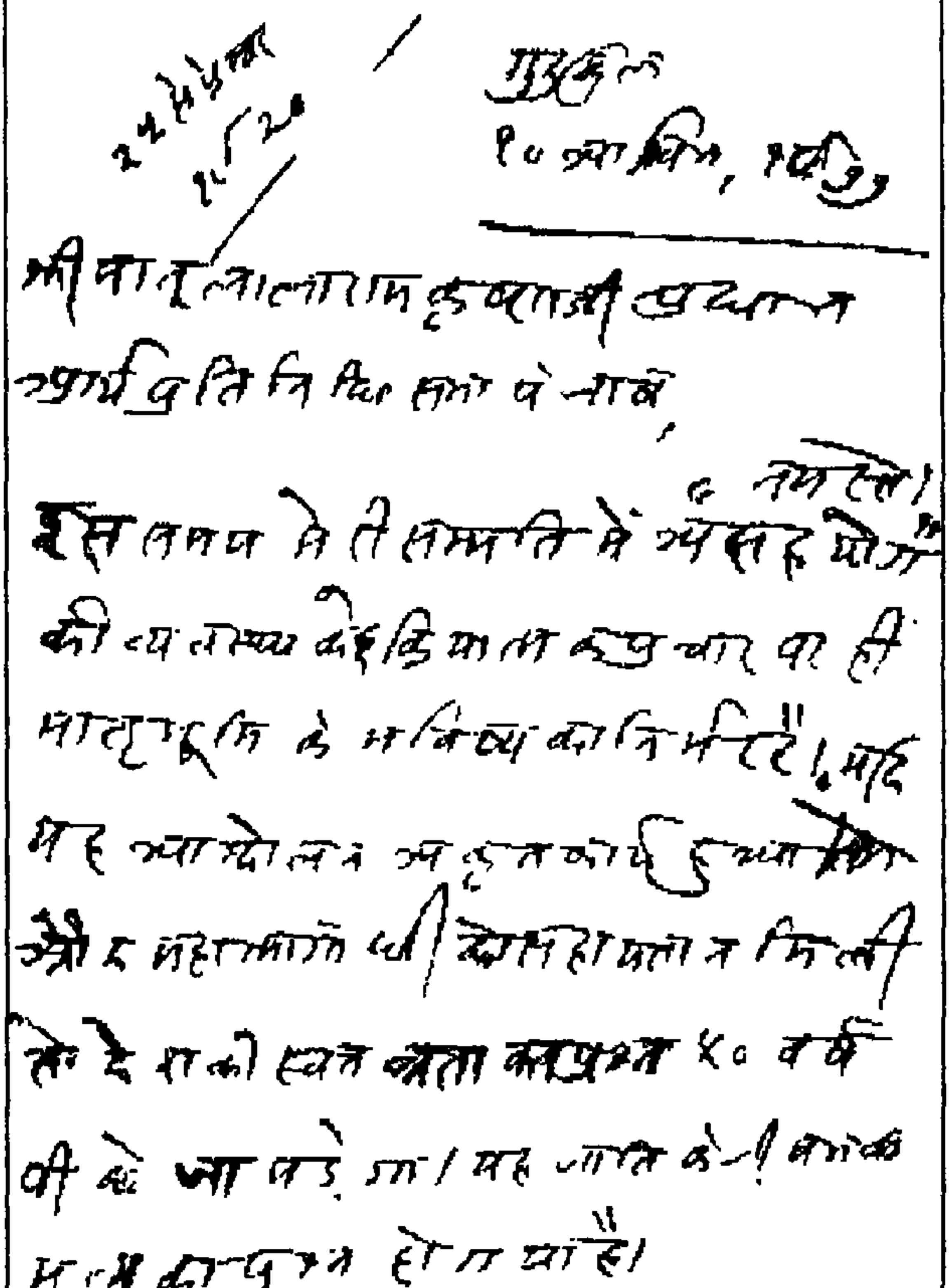

गुरुकुल
१० आश्विन, १९८२

श्री बाबू [illegible] जी प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम,

नमस्ते!

इस समय मेरी सम्मति में अछूतों की समस्या के हल करने पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अछूतोद्धार [illegible] और इन महात्माओं को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष और भी पीछे जा पड़ेगा। यह जाति की [illegible] मृत्यु का कारण होगा है।

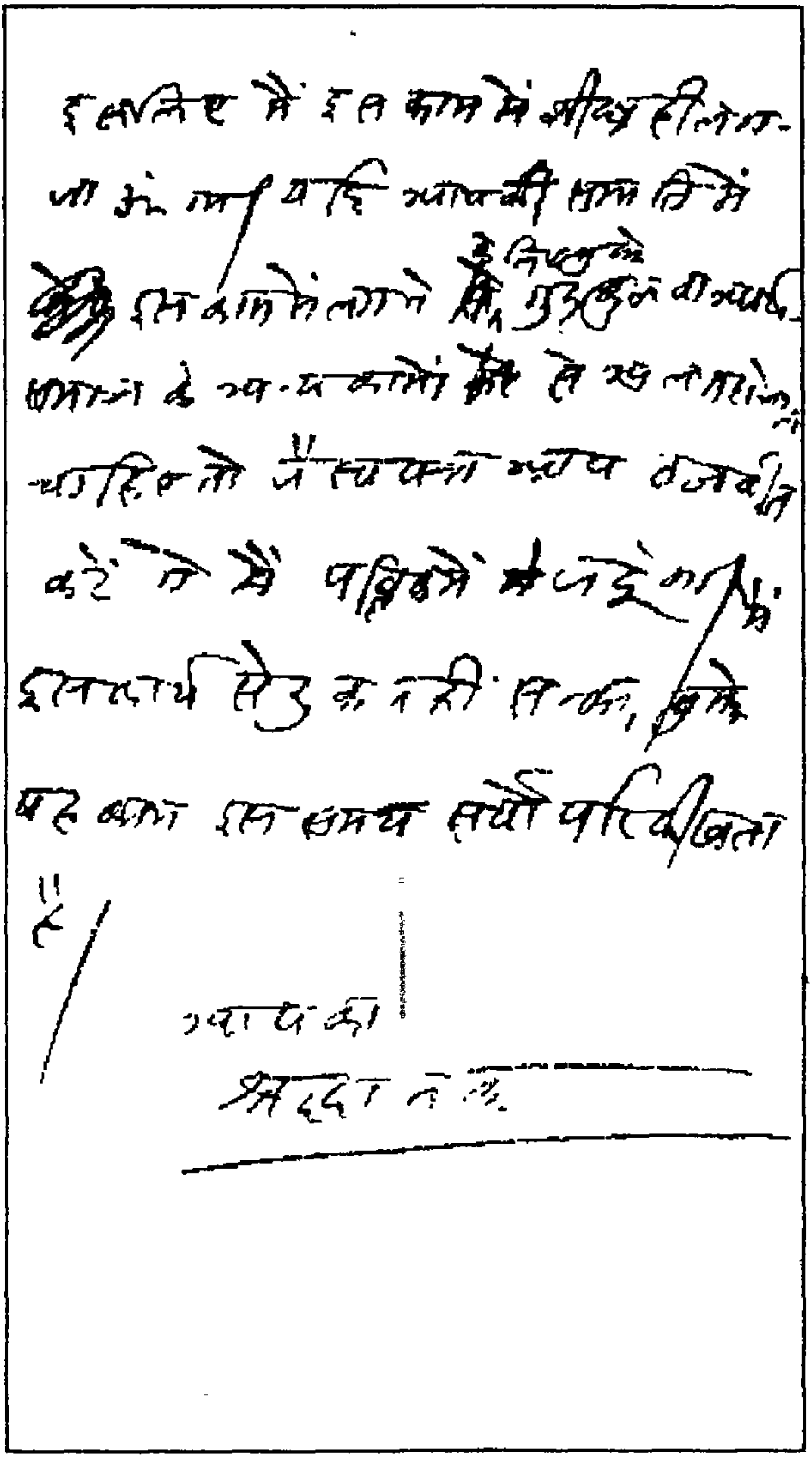
इसलिए मैं इस काम में शीघ्र ही लगना-
चाहता हूँ। यदि आपकी सम्मति में
[illegible] इस काम के लायक मैं [illegible] गुरुकुल की अपेक्षा
समाज के अन्य कामों को ले रखना
चाहिए तो मैं इसका आप निर्णय
करें तो मैं पत्रिका में लिखूँगा।
इसका अर्थ सेठ जी नहीं लिखा, मुझे
यह काम इस समय सर्वोपरि प्रतीत होता
है।

आपका
श्रद्धानन्द

देहली में दलितोद्धार-सभा की स्थापना की। इस सभा की ओर से देहली के चारों ओर के ज़िलों में अछूतों को बेगार के अन्याय और सरकार के जाल से बचाने का आदर्श कार्य किया गया। इसी समय 9 सितम्बर को महात्मा गान्धी को आपने एक पत्र लिखा था। उससे पता लगता है कि उस समय आप की मनोवृत्ति किस ढंग पर काम कर रही थी? उस पत्र में आपने लिखा था—"स्वदेशी कपड़े के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है, परन्तु जब तक साढ़े छः करोड़ हमारे पाँव तले रौंदी हुई जातियाँ ब्रिटिश नौकरशाही की शरण ले रही हैं, तब तक स्वदेशी का पूरा प्रचार कैसे होगा? मैं अब अपनी थोड़ी-सी शक्ति हद्द वाली सीमा में केवल दलित जातियों के उद्धार में लगाना चाहता हूँ। मैं नहीं जानता कि साढ़े छः करोड़ उन भाइयों के अलग रहते हुए, जिन्हें अज्ञानवश अछूत समझा जाता है, स्वराज्य अगर मिल भी गया तो हिन्दुस्तानी क़ौम के लिये कैसे हितकर सिद्ध होगा? मैंने वह पत्र यह सूचना देने के लिये लिखा है कि अब कांग्रेस की कारकुन कमेटी (वर्किंग कमेटी) से मैं कोई धन इस काम के लिये नहीं माँग सकता। मैं जितना अपनी अल्पशक्ति से हो सकेगा, उतना ही करूँगा।" नागपुर-कांग्रेस द्वारा निश्चित कार्यक्रम की आलोचना करते हुए इसी पत्र में आपने लिखा था—"मद्रास के ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का झगड़ा आपस में निबटाया नहीं जा सका और दलित जातियों के अपनाने में तो सर्वसाधारण ने एक पग भी आगे नहीं रखा। आपने जो कुछ भी इस अंश में किया वह अत्यन्त सराहनीय है, परन्तु उसका असर दूसरे असहयोगियों ने दूर कर दिया।" यह पत्र लिख कर स्वामीजी पूरी तरह दलितोद्धार के काम में लग गये।

3-4-5 नवम्बर सन् 1921 को देहली में आल-इण्डिया कांग्रेस-कमेटी का अधिवेशन हुआ। सामुदायिक-सत्याग्रह का प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए उसके लिये छूत-छात को पूरी तरह, नहीं तो अस्सी सैकड़ा, दूर करना भी एक आवश्यक शर्त रखी गई। गान्धीजी ने बारडोली तहसील को सामुदायिक सत्याग्रह के लिये तैयार करने का निश्चय किया। इस अधिवेशन की एक घटना उल्लेखनीय है। महात्माजी ने यह घोषणा की थी कि यदि 21 दिसम्बर सन् 1921 तक स्वराज्य न प्राप्त हुआ तो मैं हिमालय चला जाऊँगा। सब लोग इसके लिये चिन्तित थे। पर, इस सम्बन्ध में महात्माजी से प्रश्न करना कठिन था। स्वामीजी ने ही प्रश्न किया। गान्धीजी ने उत्तर दिया कि यदि लोगों का स्वराज्य के लिये ऐसा ही उत्साह बना रहा तो मैं हिमालय क्यों जाऊँगा?

आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के बाद 7-8 नवम्बर को हिन्दुओं की एक

कान्फ्रेंस हुई, जिसमे ख़िलाफ़त के ढंग पर हिन्दुओं में गोरक्षा के नाम पर असहयोग-आन्दोलन को संगठित करने के सम्बन्ध में विचार हुआ। इसके लिये सगठित की उपसमिति के सभापति स्वामी जी बनाये गये।

19 नवम्बर को आप देहली से नवसारी गये। वहाँ गुरुकुल की शाखा खोलने का विचार था। वह काम तो उस समय नहीं हुआ, किन्तु आपने सूपा, सूरत, बारडोली आदि में कई स्थानो का दौरा किया और वहॉ के राष्ट्रीय स्कूलों का निरीक्षण भी किया। बड़े दुःख के साथ आपने देखा कि किसी भी विद्यालय में अछूतों के बालकों का प्रवेश नहीं था। जिस बारडोली के सत्याग्रह की सारे देश में धूम थी, उसमें खादी का तो पूरा साम्राज्य था; किन्तु अस्पृश्यता नाम को भी नहीं दूर हुई थी, यद्यपि सत्याग्रह के लिये वह भी एक आवश्यक शर्त थी। आपको इस अवस्था पर बड़ा दुःख हुआ। स्थानीय कार्यकर्त्ताओं और जनता का भी आपने इस कमी को ओर ध्यान आकर्षित किया।

यही समय था, जब युवराज के स्वागत के बहिष्कार को दबाने के लिये सरकार की मूर्खतापूर्ण दमननीति ने देश में नया जीवन फूँक दिया था। सत्याग्रह के जिस अवसर को ढूँढ़ते हुए सत्याग्रही निराश हो रहे थे, वह अनायास ही हाथ लग गया। इसी सत्याग्रह की गरमा-गरमी मे अहमदाबाद मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। काग्रेस-नगर में स्वामीजी का अपना कैम्प अलग ही था, जहॉ दर्शनार्थी भक्त लोगो की सदा भीड़ लगी रहती थी। तिलक-नगर की स्वराज्य सरकार की ओर से आप न्यायाधीश नियत किये गये थे। सन्दिग्ध अथवा अपराधी व्यक्ति पकड़ कर आपके सामने लाये जाते थे। आप उससे अपराध स्वीकार कराकर और फिर वैसा न करने का वायदा लेकर उसको छोड देते थे। विषय-नियामक-समिति और आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी के विवादो मे भी आपने पूरा भाग लिया। इसी काग्रेस पर महात्मा जी डिक्टेटर नियुक्त किये गये थे और अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार भी उनको दे दिया गया था। स्वामीजी की सम्मति यह थी कि उत्तराधिकारी की नियुक्ति वर्किंग-कमेटी पर छोड दी जानी चाहिये। इस और ऐसे अन्य मतभेदों पर भी आपने स्वराज्य की लड़ाई मे साथ देने का महात्माजी को पूरा विश्वास दिलाया, क्योंकि आपका यह पूरा विश्वास था कि वर्तमान अवस्थाओं में मातृभूमि का उद्धार उनके आन्दोलन द्वारा ही सम्भव था। लालाजी जेल में थे। इसलिये पजाब के लोग आपको पंजाज ले जाना चाहते थे और हकीम जी आपको देहली से हिलने नहीं देना चाहते थे। निर्णय महात्मा जी पर छोड़ा गया और उन्होंने देहली के पक्ष में निर्णय कर दिया। बम्बई, अकोला

और अमरावती आदि में 'वैदिक-स्वराज्य का सन्देश' सुनाने के बाद आप 21 जनवरी सन् 1922 को देहली आ गये। देहली में आपने सत्याग्रह शुरू करने का विचार किया, किन्तु देहली-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी के सभापति डा. अन्सारी सदा यह कह कर आपको रोकते रहे कि पहिले स्वयंसैनिकों का उपयुक्त संगठन हो जाने दीजिये। डाक्टर साहब का संगठन तो पूरा नहीं हुआ, किंतु देवियों ने स्वामी जी का आशीर्वाद प्राप्त कर युवराज के आने पर देहली में हड़ताल कराने की पूरी तैयारी शुरू कर दी। आप ने भी हिन्दू-गोरक्षिणी-उपसमिति के सभापति की हैसियत से आन्दोलन शुरू कर दिया। कांग्रेस के स्थानीय नेताओं की अकर्मण्यता और उदासीनता ने आपको इतना विक्षिप्त कर दिया कि आपका दिल ही उधर से हट गया। आपको यह भी शिकायत थी कि देहली ज़िला और प्रान्त की कांग्रेस-कमेटियो के अध्यक्ष युवराज के बहिष्कार के दिनों में सरकार से मिले हुए थे। महात्मा को देहली की निराशा और दुःख पैदा करने वाली उस स्थिति के सम्बन्ध मे आपने एक पत्र भी लिखा था। उसमे अपनी आंतरिक वेदना का उल्लेख करते हुए आपने गान्धीजी को सूचित किया था कि युवराज के आने के बाद 15 या 16 फ़रवरी को मैं देहली में चला जाऊँगा और अपने को आर्यसमाज का इतिहास लिखने में लगा दूँगा। भगवान् ने जिस प्रकार आपको देशवासियों में सत्य, निर्भयता और स्वतन्त्रता की भावना पैदा करने में समर्थ बनाया है, उसी प्रकार वे आपको भारत के लिये पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने मे समर्थ बनावें--यही मेरी प्रार्थना है।

इधर स्वामीजी देहली से निराश हो रहे थे और उधर सारे देश को गहरी निराशा में डालने वाली चौरीचौरा की दुर्घटना घटने को थी। उस दुर्घटना ने स्वराज्य-प्राप्ति के मार्ग पर सरपट दौडते हुए देशवासियों के आशापूर्ण हृदयो पर ऐसी गहरी चोट की, जिसने उसकी वेगवति प्रगति के प्रवाह को एकदम रोक दिया। स्वामी जी ने इस दुर्घटना पर महात्मा जी को निम्न आशय का तार दिया था—"चौरीचौरा की दुर्घटना बड़ी भयानक है। कृपा कर आक्रामक आंदोलन को रोकें। आल-इण्डिया-काग्रेस-कमेटी का अधिवेशन देहली मे बुलाकर नया कार्यक्रम निर्धारित करें।" 24-25 फ़रवरी को देहली में आल-इण्डिया-काग्रेस-कमेटी की बैठक बुलाई गई। कई दृष्टियों से अधिवेशन बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ। सत्याग्रह और अहिंसात्मक असहयोग को मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिये मनुष्य का जन्मसिद्ध 'अधिकार मानते हुए उसके लिए कुछ शर्तें नियत की गई और प्रान्तिक-काग्रेस-कमेटियों को उन शर्तो के पूरा करने पर सत्याग्रह शुरू करने का अधिकार दिया गया। स्वामी जी की सम्मति यह थी कि उन शर्तो के साथ यह

भी स्पष्ट कर देना चाहिये कि आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी कांग्रेस के बाहर के लोगों द्वारा किये गये उपद्रव अथवा हिंसा के लिये ज़िम्मेवार न होगी और यदि कोई कांग्रेसवादी ऐसा करेगा तो वह कांग्रेस की सब सस्थाओं से अलग कर दिया जायगा। इसी आशय का संशोधन पेश करने की आपने सूचना भी दी थी। सत्याग्रह के प्रारम्भ से ही महात्मा जी से स्वामी जी का यह मतभेद बना हुआ था, किंतु आदोलन की प्रबल गति को हानि न पहुॅचाने के विचार से उसके सम्बन्ध में महात्मा जी को निजी पत्रों में बराबर लिखते हुए भी आपने कभी प्रगट में वैसा आंदोलन नहीं किया था। महात्मा जी ने अपने निवास-स्थान डा. अन्सारी के यहॉ बुला कर आपसे उक्त संशोधन वापिस लेने का आग्रह किया। महात्मा जी ने यहॉ तक कहा—"सभा में आप का कोई भी समर्थन नही करेगा और अपने भाई साहब के संशोधन को समर्थन न मिलने पर रद्द होते हुए देख कर मुझको दुःख होगा।" स्वामी जी ने कहा—"यह मेरे लिये अन्तरात्मा का प्रश्न है, यदि मुझको एक भी मत नही मिला तब भी मुझको बड़ा सन्तोष होगा कि मैंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को दबाया नहीं।" महात्मा जी इस पर भी आग्रह करते रहे और अन्त में बोले—"यदि आप नही मानेगे, तो हमको मीटिग में हरकत होगी।" स्वामी जी ने खुले अधिवेशन मे संशोधन वापिस लेने का वायदा करते हुए यह भी कह दिया कि "मैं इसके बाद कांग्रेस के किसी भी काम मे विशेष भाग नहीं लूॅगा।" 12 मार्च को कांग्रेस के सब पदो से त्यागपत्र देकर आप कुरुक्षेत्र-गुरुकुल जाकर साहित्यिक कार्य में लग गये, किंतु देश के राजनीतिक-वातावरण का घटना-चक्र बड़ी तेज़ी के साथ घूम रहा था और उसमे अभी आपको अपना हिस्सा अदा करना बाक़ी था। राजपूताना-प्रांतिक-राजनीतिक-परिषद् से डा. अन्सारी के द्वारा महात्मा जी ने स्वामी जी को त्यागपत्र वापिस लेने के लिये आग्रहपूर्ण सन्देश भेजा। स्वामी जी के पास यह सन्देश पहुॅचते न पहुॅचते 18 मार्च को अजमेर से लौटते हुए महात्मा जी गिरफ्तार कर लिये गये। डा. अन्सारी ने साफ़ कह दिया कि मैं आपका त्यागपत्र कांग्रेस-कमेटी मे पेश नही करूॅगा। 28, 29 और 30 अप्रैल को बटाला मे पंजाब-प्रांतिक-राजनीतिक-परिषद् थी। महात्मा जी की गिरफ़्तारी के नाम पर पंजाब के नेताओ ने आपसे पधारने की आग्रहपूर्ण प्रार्थना की। देश के अन्य माननीय नेता भी वहॉ पधारने वाले थे। उस समय महात्मा जी की गिरफ्तारी भी देश के लिये एक सकट ही था। संकट के समय देश का साथ न देना स्वामी के लिये सम्भव नही था। बटाला जाने का न कोई निश्चय था और न तैयारी ही, फिर भी ठीक समय पर आप बटाला चल दिये। वहॉ सर्व

श्री विट्ठल भाई पटेल, अब्बास तय्यब जी, लाला दूनीचन्द, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि ने आपसे आग्रह किया कि आप कांग्रेस से अलग न हों। जनता के सेवक स्वामी जी ने देश के नेताओं के आग्रह को सिर माथे रखा और कांग्रेस के विधायक कार्यक्रम विशेषतः अछूतोद्धार के काम को करने का निश्चय किया। बटाला, अमृतसर आदि में भाषण देते हुए आप कुरुक्षेत्र लौटे और वहाँ फैलाये हुए साहित्यिक कार्य को समेट कर फिर देहली आ गये।

लखनऊ में ता. 6-7 जून को आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी का वह स्मरणीय अधिवेशन हुआ, जिस में सत्याग्रह-जॉच-कमेटी की नियुक्ति की गई थी। स्वामी जी ने इस में अछूतोद्धार सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करने की सूचना दी थी। उस प्रस्ताव को स्वीकृत कराने के लिये ही आप लखनऊ गये थे। लखनऊ के आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के इस अधिवेशन से ही आप के कांग्रेस से अलग होने का इतिहास शुरू होता है। इसलिये इस अधिवेशन की घटनाओं का उल्लेख कांग्रेस से जुदाई के प्रसंग मे ही करना अच्छा होगा।

(ङ) अमृतसर जेल में

स्वामी जी के गिरफ्तार किये जाने की अफ़वाहे तो समय समय पर प्रायः सुनने में आती रहती थीं। पर, आप गिरफ्तार तब किये गये जब उसकी किसी को कल्पना भी नही थी। स्वामजी के जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाये प्रायः ऐसे ही समय मे हुआ करती थीं, जब उनकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। देहली के सत्याग्रह के दिनों में, जब देहली मे राम-राज छाया हुआ था, तब, आपकी गिरफ़्तारी की प्रति-क्षण प्रतीक्षा की जाती थी। फिर पंजाब के मार्शल-लॉ की हकूमत के कर्ता-धर्ता छोटे लाट ओडवायर की यह शिकायत थी कि पजाब मे सारी विद्द्द देहली से आती है। सब उपद्रव के दिमाग़ महात्मा जी और भौतिक देह स्वामी जी समझे जाते थे। लाला दूनीचन्द को स्वामी जी ने लिखा था कि ज़रूरत हो तो मै लाहौर पहुँचूँ। स्वामी जी की यह चिट्ठी ओडवायर के हाथ लग गई थी। उस पर ओडवायर ने स्वय यह हुक्म पास किया था कि "स्वामी जी को अमृतसर मे न पकड़ा जाय, बल्कि लाहौर पहुँचने पर पैर में बेड़ी और हाथ मे हथकड़ी लगा कर बाज़ारो में घुमाया जाय। शहर मे मशीनगनें लगा दी जायँ, दो हज़ार हथियारबन्द फ़ौज बाज़ारों मे खडी कर दी जाय और स्वामी जी को इस तरह अपमानित किया जाय कि लोग दहल जायँ।" ओडवायर के इस हुक्म की एक नक़ल 24 जून 1919 को स्वामी जी के हाथ तब लगी थी, जब आप पीड़ितों

की सहायता करने पंजाब पहुँचे थे। उन दिनों में लाहौर जाना नहीं हुआ और ओडवायर अपने दिल की हवस पूरी नहीं कर सके। फिर शिमला में सी. आई. डी. के डाइडेक्टर सर चार्ल्स क्लीबलैंड ने देहली के राजभक्त वकील, रायबहादुर और ख़ानबहादुर साहबान के साथ स्वामी जी की गिरफ़्तारी कापरामर्श किया। किसी ने भी स्वामी जी को देहली में गिरफ़्तार करने की सलाह नहीं दी और कह दिया कि देहली में गिरफ़्तार किया तो फ़िसाद हो जाने का डर है। अमृतसर में कांग्रेस-अधिवेशन की तैयारियों में जब आप लगे हुए थे, तब भी बराबर ऐसी बातें सुनने में आती थीं। गुरुकुल में दुबारा आने पर आपने 'श्रद्धा' पत्र निकालना शुरू किया था, उस के कुछ लेखों के आधार पर भी आप पर मुक़दमा चलाने की बात कही जाती थी। पर, वह भी सारहीन ही सिद्ध हुई। गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये चन्दा जमा करने को आप सन् 1921 में बर्मा गये थे। वहाँ एक मास के दौरे में ख़ुफ़िया पुलिस बराबर आप के आगे पीछे रही। वहाँ भी आप के शुद्ध वैदिक स्वराज्य और मनुष्य के स्वतन्त्रता के जन्मसिद्ध अधिकारों के सम्बन्ध में दिये गये भाषणो पर उड़ी हुई गिरफ़्तारी की बातों में कुछ तथ्य न निकला। देहली में दलितोद्धार-सभा की स्थापना करके दलित जातियों को सरकारी कुचक्र से बचाने की कोशिश मे जब आप लगे हुए थे, तब भी आप और डा. सुखदेव जी की गिरफ़्तारी की अफ़वाह जोरो पर थी। युवराज के देहली पधारने के समय जब सब कांग्रेसी नेता और सिर छिपाये हुए थे, तब आप ने ही उस के स्वागत के बहिष्कार का आदोलन किया था। लोगों की पक्की धारणा थी कि आप जरूर गिरफ़्तार किये जायेंगे। गिरफ़्तारी की हवा का वह झोका भी खाली ही निकल गया। उस समय आप तो आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के लखनऊ के अधिवेशन के बाद, कांग्रेसी नेताओ की अछूतोद्धार के सम्बन्ध में की गई आनाकनी से निराश हो, कांग्रेस के सब कामो से किनारा कर, हिन्दू जाति के सगठन को ब्रह्मचर्य द्वारा दृढ़ करके अछूतोद्धार मे ही सब ध्यान लगा देने की तैयारी कर रहे थे, पर आप को भी क्या मालूम था कि वही अमृतसर, जिस की मार्शल-लॉ की खूनी हकूमत से क्षत-विक्षत होने पर आप मरहमपट्टी करने पहुँचे थे, आप को देशसेवा तथा देश-भक्ति का योग्य पुरस्कार देने के लिये अपनी ओर बुला राह था? जलियांवाला-बाग़ के अत्याचारो की पीड़ा से विह्वल हृदय गुरुका-बाग़ मे होने वाले अनाचार से कैसे ऑखे मूँद सकता था? आपद्ग्रस्त लोगों के लिये हथेली पर सिर रखकर सदा तैयार रहने वाला संन्यासी 10 दिसम्बर सन् 1922 के सवेरे अमृतसर पहुँचा। दिल्ली की शाही जामा-मसज़िद के मिम्बर की शोभा बढ़ाने वाले

आर्य संन्यासी ने अमृतसर के अकाल-तख्त की भी शोभा बढ़ाई। वहाँ लगे हुए दीवान में दिल्ली निवासियों का यह सन्देह सुना दिया कि देहली से 'शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी' का इशारा पाते ही सौ आदमी तुरन्त आने को तैयार है। पाँच हज़ार तक की सहायता देहली करेगा और आशा दिलाई कि संयुक्तप्रांत भी पीछे नही रहेगा। दुपहर को एक बजे आप गुरुका-बाग़ गये। शाम को साढ़े पाँच बजे अमृतसर लौटने की तैयारी ही में थे कि एक पुलिस इन्स्पेक्टर 117, 143, 147 और 109 धारा के अनुसार गिरफ़्तारी का परवाना लेकर आ पहुँचा। आपको पुलिस के पहरे में शाम को साढ़े सात बजे अमृतसर-जेल के संगीन दरवाज़े के भीतर चार-दिवारी में लगभग 12 फ़ीट लम्बी और 8 फ़ीट चौड़ी कोठड़ी में बन्द कर दिया गया। 5 अक्तूबर तक मुक़दमा चला और आपको 117 में एक वर्ष और 143 में 4 मास की सादी क़ैद की सज़ा दे दी गई। कभी के राजभक्त और छोटे तथा बड़े लाट के भी विश्वासपात्र महात्मा मुंशीराम स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में आज वास्तव में सरकार के मेहमान हुए। गुरुओं के लाखों शिष्यों को अमृत छका उनमें शहीदाना-मस्ती भर कर अमर-पद दिलाने वाली अमृत-नगरी को ही स्वामी श्रद्धानन्दजी के मस्तक पर देशभक्ति का शहीदाना-राजतिलक लगाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सार्वजनिक-जीवन के जनम-काल से पजाब की गई चिरस्मरणीय सेवा का पुरस्कार पंजाब की ही प्रधान नगरी ने अपनी गोद में बिठा कर आपको दिया। लार्ड चैम्सफोर्ड और उस के साथियों ने भी देख लिया होगा कि शारीरिक बीमारियों के घर, 67 वर्ष के बूढ़े तथा कृश शरीर मे, कष्ट-सहन करने की कितनी सामर्थ्य थी?

लाहौर के उर्दू के एक दैनिक-पत्र के आर्य-सम्पादक ने आर्य-संन्यासी के इस प्रकार जेल जाने पर सन्देह प्रगट किया था और गृहस्थो के सन्देश को अमृतसर पहुँचाना संन्यासी के धर्म के बाहर बताया था। आपने इस सम्बन्ध में कहा था—"मैंने संन्यास का अर्थ कर्म का न्यास नहीं समझा, प्रत्युत गुरुवर आचार्य दयानन्द के चरण-चिन्हों पर चलने का यत्न करते हुए कर्मफल में अनासक्ति को ही संन्यास समझा है। इसलिये मै उनके साथ सहमत नहीं हूँ जो कहते हैं कि सर्व कर्मनासी संन्यासी होता है। यदि दिल्ली वालों का सन्देश धर्मानुकूल था तो संन्यासी से बढ़ कर उस को पहुँचाने वाला और कौन हो सकता है?"

26 अक्तूबर को आपको पुलिस की संगीनों के पहरे में लारी पर सवार करा खासा रेलवे स्टेशन से सींखचों की गाड़ी मे बन्द करके मियांवाली जेल पहुँचा दिया गया। यहाँ आपका दैनिक कार्यक्रम यह था। सवेरे 2 बजे उठते, लघुशंका

कर हाथ मुँह धो-पोंछ कर ध्यान में बैठ जाते। चार बजे फिटकरी के पानी से दातुन का काम लेते। शौच जाने के बाद साढे चार से साढ़े छः तक लिखने का काम करते। साढ़े छः बजे अपना कमरा और उसके बाहर की जगह झाड़ू और कपड़े से साफ़ करते। फिर 20 मिनट व्यायाम करते और सरसों के तेल की मालिश, सवा सात बजे स्नान-उपासना-गीता तथा उपनिषदों का पाठ, कुछ आर्य युवकों को सन्ध्या के मन्त्रों पर उपदेश और टहलना नौ बजे तक होता। साढ़े दस बजे भोजन और उसके बाद थोड़ा विश्राम लेते। बारह से दो तक स्वाध्याय और उसके बाद साढे तीन बजे तक कथा होती। फिर शौच आदि नित्य कर्म और टहलते हुए कुछ मित्रों के साथ बातचीत करते। साढ़े छः बजे शाम को कोठरी में मोमबत्ती की रोशनी करके लिखने बैठते तो आठ बजे तक लिखते रहते। साढ़े आठ बजे के बाद लघुशंका आदि से निवृत्त हो आध घण्टा आत्मचिन्तन करते और ठीक नौ बजे जमीन पर बिस्तर लगा कर सो जाते। तीक्ष्ण सर्दी होने पर भी इस दैनिक-कार्यक्रम में कभी शिथिलता नही की जाती थी। व्यायाम का तो आपको कुछ व्यसन ही था। आपने लिखा है—"डाक्टरों के मना करने पर भी इस अभ्यास को नही छोड़ सका, शायद काम भी इसी की बदौलत करता रहा हूँ। ऊपर की दिनचर्या के निरन्तर पालन से ही मैं जेल में स्वस्थ रहा।"

27 नवम्बर को पजाब के छोटे लाट सर एडवर्ड मैकलेगन जेल का निरीक्षण करने आये। स्वामी जी के साथ आपका पहिले का परिचय था। कई बार गवर्नमेण्ट हाउस मे भी परस्पर मिलना-जुलना हुआ था। आज जेल में मुलाक़ात हुई। स्वामी जी के सिर और दाढी के बाल बढे हुए थे। इसलिये छोटे लाट आपको पहिचान नही सके। सुपरिण्टेण्डेण्ट से पूछ कर आप आपके पास आये और आपसे पूछा—"क्या आप मे कुछ परिवर्तन नहीं हुआ?" आपने उत्तर दिया—"हॉ, जेल मे मै ने क्षौर नही कराया।" छोटेलाट ने फिर पूछा—"क्या आपको छः मास यहॉ हो गये?" आपने कहा—"नहीं, अभी अढाई मास ही हुए है।" चुप करके कुछ ठहरे, सम्भवतः इसलिये कि स्वामी जी कुछ कहेंगे। जब स्वामी जी कुछ न बोले तब आप ने फिर पूछा—"कहिये, आप सर्वथा आराम से तो है?" स्वामी जी ने कहा—"हॉ, मुझ को सभी जगह आराम है।" वस्तुतः उस बुढापे मे भी स्वामी जी ने जेल-जीवन बड़े आनन्द के साथ पूरा किया।

26 दिसम्बर की दुपहर को कथा का अभी आरम्भ ही हुआ था कि जेलर आये और आकर बोले—"चलिये बाहर, आप यहॉ नहीं रह सकते। आपकी रिहाई का वारेण्ट आ गया है।" कथा पूरी कर सब भाइयो से मिलकर आप दो-ढाई

बजे जेल से बाहर हुए। शहर में अचानक ही पहुँचने पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। शाम को सिंह-सभा में भाषण हुआ। 27 की सवेरे समाज-मन्दिर में धर्मोपदेश देकर ग्यारह की गाड़ी से चल दिये और 28 की सवेरे 8 बजे अमृतसर आ पहुँचे। रास्ते में दर्शनार्थी भक्तों की भीड़ से आप तंग आ गये। अमृतसर-स्टेशन पर जनता विशेषतः अकाली भाइयों ने आप का हार्दिक स्वागत किया और सीधा आपको उसी अकाल तख़्त पर ले गये, जहाँ दिये हुए भाषण के कारण आप जेल गये थे। 2 बजे समाज मन्दिर में आर्य भाइयों ने निमन्त्रित किया और वहाँ आपके स्वागत-सत्कार के उपलक्ष में फल-भोज हुआ। दुपहर को 3॥ बजे कलकत्ता मेल पर सीधे गया-कांग्रेस पर जाने के विचार से सवार हुए थे, पर जालन्धर-स्टेशन पर आर्य भाइयों के आग्रह को टालना कठिन हो गया। रात को गांधी मण्डप में भाषण हुआ। 29 दिसम्बर के प्रातः 8॥ बजे आप देहली पहुँचे।

इस तीन-चार मास के जेल-जीवन के आपके अनुभवों में से यहाँ दो बातों का ही उल्लेख करना आवश्यक है। पहिली तो यह कि आपने जेल से आने के बाद यह स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "जेल मनुअल केवल दिखलावा है।...यह सूर्य के प्रकाश की तरह प्रसिद्ध हो जाना चाहिये कि वहाँ हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखलाने के और हैं।" दूसरी यह कि "मुझे निश्चय हुआ कि अभी चरित्र-गठन में बड़ी कमी है। कम से कम मैं तो ऐसे साँचे में ढला हूँ कि कई अंशों मे स्वयं सदाचार की कमी अपने अन्दर अनुभव करते हुए भी चरित्र-हीन पुरुषों के साथ काम नही कर सकता। मेरी सम्मति मे स्वदेश के राष्ट्र के लिये पहिली आवश्यकता यह है कि जनता को ब्रह्मचारी बना कर और उसमें सहन-शक्ति फूँक कर एक आत्मोन्नत स्वराज्य-सेना खड़ी की जाय, तब वैयक्तिक ग़ुलामी की जंज़ीरें काट कर अत्याचार से युद्ध हो सकेगा। कांग्रेस, हिंदू-महासभा, ख़िलाफ़त और अन्य अखिल-भारतवर्षीय-संस्थाओं के कार्य चलाने के लिये तो बड़े-बड़े व्यक्ति विद्यमान् हैं, मुझ से अल्प शक्ति वाले मनुष्य के लिये यही बड़ा काम है कि ब्रह्मचर्य के उद्धार और दलित जातियों के उत्थान का मार्ग जो अपने को सूझा है, उस का निर्देश आर्य जाति के आगे रखने का यत्न करूँ।" यह भी आपने बिलकुल ठीक ही लिखा था कि "ब्रिटिश सरकार ने जेल का प्रबन्ध ऐसा रखा है, जिससे दुराचारी कैदी अधिक दुराचारी हो जायें। उनके भोजन-छादन, पाखाना-पेशाब, रहन-सहन को ऐसा बना दिया है कि नया फँसा अपराधी भी अनुभवी और निर्लज्ज बदमाश बन जाता है और पुराना पापी ऐसा डूबता है कि फिर उसके उठने की आशा ही नहीं रहती। जेलखानों मे एक ओर तो पठाने लम्बरदार कैदियो को

गन्दी से गन्दी गालियाँ देने, बात-बात पर उनकी गर्दनियाँ नापने, धकेलने और लातों-घूसों से मारने के लिये नियत किये हुए हैं और दूसरी ओर ऐसी ढीली निगरानी है कि बड़े जेलों में रिश्वत देकर न केवल शराब, अफ़ीम, चरस, सिगरेट आदि मँगाये जा सकते हैं, परन्तु हज़ारों का जुआ भी हो सकता है।"

वैसे स्वामी जी के लिये तो जेल और बाहर एक ही-सा था। पर, देशभक्ति के जिस युग में जेल जाना अनिवार्य-सा हो गया था, उसमें आप सरीखे देशभक्त-नेता का जेल से वंचित रहना सम्भव नहीं था। स्वामी जी ने अपनी जेल-यात्रा के सम्बन्ध में लिखा था—"मैं बिना ख़ून लगाये ही शहीदों में दाख़िल हो गया।" स्वामी जी की दृष्टि में आप का जेल जाना ऐसा ही था, किन्तु देशवासियों की दृष्टि में वह आप की दृढ़ देशभक्ति का आवश्यक पुरस्कार था, जिस से राजनीतिक शहीदों की सूची में भी ऊपर के नामों में आप का नाम सुवर्णाक्षरों में सदा लिखा जाता रहेगा।

(च) कांग्रेस से जुदाई

दूसरी बार गुरुकुल से अलग होने से कुछ ही समय पहले स्वामी जी ने स्थिर कोष के लिये की गई अपील के अन्त में लिखा था—"यदि गुरुकुल-विश्वविद्यालय-कांगड़ी तथा उस की वर्तमान शाखाओं के लिये धन की चिन्ता न रहे और यदि देश के धार्मिक दानी थोड़ा सा भी ध्यान दे दें तो इस चिन्ता से मैं एक वर्ष में मुक्त हो सकता हूँ। तब मेरा संकल्प है कि जिन्हें अछूत बतला कर जाति का चौथाई अंग काट दिया गया है, उन की शिक्षा का काम हाथ में लिया जावे और उन्हें भारत-माता के शत्रु बनाने का जो यत्न इंगलैण्ड और अमेरिका की ओर से शुरू हो गया है, उस यत्न का मुक़ाबला करके दिखला दिया जावे कि साठ करोड़ से एक भी कम भुजा भारत जननी की नहीं है।" इस के साथ पिछले पृष्ठों में दी गई उन घटनाओं को फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं, जिन से मालूम होता है कि स्वामी जी के लिये दलितोद्धार की समस्या सब से अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण थी। कांग्रेस के अमृतसर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के भाषण में इस सम्बन्ध में कहे गये शब्द बिलकुल स्पष्ट थे। कांग्रेस को अपनी कुछ शक्ति इस काम में लगाने के लिये प्रेरित करने को ही आप कलकत्ता के विशेषाधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। नागपुर में और बारडोली के प्रस्तावों में स्वराज्य की प्राप्ति और सामुदायिक सत्याग्रह शुरू करने के लिये अस्पृश्यता-निवारण भी एक शर्त रखी गई थी। स्वामी जी ने देहली में दलितोद्धार-सभा की स्थापना कर

के अपने को इस काम में पूरी तरह लगा दिया था। महात्मा जी के जेल जाने के बाद कांग्रेसी नेताओं ने इस ओर से आँखें ही मूँद लीं थीं। इसी अवस्था की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए स्वामी जी ने ता. 23 मई सन् 1922 को कांग्रेस के उस समय के प्रधान-मन्त्री श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल को इस आशय का एक पत्र लिखा था कि "कभी महात्मा जी ने तो दलितोद्धार को कांग्रेस के कार्यक्रम का मुख्य अंग बनाया था और अब उसको आँखों से बिलकुल ओझल कर दिया गया है। खादी के कार्य में हमारे कुछ अच्छे से अच्छे कार्यकर्ता अपना सब समय लगा सकते हैं, उस के लिये एक अच्छी बड़ी रकम भी अलग की जा सकती है और राष्ट्रीय शिक्षा पर भी योग्य ध्यान दिया जा सकता है, किन्तु दलितोद्धार के प्रश्न को बिलकुल दबा दिया गया है। मेरी यह स्पष्ट सम्मति है कि हमारे छः करोड़ भाइयों को हमारे विरुद्ध खड़ा कर के नौकरशाही हमारे खादी के काम को भी पूर्णतया सफल न होने देगी। मैं 7 जून को लखनऊ में होने वाली आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी में यह प्रस्ताव उपस्थित करना चाहता हूँ कि आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी के तीन सभासदों की एक उपमिति-दलितोद्धार के काम के लिये नियुक्त की जाय और पाँच लाख रुपया इस काम के लिये उस के सुपुर्द किया जाय। भविष्य में दलितोद्धार सम्बन्धी सब काम इस उपसमिति की ही अधीनता में हो।" इस पत्र की पहुँच आने पर हरिद्वार से ता. 3 जून सन् 1922 को आप ने कांग्रेस के प्रधान-मन्त्री को दूसरा पत्र इस आशय का लिखा था—"आप जानते हैं कि दलितोद्धार की समस्या मेरे लिये कितनी महत्त्वपूर्ण है? मैं देखता हूँ कि पंजाब तक में कांग्रेस की ओर से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया गया है। बारडोली के प्रस्ताव में लिखा गया है कि जहाँ अस्पृश्यता का प्रश्न अधिक जटिल हो, वहाँ कांग्रेस-कोष से दलित भाइयों के लिये अलग कुएँ और स्कूल बनवाये जायँ। इस से कट्टर अथवा कमज़ोर लोगों को दलित भाइयों के लिये कुछ भी न करने का बहाना मिल जाता है।" इस के आगे बिजनौर, अम्बाला, लुधियाना, बटाला, लाहौर, अमृतसर और जण्डियाला तथा देहली आदि के कांग्रेस कार्यकर्ताओं की अपनी आँखों देखी हुई उपेक्षा के सम्बन्ध में लिखने के बाद आप ने लिखा था—"जब तक बारडोली के प्रस्ताव का संशोधन नहीं किया जायगा, तब तक कांग्रेस के विधायक कार्यक्रम का सब से प्रधान हिस्सा पूरा नहीं किया जा सकेगा। इसलिये मेरा प्रस्ताव यह है कि उस को बदल कर यह कर दिया जाय कि दलित भाइयों की ये माँगें तुरन्त पूरी की जायँ कि उन को सार्वजनिक स्थानों में सब के साथ बैठने दिया जाय, उनको कुओं से पानी भरने दिया जाय

और राष्ट्रिय स्कूलों तथा कालेजों मे उन के बच्चों को भरती किया जाय, वहाँ सब बच्चों के साथ उन को मिलने-जुलने तथा उठने-बैठने दिया जाय।"

पहिले प्रस्ताव पर वर्किंग-कमेटी और आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी में बहस होने के बाद निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"स्वामी श्रद्धानन्द, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री गंगाधरराव देशपांडे और श्री इन्दुलाल याज्ञिक की एक उपसमिति नियुक्त की जाती है, जो वर्किंग कमेटी के अगले अधिवेशन में पेश करने के लिये दलितोद्धार के सम्बन्ध में आयोजना तैयार करे। फ़िलहाल उस आयोजना के लिये दो लाख रुपया जमा किया जाय।" स्वामी जी दो लाख की जगह पाँच लाख चाहते थे और चाहते थे कि एक लाख कांग्रेस के कोष में से तुरन्त इस काम के लिये अलग कर दिया जाय। श्री राजगोपालाचार्य ने वर्किंग कमेटी की ओर से कहा कि कांग्रेस-कोष में से एक लाख देने के लिये प्रस्ताव में आग्रह न किया जाय, किन्तु यह लिख दिया जाय कि कार्य की आयोजना तैयार हो जाने पर जितना भी सम्भव हो उतना इस काम के लिये कांग्रेस के कोष में से अलग कर दिया जाय। सभापति हकीम साहेब के समझाने से स्वामी जी ने अपने प्रस्ताव के लिये आग्रह नहीं किया। उक्त समिति के संयोजक का प्रश्न जब सामने आया तब श्रीयुत बिट्ठल भाई पटेल ने कहा—"जब स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम सब से पहले है तब यह स्पष्ट है कि वे ही उस उपसमिति के संयोजक हैं।" स्वामी जी के दूसरे प्रस्ताव के लिये, जो बारडोली के प्रस्ताव के संशोधन के सम्बन्ध में था, कहा गया कि वह वर्किंग कमेटी द्वारा उपसमिति के पास विचारार्थ भेजा जायगा।

देहली लौट कर स्वामी जी ने उक्त प्रस्ताव के अनुसार काम शुरू कर दिया, किन्तु कुछ स्थानों पर जा कर जाँच किये बिना काम करना और कोई आयोजना तैयार करना सम्भव न देख कर स्वामी जी ने वर्किंग कमेटी को लिखा कि दस हज़ार रुपया दलितोद्धार-उपसमिति को पेशगी दिया जाय। इस पर वर्किंग कमेटी ने यह प्रस्ताव किया—"पेशगी रुपया देने के सम्बन्ध में स्वामी जी का 8 जुलाई सन् 1922 का पत्र पढ़ा गया और निश्चय हुआ कि श्री गंगाधरराव देशपाडे उपसमिति के सयोजक बनाये जायँ और स्वामी श्रद्धानन्दजी का पत्र उपसमिति के पास विचारार्थ भेजा जाय।"

कांग्रेस-वर्किंग कमेटी की इस मनोवृत्ति पर स्वामी जी ने कांग्रेस के प्रधान-मन्त्री को लिखा था—"देहली के आस-पास दलितोद्धार की समस्या बहुत विकट हो रही है। मे उस में पूरी तरह जुटा हुआ हूँ वर्किंग कमेटी की आनाकानी के कारण

दलितोद्धार-उपसमिति कुछ भी काम नहीं कर सकती और वर्किंग कमेटी को देश की अन्य राजनीतिक समस्याओं से ही इतनी फ़ुरसत नहीं है कि वह दलितोद्धार के कार्य की ओर कुछ ध्यान दे सके। इन अवस्थाओं में उपसमिति में मेरा रहना व्यर्थ है और मैं उससे अलग होता हूं।" 23 जुलाई सन् 1923 को कांग्रेस के उस समय के प्रधान-मन्त्री पं. मोतीलाल जी नेहरू ने बम्बई से आपको त्यागपत्र वापिस लेने के लिये लिखते हुए लिखा—"यह बहुत दुर्भाग्य होगा कि उपसमिति इस सम्बन्ध में आपके दीर्घ अनुभव और इस समस्या के आप के विस्तृत अध्ययन से वंचित रहेगी।" उसी दिन आप ने प्रधान-मन्त्री को लिख दिया—"मैंने अमृतसर और मियांवाली जेलों में यह अनुभव किया है कि चरित्र-गठन और अस्पृश्यता-निवारण द्वारा स्थापित हुए राष्ट्रीय-ऐक्य के बिना कांग्रेस अथवा उस सरीखी राजनीतिक संस्थायें कुछ भी नहीं कर सकेंगी। मैं अब अपनी सब शक्ति इस कार्य में ही लगाना चाहता हूं। इसलिये आप मेरा त्यागपत्र स्वीकार करें। इसी पत्र में आपने वर्किंग कमेटी के उस अनुचित प्रस्ताव की ओर भी संकेत किया था, जिस द्वारा आप के स्थान पर श्री गंगाधरराव देशपांडे को उपसमिति का संयोजक नियत किया गया था। वर्किंग कमेटी के इस कार्य को अनुचित समझते हुए आप की यह भी धारणा हो गई थी कि उस की ओर से दलितोद्धार के कार्य के सम्बन्ध में आना-कानी की जा रही है। आप ने लिखा भी था—"कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी के दलितोद्धार के सम्बन्ध में की गई कार्रवाई ने मुझ को निराश कर दिया है। मुझ को आशा नहीं कि कांग्रेस इस सम्बन्ध में निकट भविष्य में कुछ भी कर सके। इसलिये मैं इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कर सकता हूं, अब दलितोद्धार सभा देहली के द्वारा ही करूंगा। मैं कांग्रेस का साधारण सभासद भी इस समय इसलिये हूं कि वह सत्य और धर्म के मार्ग का अवलम्बन करते हुए अपना ध्येय पूरा करना चाहती है, किन्तु इस के वर्तमान नेताओं की कार्यप्रणाली वैसे ही कुटिल नीति पर अवलम्बित है जैसे कि पुराने समय में थी, जबकि पढे-लिखे धनाढ्य लोगों के पास स्वराज्य प्राप्ति के लिये वैध-आंदोलन के सिवा और कोई मार्ग नहीं था। मैं मानता हूँ कि मैं ऐसे राजनीतिक मार्ग का अवलम्बन करने के सर्वथा अयोग्य हूँ। इसलिये ऋषि दयानन्द के बताये हुए वैदिक धर्म के मार्ग का ही अवलम्बन कर मैं अपने काम में लगूँगा। अब मैं ब्रह्मचर्याश्रम-पद्धति की पुरातन शिक्षा-प्रणाली का पुनरुद्धार करने, जन्मगत जात-पाँत को मिटाते हुए अछूत कही जाने वाली जातियों का महान आर्य जाति में सम्मिश्रण करने, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का यत्न करने और अहिंसा का क्रियात्मक प्रचार करने में लगूँगा। सन्

1919 में सत्याग्रह-कमेटी से त्यागपत्र देते हुए भी आप ने ऐसे ही भाव प्रकट किये थे।

यह परिस्थिति थी, जिसमें स्वामी जी कांग्रेस से अलग हुए थे। इस परिस्थिति को कुछ अधिक स्पष्ट रूप में जानने के लिये स्वामी जी के विचारों को विशेषतः असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध मे आपके मतभेद को भी जानने की आवश्यकता है। राजनीतिक आन्दोलन के साथ तन्मय हो जाने और उस क्षेत्र में पुराने नेताओं से भी अधिक सचाई, ईमानदारी तथा तत्परता दिखाते हुए भी महात्मा गांधी के साथ स्वामी जी का जो मतभेद था, उसको आपने कभी किसी भी कारण से और किसी भी अवस्था में छिपाया नहीं था। पिछले पृष्ठों में इसी दृष्टि से उस मतभेद का भी यथास्थान उल्लेख किया जाता रहा है। महात्मा गांधी के साथ स्वामी जी के पुराने सम्बन्ध, प्रेम, बहुत कुछ आपस की श्रद्धा और आकर्षण के कारण भी उस मतभेद ने कभी उग्ररूप धारण नहीं किया, किन्तु महात्मा जी के जेल चले जाने और पीछे दूसरे किसी नेता के साथ वैसा सम्बन्ध न होने से स्वामी जी का मन कांग्रेस से फटता चला गया। व्यक्तिगत सत्याग्रह में स्वामी जी का इतना विश्वास नहीं था। सामुदायिक-सत्याग्रह के सम्बन्ध में आपका यह स्पष्ट मत था कि एक बार शुरू करने के बाद कांग्रेस के बाहर होने वाले उपद्रव अथवा हिंसा के कारण उसको कभी भी बन्द नहीं करना चाहिये, क्योंकि सरकार का अपने लोगों द्वारा उपद्रव अथवा हिंसा कराना कुछ भी कठिन नहीं और उसको सर्वथा ब्रन्द करना असम्भव है। विधायक-कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये आप कौंसिलो में जाने के भी पक्ष मे थे, किन्तु उनमें अडंगा-नीति से काम लेने के पक्ष मे नही थे। विधायक-कार्यक्रम में आपका अटल विश्वास था; सत्याग्रह की दृष्टि से नहीं, किन्तु राष्ट्र मे उस समय के लिये शक्ति पैदा करने की दृष्टि से, जिससे कभी किसी दैवीय-साधन से स्वराज्य-प्राप्त हो जाय, तो उसकी रक्षा की जा सके। सत्याग्रह द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति में भी आपका इतना विश्वास नहीं था। इस सम्बन्ध में आप प्रायः यह कहा करते थे कि स्वराज्य की प्राप्ति तो भूकम्प के समान किसी अनहोनी घटना से ही होगी। उस समय के लिये हमको तैयार रहना चाहिये, जिससे वैसा अवसर आने पर हमारे पैर लड़खड़ाने और हाथ कॉपने न लगें। अपने इन विचारों को आपने कांग्रेस की सत्याग्रह-जॉच-कमेटी के सामने 14 अगस्त सन् 1922 को साक्षी देते हुए भी स्पष्ट कर दिया था। इसी दृष्टि से आप अपने को कांग्रेस की ओर से उसके विधायक-कार्यक्रम के प्रधान अंग अस्पृश्यता-निवारण में ही लगाना चाहते थे। पर, वैसा होना नहीं था। अस्पृश्यता-निवारण की समस्या आपके

लिये इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण थी कि उसको हल करने-कराने की आशा से ही आपने साधु-महामण्डल को भी सहयोग दिया था और जब उससे यह आशा पूरी न हुई, तब उससे भी आप अलग हो गये। साधु-महामण्डल से त्यागपत्र देते हुए आपने स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को लिखा था—"गया से लौटे भाइयों से ज्ञात हुआ कि अब आप साधु-महामण्डल के मन्त्री नहीं रहे और स्वामी प्रकाशानन्द महामन्त्री चुने गये हैं। मैंने सेठ जमनालाल बजाज से पाँच सौ रुपये इसलिये ले दिये थे कि कुछ काम होगा। स्वामी प्रकाशानान्द ने अपने सुपुर्द किया हुआ संगठन का ही कुछ काम न किया तो और क्या करेंगे? सबसे बढ़कर जो काम साधु-महामण्डल कर सकता है, वह दलित जातियों को उनके अधिकार दिलाने का है। वह स्वामी प्रकाशानन्द के मन्त्री होते हुए होने का नहीं। मैं हिन्दू (आर्य) जाति का भला इस समय दलित जातियो के उद्धार में ही समझता हू और यथाशक्ति उसके लिये ही अपनी तुच्छ अल्पशक्ति का प्रयोग करना चाहता हूँ। अतएव साधु-महामण्डल के सभासद्-पद से त्यागपत्र देता हूँ। मुझे ज्ञात नहीं कि महामन्त्री जी का कार्यालय कहाँ है? इसलिये यह त्यागपत्र आपकी सेवा में भेजता हूँ। आप इसे स्वामी प्रकाशानन्द जी के पास भेज दीजिये।"

कांग्रेस तथा साधु-महामण्डल से निराश होकर दलितोद्धार के लिये ही स्वामी जी हिन्दू-महासभा की ओर झुके थे, किन्तु उससे भी आपको इस सम्बन्ध में बुरी तरह निराश होना पडा था।

पण्डित मोतीलाल जी नेहरू को त्यागपत्र के सम्बन्ध में अन्तिम पत्र देने के बाद कांग्रेस से अलग हो जाने पर भी पण्डित जवाहरलाल जी नेहरू और श्री देवीदास गांधी की गिरफ्तारी पर आप के हृदय में फिर कांग्रेस के राजनीतिक क्षेत्र में कूदने की तीव्र इच्छा पैदा हुई और काग्रेस में आने के लिये ही आपने आर्य-सार्वदेशिक-सभा के प्रधान-पद से त्याग पत्र भी दे दिया, किन्तु उस समय के राष्ट्रपति हकीम साहेब के इस आदेश पर कि असहयोग-आंदोलन के कार्यक्रम से मतभेद रखने वालों को कांग्रेस के सगठन में पदाधिकारी नहीं होना चाहिये, आप आगे बढ़ते हुए भी रुक गये। डाक्टर अन्सारी को अपने मतभेद के सम्बन्ध मे आपने लिखा था—"इस अवस्था मे मैं अपने अन्तःकरण में यह अनुभव करता हूँ कि मुझ को कांग्रेस की प्रबन्धकारिणी का सभासद नहीं रहना चाहिये। इसलिये मैं अपने 29 मार्च के त्यागपत्र को फिर से पेश करता हूँ।" इसी से आपने देहली की प्रांतिक-कांग्रेस-कमेटी का सभापति होना भी स्वीकार नहीं किया था और डाक्टर अन्सारी को लिखे हुए पत्र में ही आप ने लिखा था—"इस के बाद फिर यदि

कोई अनहोनी घटना न हो जाय तो ये मेरा अन्तिम निर्णय है। यदि कहीं आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी ने कलकत्ता के अधिवेशन में सब प्रांतों में एक साथ सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया तो मैं किसी एक प्रांत का सम्भवतः पंजाब का नेतृत्व करने के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ।" सन् 1924 में बेलगॉव-कांग्रेस में आप महात्मा गांधी के आग्रहपूर्ण व्यक्तिगत निमन्त्रण को स्वीकार करके दर्शक रूप में ही सम्मिलित हुए थे। इतना आग्रह महात्मा जी ने यह प्रगट करने के लिये ही किया था कि मतभेद हो जाने पर भी आप दोनों का पुराना प्रेम-सम्बन्ध नहीं टूटा था। महात्मा जी के आग्रह पर ही आप उन के साथ स्वदेशी-प्रदर्शिनी तथा चरखा प्रतियोगिता के समारोह और कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उनके भाषण के दिन उपस्थित हुए थे। सन् 1925 में कानपुर-कांग्रेस पर भी दर्शक के रूप में ही आप गये थे। वैसे सन् 1923 के शुरू में ही स्वामी जी कांग्रेस के कार्य से अलग हो गये थे। किन्तु उस के चार आने वाले सदस्य आप बराबर बने रहे थे, क्योंकि उस के ध्येय और मार्ग पर आप को विश्वास था। कांग्रेस से अलग होने के समय दिये गये त्याग-पत्र में भी आप ने लिखा था—"जब तक कांग्रेस का वर्तमान ध्येय यही रहेगा, मै उस का साधारण सभासद् अवश्य रहूँगा।"

7. गुरुकुल में फिर दो वर्ष

(क) आगमन

सार्वजनिक राजनीतिक क्षेत्र की सब कहानी एक साथ देने के कारण से गुरुकुल मे फिर से बिताये गये दो वर्ष का वर्णन बहत पीछे पड़ गया है। अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के कार्य से निवृत्त हो कर आप जलियावाला-बाग़ को 'अमर-वाटिका' बनाने के काम में लगने का निश्चय किये हुए थे। पर, गुरुकुल के हितैषियों ने आप को आ घेरा और आप से कहा कि यदि आप गुरुकुल को नहीं सँभालेगे तो गुरुकुल के सामयिक आचार्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति हुए बिना ही उसको एकाएक फरवरी के मध्य में छोड़ जायेंगे और गुरुकुल की इतिश्री हो जायगी। अन्तरंग-सभा के निश्चय, प्रतिनिधि-सभा के प्रधान के आग्रह और गुरुकुल-प्रेमियो के अनुरोध पर आप महात्मा गांधी और महामना मालवीय जी से जलियावाला-बाग के लिये चन्दा इकट्ठा करने के काम से छुट्टी माग कर गुरुकुल चले आये। अन्तरग-सभा मे 25 माघ सम्वत् 1976 को आचार्य के पद से श्री रामदेव जी और मुख्याधिष्ठाता के पद से श्री रामकृष्ण जी का त्याग-पत्र स्वीकृत करते हुए यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था कि "वर्तमान अवस्था मे इस सभा की सम्मति मे श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ही पूर्ण योग्यता से इस कार्य को सम्पादन कर सकते है। इसलिये यह सभा सर्वसम्मति से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करती है कि वे पूर्ववत् इस कार्य को सँभालने की कृपा करे। सभा उनको गुरुकुल का आचार्य और मुख्याधिष्ठाता नियत करती है। श्री स्वामी जी के वही अधिकार होंगे जो उन दिनों में थे, जब वे पहले गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता थे। चूकि स्वामी जी की शारीरिक अवस्था इस योग्य नहीं कि वे अन्तरग सभा के प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित हो सकें, इसलिये निश्चय हुआ कि गुरुकुल के प्रबन्ध-सम्बन्धी सब अधिकार प्रधान-सभा, श्री विश्वम्भरनाथ जी तथा मुख्याधिष्ठाता की उपसभा को प्राप्त होंगे।" स्वामी जी ने गुरुकुल का काम फिर से अपने हाथ में लेने के लिये

निम्नलिखित शर्ते पेश की थीं–"(1) दो वर्षो तक पाठविधि और प्रबन्ध मे परीक्षार्थ जो परिवर्तन किये जायॅ, उन में सभा हस्तक्षेप न करें। (2) गुरुकुल की धन-सम्पत्ति अलग ही सूद पर चढ़ाई जाय और उस का अधिकार उस के लिये बनाई गई उपसमिति को ही हो। (3) दो वर्ष के लिये अन्तरंग-सभा के स्थान में तीन सज्जनों की एक उपसमिति बनाई जाय। उसी की ओर से बजट सीधा बृहदधिवेशन में पेश किया जाया करे। (4) कृषि-विभाग पुनः जारी करने और औद्योगिक तथा व्यापारीय विद्यालय खोलने की स्पष्ट आज्ञा दी जावे। (5) गुरुकुल प्रेस में प्रिंटिंग मशीन तथा अन्य सामान के लिये दस हज़ार रुपया लगाया जावे। (6) गुरुकुल-नियन्त्रण-परिषद का जो प्रस्ताव दस-ग्यारह वर्ष पहिले पेश किया था, उस को पास कराने का पुनः यत्न हो।" ऊपर के प्रस्ताव से स्वामी जी के प्रति गुरुकुल के संचालको अथवा स्वामिनी-सभा की अन्तरंग-सभा के विश्वास, श्रद्धा तथा भरोसे का पता लगता है और स्वामी जी की शर्तो से मालूम होता है कि गुरुकुल के सम्बन्ध में अपने असिद्ध स्वप्न की पूर्ति की आशा और पुरारी महत्वाकाक्षा से ही आप फिर गुरुकुल आये थे।

(ख) 'श्रद्धा'

11 फरवरी सन् 1920, 4 फाल्गुन, 1976 को स्वामी जी ने कुलपति के रूप मे फिर गुरुकुल मे पदार्पण किया और पॉच-छः दिन मे गुरुकुल की योग्य व्यवस्था कर के आप इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, मटिण्डू के शाखा गुरुकुलो के उत्सव भुगताने के लिए देहली लौट आये। तीनों उत्सव भुगता कर ता. 17 मार्च के लगभग देहली का सब काम समेट कर फिर गुरुकुल पहुँच गये। गुरुकुल की आवाज जनता तक पहुँचाने के लिये 'श्रद्धा' नाम से साप्ताहिक-पत्रिका निकालनी शुरू की। पहले अंक में 'श्रद्धा' के उद्देश्य तथा कार्यक्रम के सम्बन्ध में स्वामी जी ने लिखा था–"ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा और उद्देश्यो का ठीक प्रचार 'श्रद्धा' का मुख्य उद्देश्य है। परन्तु यतः ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध ससार की सब स्थितियो के साथ है, इसलिए संसार की सब घटनाओं को ही 'श्रद्धा' की कसौटी पर परखना 'श्रद्धानन्द' का काम होगा। मै देवनागरी लिपि को ससार की सब लिपियो का स्रोत और मनुष्य के लिये स्वाभाविक समझता हूँ। इसलिए इस 'श्रद्धा' के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा यात्रा पर भेजा करूँगा।...मैंने ब्रह्मचर्य आश्रम के पुनरुद्धार को ही सब विषयों, समाचारों का प्रधान लक्ष्य रखा है।. .मातृभूमि की भक्ति बिना मनुष्यमात्र को अपना भाई नही समझा जा सकता। इस भूलोक की सारी मही

का उत्तम फल भारतभूमि थी और अब भी है। केवल भारतपुत्रों ने धर्म के आदर्श से गिर मातृभूमि के गौरव को घटाया और उसके साथ ही सारे संसार में भोग और स्वार्थ का राज फैल गया। संसार से यदि भोग और स्वार्थ का राज नष्ट करना हो तो पहले भारतभूमि का तेज पुनः उत्तेजित होना चाहिए। वह आत्मिक तेज ही सारे संसार में भोग की प्रधानता का नाश करके शांति का राज स्थापन कर सकता है। अतः मातृभूमि के पुराने आत्मिक बल को फिर से जगाना 'श्रद्धा' का काम होगा।" ऊपर बताये गये 'श्रद्धा' के अन्तिम काम पर मनुष्यमात्र के भ्रातृभाव के नाम से अपने राष्ट्र की उपेक्षा करने वालों को कुछ अधिक ध्यान देना चाहिये। यही स्वामी जी का 'राष्ट्र-धर्म' था। स्वामी जी की इस स्वदेशभक्ति में दूसरों के प्रति घृणा, तिरस्कार और उन पर शासन करने की आसुदी-लालसा की गन्ध भी नहीं थी। 'श्रद्धा' के उक्त कार्यक्रम से स्वामी जी की राजनीतिक विचार-सरणि को भी समझा जा सकता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी की राजनीति पर धर्म का एक खोल चढ़ा हुआ था, जिससे कांग्रेस की सूखी राजनीति पर विश्वास रखने वाले नेताओं के साथ आपका निभना कठिन था। 'श्रद्धा' के कार्यक्रम में स्वामी जी ने अपनी आत्मा का पूरा और वास्तविक चित्र अंकित कर दिया था। 'श्रद्धा' के उक्त कार्यक्रम को सामने रखते हुए ही ब्रह्मचर्य-सूक्त और मानव-धर्म-शास्त्र की व्याख्या प्रति अंक में क्रमशः नियमपूर्वक की जाती थी, जिसको स्वामी जी स्वयं लिखते थे। राजनीतिक-क्षेत्र से अलग हो जाने पर भी आपका 'श्रद्धा' के द्वारा ही उसके साथ मानसिक-सम्बन्ध बना रहा था। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल-समाचार आदि के अलावा सामयिक प्रसंगो पर भी आपके विचार 'श्रद्धा' द्वारा खुले शब्दों मे प्रगट किये जाते थे। ख़िलाफ़त के प्रश्न को लेकर मुसलमानों में उठे हुए 'हिजरत' के सम्बन्ध मे आपने लिखा था—"मेरे भाइयो! भागना कायरो का काम है। हम यहॉ ही रहेगे, यहॉ ही जियेंगे और इसी पवित्र भूमि में माता की सेवा करते हुए प्राण त्यागेंगे। यहॉ से 'हिजरत' के स्थान में यहॉ ही शहीद बनेगे। अपने सहन तथा तप से गोरी जातियों के कठोर हृदयों को भी ऐसा पिघला दे कि उन्हें भारत के एक-एक बच्चे से दीन प्रार्थना करनी पड़े और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रतिनिधि यह कहने के लिये विवश हों कि 'उठो भारत के सच्चे पुत्रो और उसकी सच्ची पुत्रियो! अपनी अमानत को सँभालो क्योंकि अब हम अमानत में ख़यानत नहीं करना चाहते।" पंजाब के मार्शल-लॉ के ख़ूनी शासन के सम्बन्ध में नियुक्त सरकारी हण्टर कमेटी की रिपोर्ट की आपने 'श्रद्धा' में विस्तृत और तीव्र आलोचना करते हुए बहुत बुरी

धज्जियाँ उड़ाई थीं। लोकमान्य तिलक के देहावसान पर 'राजनीति का सूर्यास्त' शीर्षक से आपने 'श्रद्धा' में एक मुख्य लेखा लिख था—"भारतवर्ष में राजनीति को अंग्रेज़ी पढों के पुस्तकालयों से बाहर निकाल कर जनता की झोंपड़ियों में पहुँचाने वाले अगुवा वही थे। 'केसरी' पहिला राजनीतिक पत्र है जो किसानों की झोंपड़ियों और मज़दूरों की गोष्ठियो में पढ़ा जाना शुरू हुआ था और गणपति-पूजा पहिला संगठन है जिसने जनता के बड़े भाग को एक राजनीतिक सूत्र में पिरो दिया था। राजनीति का सूर्य अस्त्र हो गया। फिर क्या अँधेरा हो जायगा? हे पुनर्जन्म पर विश्वास रखने वाली भारत प्रजा! सूर्य अस्त हो गया, परन्तु उसका अत्यन्ताभाव नहीं हुआ। जो काम एक सूर्य करता था, उससे प्रकाश पाये हुए सहस्रों तारे उसको पूरा करेंगे। भारतमाता के उज्ज्वल मुख की ओर देखो, उसका मुख मलिन नहीं है; क्योंकि वह जानती है कि जो प्रकाश उसके समर्थ पुत्र ने फैलाया था, वह एक-एक भारत-पुत्र ने अपने अन्दर सुरक्षित कर लिया है। लोकमान्य तिलक के बिछोड़े पर कौन आँसू न बहाएगा? विवश होकर अश्रुधारा बह निकलती है। परन्तु वह देखो विद्युत् के अक्षरों में सूर्य लोक पर लिखा हुआ है—"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसको प्राप्त करूँगा।" इन राजनीतिक विचारों के साथ-साथ 'श्रद्धा' में पंजाब में आर्यसमाज के दो दलों को एक करने, उसकी प्रगति और सार्वदेशिक-सभा की ओर से मद्रास-प्रचार तथा कन्या-गुरुकुल की स्थापना के लिये आदोलन तथा गुरुकुल के सम्बन्ध मे किये जाने वाले आक्षेपों का भी निराकरण किया जाता था। आर्यसमाजियों की इस धारणा की भी 'श्रद्धा' मे अच्छी आलोचना की गई थी कि आर्यसमाज का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। 'वैदिक धर्म और वर्तमान आर्यसमाजो,' 'आर्य कौन है?' 'यदि इतना ही समय अपने सुधार मे लगाया जाता,' 'वैदिक धर्म किन अर्थो में सार्वदेशिक है?,' 'क्या धर्मसभा सिद्ध करके बच जाओगे?' और 'क्या संसार मे वोल्शेविज़्म का राज होगा?' इत्यादि लेख आर्यसमाजियो में राजनीतिक तेजस्विता, स्फूर्ति और उत्साह पैदा करने के लिये ही लिखे गये थे? इनमें आर्यसमाजियो से खण्डनात्मक कार्य त्याग कर वैयक्तिक आचरणों द्वारा मडनात्मक कार्य करने के लिए भी ज़ोरदार अपील की गई थी। दलितोद्धार के लिये 'श्रद्धा' में निरन्तर आंदोलन किया गया था। इस सम्बन्ध में 'सात करोड़ को गँवाकर क्या स्वराज्य मिलेगा?' शीर्षक से लिखा गया लेख आज भी मनन करने योग्य है। गुरुकुल से अलग होने से पहले 'मेरा भविष्य का कार्यक्रम' शीर्षक से लिखे गए लेख में लिखा था—"इस में सन्देह नही कि डाक्टरों की सम्मति में मुझे आराम

ही आराम करना चाहिए, कार्य से सर्वथा बचना चाहिये। परन्तु मेरी प्रकृति ऐसी बनी हुई है कि आराम मे मुझे मौत और कार्य में मुझे जीवन प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि कार्य उतना ही करूँगा, जितनी मुझ में शक्ति है, परन्तु बिना कार्य के मैं सन्तोष से नहीं बैठ सकता। मनुष्य की शक्ति अल्प है, जीवन थोड़ा है, इस को अधिक से अधिक लाभदायक बनाना चाहिये। इसलिये मेरा संकल्प यह है कि जहाँ कहीं भी सुगमता से मेरे उद्देश्य को पूर्ति की आशा होगी वहीं जा सकूँगा, अन्य स्थानों पर नहीं।'' यही भावना थी जिससे आप जीवन की अन्तिम घड़ी तक सदा कार्य में ही लगे रहे और बाद में ईर्ष्या पैदा करने वाली मृत्यु द्वारा अपने कार्य की शृंखला को सदा के लिये दृढ़ बना गये। गुरुकुल से चले आने के बाद सन् 1921 के अक्तूबर के मध्य, आश्विन सम्वत् 1978, को 'श्रद्धा' बन्द हो गई। 'श्रद्धा' ने अपने पौने दो वर्ष के अल्प से जीवन में दूसरे समाचार-पत्रों के दीर्घ जीवन से कहीं अधिक काम कर दिखाया।

(ग) गुरुकुल के लिये स्थिर फण्ड

9 श्रावण सम्वत् 1977, 23 जुलाई सन् 1920, के 'श्रद्धा' के अंक मे 'भारतवासियो पर गुरुकुल के अधिकार' शीर्षक लेख में स्वामी जी ने गुरुकुल के लिये बीस लाख रुपए की अपील की थी और बीस लाख का स्थिर फण्ड जमा करने के लिए समस्त भारत तथा बर्मा का दौरा करने का भी आपने संकल्प प्रगट किया था। 5 भाद्रपद की 'श्रद्धा' में 'गुरुकुल कांगडी की वर्तमान दशा' के शीर्षक से लिखे गए मुख्य लेख मे स्वामी जी ने लिखा था—''आज...भाद्रपद मास की पहली तारीख है। आज ही मैं गुरुकुल के लिए स्थिर राशि एकत्र करने के उद्देश्य से कुलभूमि से बाहर जा रहा हूँ।...मैं कलकत्ता से काम शुरू करूँगा। मेरा विचार यह है कि भारतवर्ष का कोई कोना भी ऐसा न छूटे, जहाँ भिक्षा के लिए मै न पहुँचूँ।...कलकत्ता से मद्रास जाकर मुझे कुछ दिन उस प्रान्त मे सार्वदेशिक-सभा की ओर से धर्म-प्रचार करना और कराना होगा। वहाँ से बम्बई टिक कर काम करूँगा। बम्बई से लौट कर कुछ दिन गुरुकुल में बिता ब्रह्मदेश पहुँचने का विचार है। नवम्बर मास के मध्य से दिसम्बर के मध्य तक वहीं रहूँगा। ब्रह्मदेश से लौटकर पंजाब के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में घूमने का संकल्प है। पजाब की जनता मे गुरुकुल के लिये असीम प्रेम है। गुरुकुल-कांगडी ने देवियो के हृदय में विशेष स्थान बना लिया है। यदि आज से ही वे मुझे भिक्षा देने की तैयारी करने लग जायँ तो आश्चर्य नही है कि 5-6 लाख रुपया पजाब से ही एकत्र हो जाय।

जगा देना तथा दानशीलता की ओर ध्यान दिला देना भिक्षुक का काम है और अपना कर्तव्य पालन करना दानियो के अधीन है।" 2 आश्विन की 'श्रद्धा' मे फिर आपने लिखा—"कलकत्ता से मेरा विचार धर्म-प्रचारार्थ मद्रास-प्रान्त की यात्रा का था। कलकत्ता में मैं ऐसा अस्वस्थ हो गया कि मुझे कलकत्ता से सीधा गुरुकुल लौटना पड़ा। जीवन शेष है तो मद्रास को फिर कभी अनुकूल ऋतु मे जाऊँगा।" इस प्रकार मद्रास और बम्बई का कार्यक्रम तो पूरा न हो सका, किन्तु अतिसार से शिथिल गात होने पर भी आप 7 कार्तिक सम्वत् 1977, 22 अक्तूबर सन् 1920 को गुरुकुल से बर्मा के लिये चल दिये। मार्ग मे दानापुर-आर्यसमाज के उत्सव पर दो भाषण दिये। 25 को प्रातः कलकत्ता पहुँच कर 27 के प्रातः आप 'अगोरा' जहाज से बर्मा के लिये विदा हुए। 29 की शाम को 5 बजे बर्मा पहुँचे। बर्मा में प्रायः सभी शहरों में आपके स्वागत के लिये स्वागत-समितियों का संगठन किया गया था और सभी स्थानों पर आपका अभूतपूर्व हार्दिक स्वागत हुआ था। 30 नवम्बर, 16 मार्गशीर्ष, को बर्मा से कलकत्ता के लिये विदा होकर मार्ग में इलाहाबाद आनन्द-भवन में पं. मोतीलालजी नेहरू से यहाँ ठहरे हुए 22 मार्ग-शीर्ष को आप गुरुकुल लौट आये थे। गुरुकुल मे आपकी इस सफलयात्रा के लिये हर्ष मनाया गया और उसके उपलक्ष्य में सब ब्रह्मचारियों को उस दिन छुट्टी दी गई। बर्मा मे इन 31 दिनो मे आपको 14 मानपत्र दिये गये, जिनके लिये कृतज्ञता प्रगट करते हुए आपको प्रायः एक अच्छा लम्बा भाषण ही देना पड़ता था। उनके अलावा आपको साठ भाषण और देने पड़े होगे। बर्मा की आधी से अधिक भूमि का आपने चक्कर लगाया और कोई दो लाख से अधिक स्त्री-पुरुषो को वैदिक-धर्म और मातृभूमि का सन्देश सुनाया। नौकरशाही के भय से धनाढ्य आपका दिल खोल कर स्वागत नही कर सके और आपके कार्य में हाथ भी नहीं बँटा सके। फिर भी 60 हज़ार रुपया आप गुरुकुल के लिये एकत्र कर ही लाये, जिससे गुरुकुल के आयुर्वेद और कृषि के दो उपाध्यायो की गद्दी स्थिर हो गई। इस दृष्टि से भी बर्मा की यात्रा कुछ कम सफल नही हुई। यद्यपि इस सम्बन्ध मे स्वामीजी की सम्पूर्ण आकांक्षा पूरी नही हुई थी।

(घ) 'प्रकाशपार्टी' की फिर अड़ंगा-नीति

इस प्रकार स्वामी जी गुरुकुल को स्थिर और उन्नत बनाने में लगे हुए थे कि प्रतिनिधि-सभा के कुछ सदस्यों के साथ आप का पुराना मतभेद फिर उठ खडा हुआ। लाहौर की 'प्रकाशपार्टी' ने फिर अडगानीति से काम लेना शुरू किया और

'प्रकाश' के सम्पादक महाशय कृष्ण जी ने अपने पत्र में गुरुकुल के उद्देश्य को लेकर फिर वही पुराना राग अलापना शुरू किया। श्री रामदेव जी अब गुरुकुल में नहीं थे, इसलिये उन्होंने भी इस काम में उनका पूरा हाथ बँटाया। स्वामी जी ने पहिले इस सब विरोध को सहन करना ही उचित समझा। इसीलिये आपने गुरुकुल के संचालन के लिये नियुक्त उपसमिति के सदस्य श्री विश्वम्भरनाथ जी को 14 अप्रैल सन् 1920 के पत्र में लिखा था—"अन्तरंग-सभा के अधिकारों के सम्बन्ध में महाशय कृष्ण को लिखा हुआ मेरा पत्र आप ने देखा होगा। मैंने गुरुकुल आने में चाहे भूल ही क्यो न की हो, पर आप तथा अन्य गुरुकुल-प्रेमियों की अपील पर ही मैं यहाँ आया हूँ और कम से कम तीन वर्ष लग कर यहाँ काम करना चाहता हूँ। मैंने अपने विचार और मन्तव्य कभी किसी से छिपाये नहीं, इसलिये आप, कृष्ण, नारायणदत्त, गंगाराम तथा अन्य सज्जनों ने जब अन्तरंग में मेरे गुरुकुल आने का प्रस्ताव उपस्थित किया था और सभा ने उस को स्वीकार किया था तब सब सोच-समझ कर ही किया होगा।" इस के बाद इसी पत्र मे आप ने आर्यसमाज के नेताओ के साथ अपने मतभेद को प्रकट किया था। पत्र के उस हिस्से का आशय यह था—"पहली बात जिस से मैं सहमत नही हूँ यह है कि गुरुकुल को किसी भी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्धित करना भारी भूल होगी। यदि शिक्षा का सब अधिकार देशी मन्त्रियों के हाथ मे चला जाय, तो भी गुरुकुल पद्धति से शिक्षा देने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। दूसरा मतभेद उपदेशकों के सम्बन्ध में है। मेरा यह मत है कि आजकल के शास्त्रार्थ वास्तविक धर्म-प्रचार के लिये बड़ी भारी बाधा हैं। इसलिये मै अपने शिष्यों मे अन्य धर्मो के विरुद्ध खण्डनात्मक भाव भरने की अपेक्षा उन के सामने उन सब की अच्छाइयाँ रक्खूँगा और उन को बताऊंगा कि इन सब अच्छाइयों का मूल वेद है। सम्भव है गुरुकुल से इस प्रकार की शिक्षा से निकलने वाले उपदेशकों से आप लोग सन्तुष्ट न हों। तीसरी बात वैदिक धर्म के साथ राजनीति के सम्बन्ध की है। यदि इस सम्बन्ध में इस समय के आर्यसमाज के नेता यह समझते हैं कि उन का और अधिकाश आर्यसमाजियो का मत मुझ से नहीं मिलता है तो यह आप का धार्मिक कर्तव्य है कि आप मुझ को उस की तुरन्त सूचना दे दें, जिससे मेरे कारण आप मे से किसी को भी कुछ उलझन में न फॅसना पड़े।" इस पत्र से मतभेद के मूलभूत कारणों का पता लगता है और साथ ही स्वामी जी की उदार-धार्मिक-वृत्ति का भी, जिस का यह स्वाभाविक परिणाम है कि गुरुकुल की परम्परा ही कुछ ऐसी हो गई है कि वहाँ के स्नातकों की मनोवृत्ति में न तो

कट्टरता है और न साम्प्रदायिकता, अपितु उदारता, सहिष्णुता और राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी रहती है।

स्वामी जी के स्वास्थ्य की दृष्टि से बनाई गई तीन सज्जनों की उपसमिति के सम्बन्ध में भी कुछ लोगों को शिकायत थी। उस को तोड़ने और सभा के अधिवेशनों में स्वयं उपस्थित होने में असमर्थता प्रगट करते हुए आपने सभा के उस समय के मन्त्री महाशय कृष्ण जी को भी 28 चैत्र सम्वत् 1976 को एक पत्र लिखा था, जिस में गुरुकुल आने के समय पेश की गई शर्तो को स्वीकृत कराने अधिष्ठाता तथा आचार्य के अधिकारो को अन्तरग सभा से स्पष्ट कराने और यदि स्वास्थ्य काम करने योग्य रहा तो तीन वर्षो तक निरन्तर काम कर देने के सम्बन्ध में लिखा था। शिमला, अब देहली, के रायसाहब गंगाराम जी को भी 20 आश्विन सम्वत् 1977 के पत्र मे आप ने लिखा था—"आप को शायद मालूम नहीं है कि मेरे साथ की गई सब शर्ते तोड़ दी गई हैं। आप के साथ हुए फ़ैसले के अनुसार तो मैं यहाँ एक पल भी नहीं रहता, परन्तु अब प्रतिज्ञा कर दी है कि ऐसी अवस्था में भी 11.2.20 से 11.2.23 तक काम कर दूँगा। यदि आप लोगों को मुझ से काम बिगडता दीखे तो स्पष्ट लिख दीजिये मैं उसी समय अलग हो जाऊँगा।" इस पत्र के उत्तर में रायसाहब गंगाराम जी ने भी स्वीकार किया था कि स्वामी जी के साथ की गई शर्ते तोड दी गई थीं।

स्वामी जी ने इन पत्रो पर भी 'प्रकाश' सम्पादक का गुरुकुल के सम्बन्ध मे भ्रमपूर्ण आन्दोलन बढता चला गया। यह आन्दोलन उस समय जोरो पर था, जब स्वामी जी गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये बीस लाख रुपया जमा करने के लिये समस्त भारत के दौरे पर निकलने की तैयारी कर रहे थे। गुरुकुल के आदर्श के सम्बन्ध में इतने विचित्र लेख लिखे गये कि उस समय के गुरुकुल के सहायक-मुख्याधिष्ठाता प्रो. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति को 9 माघ 1977 की 'श्रद्धा' मे उनके सम्बन्ध मे यह लिखना पड़ा था—"कोई अनजान यदि ऐसी बात कहता तो दुःख न था, पर दुःख तो यह है कि गुरुकुल कागडी के उत्सव से तीन मास पूर्व, जब कि आर्यपुरुष गुरुकुल के लिये चन्दा जमा करने की तैयारियों में थे, 'प्रकाश' सम्पादक म. कृष्णजी ने आर्य जनता को यह बतलाकर बहकावट में डाल दिया है कि गुरुकुल का उद्देश्य अभी निश्चित होने को है। जब म. कृष्णजी ने इतनी अनिभज्ञता प्रगट की तो क्या आश्चर्य था कि 'आर्य गज़ट' को गुरुकुल के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखने का अवसर मिल गया? 'आर्य गज़ट' के लेख की उपेक्षा हो सकती है, पर म. कृष्णजी की भूल की उपेक्षा नही की जा सकती।"

इसी लेख के अन्त में कृष्णजी से प्रार्थना की गयी थी कि गुरुकुल पर समाचार-पत्रों में तिरछे वार करना छोड़ कर प्रतिनिधि सभा अथवा अन्तरंग सभा में गुरुकुल के उद्देश्य का प्रश्न उपस्थित करके उसका बिटारा करवा लें। पर, 'प्रकाश' सम्पादक ने तिरछे वार करने बन्द नहीं किये। स्वामी जी के हृदय पर इन तिरछे वारो से लगी हुई चोट का अनुमान उन पत्रों से किया जा सकता है, जो उन्होंने इस सम्बन्ध में सभा के मत्री और प्रधान को लिखे थे। सभा के प्रधान को आपने 14 अप्रैल सन् 1921, 2 बैशाख, 1978 को लिखा था—"मैं जानता हूँ कि एक ओर तो अधिकारी और अन्तरंग सभा के सभासद् मुझे कहते जायँगे कि मैं कुछ काम न करूँ और आराम से बैठा रहूँ, दूसरी ओर प्रबन्ध की शिथिलता में मेरी बदनामी भी फैल जायगी। अब लाचारी है। स्वास्थ्य पर ध्यान रखे बिना ही काम करना पड़ेगा और करूँगा। परन्तु फिर भी जब आप लोगों की जवानी हमदर्दी हुआ करेगी तो मुझे आप लोगो की मानसिक दशा पर शोक हुआ करेगा।" मन्त्री को बटाला से 13 जून सन् 1920 को लिखा था—"गुरुकुल का कार्यभार पुनः सम्हालने से पहिले यदि मुझे उन कठिनाइयों का पता लग जाता, जो इसके मार्ग में पड चुकी हैं, तो मै फिर से काम सम्हालने का साहस नही करता। परन्तु जब एक बार बोझ उठा चुका हूँ तो किसी मंजिल तक उसे पहुँचाने का यत्न करूँगा।" पर, 'प्रकाश' सम्पादक ने सीमा का इतना उल्लघन कर दिया कि स्वामीजी को गुरुकुल से अलग होने का ही निश्चय करना पड़ा। आपने वह त्यागपत्र, जो असहयोग के प्रकरण मे दिया गया है, सभा के प्रधान जी की सेवा मे लिख भेजा। 3 जेष्ठ 78 को आपने मन्त्री के नाम लिखे गये पत्र मे लिखा—"आपने 'श्रद्धा' मे मेरा लेख और उस पर 8 तथा 15 मई के 'प्रकाश' में प्रो. रामदेव की आलोचना पढी होगी। यत· प्रो. रामदेव और महा. कृष्ण अनुचित प्रकार से मुझे बदनाम करके अपना मतलब सिद्ध करना चाहते है और न केवल 'प्रकाश' मे प्रत्युत 'प्रताप' द्वारा भी मेरे विरुद्ध अंधेर मचा रहे है। इसलिये मै सभा के अधिवेशन में पहुँच कर गुरुकुल से अलग होने के सारे कारण वर्णन कर देना चाहता हूँ, जिससे भविष्य मे गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली स्वार्थियों के स्वार्थ का शिकार न होती रहे।" 9 ज्येष्ठ सम्वत् 1978 को देहली से आपने प्रधानजी की सेवा मे फिर लिखा था—"मैंने सभा मे कुछ कहने की आज्ञा माँगी थी और एक पत्र 'प्रकाश' में छपवाने को भेजा था। उस पर कृष्णजी का उत्तर आया कि आपने तथा प. विश्वम्भरनाथ जी ने उसे छपने से रोक दिया है। मैंने उनको लिख दिया है कि उस पत्र को लौटा दे। अब इस विषय में कुछ न लिखूँगा। मेरे विरुद्ध जो कुछ फैलना था,

वह फैल चुका और आगे भी जो गुप्त और प्रसिद्ध रीति से फैलेगा, वह भी फैलता रहे। मैं नोटिस नहीं लूँगा। अब तो लाहौर भी नहीं जाऊँगा, न कुछ सभा को सुनाऊँगा। गुरुकुल से जो त्यागपत्र भेजा था, बल्कि जिस पर अमल कर छोड़ा है, उसे ही काफ़ी समझता हूँ।...आपकी सभा के साथ अब मेरा सम्बन्ध समाप्त हुआ।" पर, इसके बाद भी सभा के प्रधान और मन्त्री के आग्रह पर आपने 28 मई की प्रतिनिधि-सभा के अधिवेशन में गुरुकुल से अलग होने के सब कारण निवेदन कर दिये थे।

म. कृष्ण और आचार्य रामदेव जी के प्रति सर्वसाधारण आर्यसमाजियों के भावों का पता इससे लग जाता है कि समाजों में आप दोनो के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव पास होने शुरू हो गये थे। स्वामी जी ने इस प्रवृत्ति को रोका और ऐसे आयर्ससमाजों के नाम इस आशय के पत्र लिखे कि "यह जान कर दुःख हुआ कि आप की अन्तरंग-सभा ने महाशय कृष्ण और प्रोफेसर रामदेव पर मेरे कारण 'मलामत का वोट' पास किया है। ये दोनो सज्जन आर्यसमाज की दिल से सेवा कर रहे हैं। यदि वे सच्चे दिल से मेरे अमल को आर्यसमाज के लिये हानिकारक समझते हैं तो क्यों न मेरे विरुद्ध लेखनी उठायें? यदि मेरा अपराध न होगा, तो मुझे कोई जोखम नहीं और यदि सचमुच मेरा अपराध है तो उस से लोगो को सावधान रहना ही चाहिए।. .महाशय! आर्यसमाज मे पहले ही काम करने वाले कम हैं। आप क्यो दो श्रेष्ठ काम करने वालो को धर्म-सेवा से उदासीन करने का पाप अपने सिर पर लेते हैं? कृपा कर के 'मलामत का प्रस्ताव' वापिस लीजिये और जिन कठोर वचनो का आपने प्रयोग किया है, उन्हे लौटा लीजिये।"

इस प्रकार इस बार भी गुरुकुल से जुदा होने की कहानी पहली कहानी की पुनरावृत्ति है। ऊपर पत्रो मे से केवल कुछ अवतरण दे दिये गये हैं और उन पर ऊपर से कुछ भी नही लिखा गया है, केवल इसीलिये कि किसी को कुछ कहने का अवसर न रहे। फिर ये सब इतने स्पष्ट है। कि उन पर कुछ लिखने की आवश्यकता भी नही है।

(ड) असिद्ध स्वप्न

इस बार भी स्वामी जी गुरुकुल के सम्बन्ध में अपना आदर्श पूरा नहीं कर पाये। गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये बीस लाख रुपया जमा करने को भारत के कोने-कोने और पजाब के ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर घूमने का विचार भी कार्य में परिणत न हो सका। गुरुकुल की रजत-जयन्ती के समारोह मे आप का सम्मिलित होना

गुरुकुल के भाग्य में बदा न था। रजत-जयन्ती के निमित्त से आपने अपने अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'लिबरेटर' में गुरुकुल के चंदे के लिये विशेष लेख लिखे थे। देहावसान के कोई दो-ढाई मास पहले आपने 'माई स्पेशल अपील' (मेरी विशेष अपील) के शीर्षक से लिखा था—"इस के अलावा मैं सवा लाख की विशेष अपील करना चाहता हूँ। गुरुकुल की स्थापना के समय से ही मैं घरेलू उद्योग-धन्धे की शिक्षा के लिये शिल्प-महाविद्यालय खोलने के यत्न में रहा हूँ। दो उदार दानियों ने उस के लिये बड़ी धनराशि देने के वायदे भी किये, किन्तु दुर्भाग्यवश उन दोनों का शीघ्र ही देहावसान हो गया। गुरुकुल से विदाई ले लेने पर भी मैं सेठ रग्घूमल जी से उक्त महाविद्यालय के लिये पॉच लाख देने का आग्रह करता रहा। उन्होंने मुझ को स्कीम बनाने के लिये कहा ही था कि निठुर मौत के उन को हमारे बीच में से उठा लिया। आशा है उनके ट्रस्ट के ट्रस्टी गुरुकुल के इस अधिकारपूर्ण दावे को नहीं भूलेगे। पर, ऐसे दिन की प्रतीक्षा में हम को नहीं बैठे रहना चाहिये, जिस दिन इतना बड़ा कोई फ़ण्ड हाथ में आये और काम शुरू हो। पचास हज़ार मकान के लिये, पचास हज़ार सामान के लिये और पैंतीस हज़ार चालू ख़र्च के लिये चाहिये। छोटी रकम से कुछ न होगा, 125 उदार दानी ऐसे चाहिये, जो एक-एक हज़ार रुपया अपने पास से या मित्रों से इकट्ठा कर के भेज दें। कोई-कोई उदार दानवीर तो दो, पॉच या दस हज़ार तक भी दे सकते हैं। अपनी प्रिय संस्था के लिये यह मेरी अन्तिम अपील है।" उस समय कौन जानता था कि यह अन्तिम ही अपील थी और उस के बाद अपनी प्रिय संस्था के रजत-जयन्ती के समारोह को पुनीत किये बिना ही आप इस संसार से चल बसेगे।

आचार्य रामदेव जी को आपने काशी से गुरुकुल से अलग हो जाने के बाद एक पत्र लिखा था, उससे भी गुरुकुल के सम्बन्ध मे आपकी उच्च आकाक्षा का पता लगता है। उसमें आपने लिखा था—"यहॉ से जो कुछ गुरुकुल के लिये उपयोगी शिक्षा ली जा सकती है, वह लिखता हूँ। यह सब थियासोफ़िकल हाईस्कूल में देख कर लिखने का विचार हुआ। गुरुकुल की शाखाओं में लुहार, तरखान और बालचर-विधि का प्रचार अवश्य होना चाहिये। कांगडी में फिर बालचर परिपक्व अवस्था में होकर बड़ा उपकार होगा। 'फ़र्स्ट एड' की शिक्षा भी होनी चाहिये। इन सबके लिये विचार करना हो तो जन्मोत्सव पर आपसे आकर मिल लूँ। कृषि का काम ये बड़ा अच्छा सिखाते हैं और वह मनोरंजक भी होता है। सबसे बढ़ कर स्कूल के 8, 9, 10 के साइंस क्लासों में क्रियात्मक शिक्षा बहुत दी जाती है। मेरे सामने लड़के स्याही, साबुन और अन्य वस्तुयें बनाते थे। गायन-विद्या

एक ग्रेजुएट अध्यापक सिखाता है। उसकी विधि ऐसी देखी कि बालक राग में लिप्त भी न हों और सीख भी जायें। क्रियात्मक विज्ञान के विषय मे प्रोफेसर नाग ने प्रोफेसर रामशरण जी को लिखने के लिये कहा है। इन सब बातों की ओर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यहाँ का सरस्वती-भवन भी देखा। दो अन्वेषण करते हुए पण्डित भी देखे। संस्कृत पुस्तको का संग्रह बहुत अच्छा, अपूर्व भी, है। क्यो न आप आगामी होने वाले स्नातकों में से दो को तैयार करे। यदि इस काम के लिए दो योग्य स्नातक तैयार हो जावे, तो मै प्रेरणा क्रर सकता हूँ कि दो छात्रवृत्तियों के लिए धन आ जावे। 40 रुपये मासिक छात्रवृत्ति गवर्नमेण्ट देती है, वही हम दे।" वास्तव में स्वामी जी जिस किसी संस्था में जाते थे, उसको इस दृष्टि से ही देखते थे कि उसमे से गुरुकुल के लिए क्या लिया जा सकता है? आप किसी भी संस्था से गुरुकुल को पिछड़ा हुआ नहीं देखना चाहते थे।

(च) स्थान-परिवर्तन

सम्वत् 1981, 28 सितम्बर सन् 1914, मे भयकर बाढ आने के बाद गुरुकुल को उस भूमि से उठाकर इस पार लाने का प्रकरण भी यहाँ ही पूरा कर देना चाहिए। प्रो. रामदेवजी, महाशय कृष्ण जी तथा कुछ अन्य सज्जन गुरुकुल को उस पार से उठा लाने का दृढ निश्चय किये हुए थे। उनके इस निश्चय को लेकर हुए सब आदोलन को यहाँ देने की आवश्यकता नही। तीन-चार स्थानो को लेकर विवाद चल रहा था। एक पुरानी भूमि से कुछ ऊपर कागड़ी गॉव के परे की भूमि, दूसरा गगा के इस पार की भूमि, तीसरा पजाब मे कोई स्थान और चौथा देहली के कही आस-पास। स्वामी जी ने आपस की बातचीत और समाचार-पत्रों द्वारा अपना मत कांगडी गॉव के ऊपर की भूमि के लिए ही प्रगट किया था और उसके बाद आप देहली के आस-पास आने के पक्ष मे थे। इस सम्बन्ध में स्वामी जी के हृदय की भावना को यहाँ अंकित करना सम्भव नही है। वह केवल अनुभव और अनुमान का विषय है। गुरुकुल मे ही अन्तरग-सभा का अधिवेशन 21 अक्तूबर सन् 1924 को करके इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय किया गया था। उसमें स्वामी जी भी उपस्थित थे। उस भूमि को छोड़ने का निश्चय हो जाने के बाद स्वामी जी उठ कर आचार्य के बंगले के पीछे, गंगा के ठीक किनारे पर लगे हुए, 'खटुए' के वृक्ष के नीचे आकर निस्तब्ध खड़े हो गए। वाणी से अमृत की मधुर वर्षा करने वाले स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने आकर कुछ पूछने का यत्न किया

तो स्वामी जी की आँखो से अश्रुधारा बह निकली। संन्यासी के हृदय में भी ममता का समुद्र उमड़ आया और वह ऑखो के रास्ते से बाहर भी निकल पड़ा। वह सूखी सासारिक-ममता नहीं थी, 'तपोभूमि' के उजडने तथा 'कर्मभूमि' के नष्ट होने का वह मर्मान्तक दृश्य था, जिसकी कल्पना तक स्वामी जी को रुला देती थी। यह प्रश्न उनके हृदय के मर्म-स्थल पर ऐसी सीधी चोट करता था कि उसका सुनना भी उनके लिए सह्य न था। कितनी ही बार उन्होंने बातचीत करते हुए कितनों ही के सामने और अकेले मे भी उसके लिए ऑसू बहाये थे। उनकी इस मर्मान्तक वेदना का पता उस पत्र से लगता है, जो उन्होंने उस समय के मुख्याधिष्ठाता श्री विश्वम्भरनाथ जी को देहली से 8 श्रावण सम्वत् 1981 को लिखा था। उसमे आपने लिखा था—"आपने गुरुकुल का जलवायु ख़राब बतला कर स्थान-परिवर्तन के लिए एक सब-कमेटी बनवाई है। उसके दो सभासद् तो पहिले ही से आपके विचार के अनुकूल हैं। सभा ने यह समझा है कि मेरा कभी गुरुकुल से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा और मुझ से इस सम्बन्ध में कुछ पूछना उचित नहीं समझा। समाचार पत्रो से मालूम हुआ है कि गुरुकुल को अकृत-कार्य सिद्ध कर के लाहैर मे उपदेशक-पाठशाला की बुनियाद डाली जायगी। जब आप की सम्मति मे गुरुकुल केवल वैदिक-धर्म या आर्यसमाज के उपदेशक उत्पन्न करने के लिये ही स्थापित हुआ था और वह उद्देश्य उससे पूरा नही हुआ तो उस पर सवा लाख से अधिक धन खर्चने की क्या आवश्यकता है? स्थान-परिवर्तन के स्थान में आप यही सम्मति क्यो नहीं दे देते कि गुरुकुल को बन्द ही कर दिया जाय।" 'प्रकाश'-सम्पादक के गुरुकुल के उद्देश्य को लेकर उस के प्रतिकूल किये गये दस-ग्यारह वर्ष के निरन्तर आंदोलन का परिणाम लाहौर की उक्त उपदेशक-पाठशाला की बुनियाद थी। स्वामी जी की मर्मान्तक वेदना की स्पष्ट अवहेलना करके गुरुकुल भी गगा के इस पार लाया ही गया।

इस सम्बन्ध मे काशी के दैनिक 'आज' ने बिलकुल ठीक लिखा था—"कागडी का गुरुकुल आप के अदम्य साहस और असीम देशभक्ति का फलस्वरूप है। हमें यह जान कर दुःख हुआ कि कई सहकारियों में अनबन हुई, जिससे स्वामी जी बडे दुःखित हुए और उन का सम्बनध उस स्थान से कम होता गया। इधर गंगा की भयंकर बाढ ने गुरुकुल को बड़ी हानि पहुँचाई। सम्भवतः इसी से वहाँ के कितने ही कार्यकर्त्ताओं की पुरानी इच्छा और भी पुष्ट हो गयी कि वहाँ से गुरुकुल को हटा कर दूसरे स्थान पर ले जायँ। अब स्वामी जी के विरोध करते रहने पर भी यह निश्चय हो गया। स्वामी जी ने मर्मस्पर्शी भाषा में अपने भावों को व्यक्त

करते हुए इस पर दुःख प्रकट किया है और अपने हाथ के किये हुए कार्य से विदा ले ली है। हमारा भी मत है कि गुरुकुल के अधिकारी भूल कर रहे हैं। प्रत्येक शिक्षा-संस्था की परम्परा उसके मकानों के साथ एक जान हो जाती है और दूसरे स्थान पर जाने से वे भाव कदापि क़ायम नही रह सकते जो निर्णय के प्रारम्भिक कष्टों के समय उत्पन्न होते है और जो वहाँ की एक-एक ईट से याद आते हैं। यही ग़लती काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के संचालकों ने की, जब अपना पुराना कमच्छा का भवन छोड वे नगवा जा बसे थे। धन के अपव्यय के अतिरिक्त उन्होंने पुराने सद्भावों का भी सब अपव्यय कर डाला। हमें दुःख है कि कांगडी के गुरुकुल वाले भी यही गलती कर रहे हैं। स्वामी श्रद्धानन्द अवश्य वहाँ से विदा हो गये, पर स्वामी श्रद्धानन्द का नाम न वह संस्था और न वह भूतल ही भूल सकता है। आधुनिक भारत के शिक्षा-सुधारकों में भी उनका नाम अजर-अमर रहेगा, चाहे किसी को उनसे कितना ही मतभेद क्यो न हो?''

(छ) कुलपति

गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता के कार्य से पहली ही बार अलग हो जाने के बाद से आप को गुरुकुल वासी और प्रवासी सब 'कुलपति' के नाम से याद करते थे। आप ने भी उस पद की जिम्मेवारी को बराबर निभाया। आप गुरुकुल को विस्तृत और लोकप्रिय बनाने का कार्य तथा आदोलन बराबर करते रहे। गुरुकुल की शाखाओ तथा कन्या-गुरुकुल के स्थापित किये जाने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। नवसारी के पास सूफा मे गुरुकुल की शाखा स्थापित करके आपने गुजरात मे गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की विजय-पताका फहराई थी। मद्रास और बगाल मे भी उसके लिये यत्न जारी था। ता. 18 दिसम्बर सन् 1925 को आपने श्री धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति को लिखा था—''इस समय मद्रास के सब प्रान्तो में गुरुकुल खोलने की चर्चा चल रही है। स्थान-स्थान पर तैयारी है। मै तो फिर भी उधर जाकर मद्रास के प्रान्तो को हिलाऊँगा, परन्तु उससे कोई लाभ उठाने वाले होंगे, तभी काम चलेगा।'' कलकत्ता के श्री तुलसीदत्त जी आर्य को बंगाल में गुरुकुल खोलने के लिये आप निरन्तर प्रेरित किया करते थे और इस सम्बन्ध में उनके साथ आप ने बहुत-सा परामर्श भी किया था। पर, आप का वह मनोरथ पूरा न हो सका। कुलपति के रूप में आप ब्रह्मचारियो तथा स्नातकों में भी सदा ही नवस्फूर्ति पैदा करते रहते थे और वे आप की ओर प्रकाश पाने की आशा तथा विश्वास से सदा देखते रहते थे। सम्वत् 1979 की फाल्गुन कृष्ण 10 की

पंजिका में गुरुकुल के कुल-पुत्रों के नाम एक सन्देश दर्ज है, जिस से ऊपर की पंक्तियों की यथार्थता का पता लगता है। वह सन्देश यह है—"भारतमाता के लिये पुत्रों को धन और तन की ही नहीं, मन के अर्पण करने की भी आवश्यकता है। उसके लिये ब्रह्मचर्यरूपी पूर्ण तप की आवश्यकता है। क्या तुम ने उस तप का अनुष्ठान किया है? यदि नहीं तो आज ही शुद्ध हृदयपूर्वक आरम्भ कर दो। तुम्हारे पुराने आचार्य को माता की सेवा में बलि देने के लिये तपस्वी पुत्रों की ज़रूरत है। क्या कोई आगे बढ़ेगा? जगत्पिता तुम सब पर तेज की वर्षा करें। यह मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।" सन् 1961 में असहयोग आंदोलन मे वर्धा से गुरुकुल के पहले स्नातक के जेल जाने पर आप ने देहली से इस आशय का तार दिया था—"तुम्हारे जेल जाने के समाचार से मुझ को बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम्हारे आचार्य की बधाई तुम को जेल में भी प्राप्त हो।" गुरुकुल के सभी स्नातको के सम्बन्ध में आप पूरी जानकारी रखते थे और उनको सदा ही उचित परामर्श देते रहते थे। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और स्नातकों के लिये आप का वियोग ऐसी भारी क्षति है, जिसकी पूर्ति न हुई है और न होनी सम्भव है। गुरुकुल भी आप के वियोग से अनाथ-सा हो गया है।

8. आर्य-सार्वदेशिक-सभा और मद्रास प्रचार

(क) प्रधान-पद की जिम्मेवारी

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद स्वामी जी ने आर्य-सार्वदेशिक-सभा को हिलाने और जगाने का यत्न किया। पर, उस को जगाना एक असाधारण काम था। प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभाओ में अपने-अपने प्रान्तीय स्वार्थो के कारण कुछ जीवन दिखाई देता है, किन्तु सार्वदेशिक-सभा मे किसी प्रान्त-विशेष का स्वार्थ नहीं–वह सब का काम है, इसीलिये किसी का भी नहीं है। सार्वदेशिक-सभा के प्रति उस के सदस्यों की उदासीनता एवं अकर्मण्यता से पैदा हुई उसकी दुर्दशा का पता इसी से लग जाता है कि उसके साधारण अधिवेशनों मे तो क्या, अन्तरंग-सभा के अधिवेशनों में भी पॉच सभासदों का कोरम हाथ पैर मारने पर भी पूरा नहीं होता था। इस पर भी स्वामी जी उस में जीवन फूंकने की चेष्टा में बराबर यत्नशील रहे। स्वर्गीय सेठ रग्घूमल जी की सहायता से देहली के आस-पास कन्या-गुरुकुल खोलने का पहला यत्न स्वामी जी ने इस सभा की ओर से ही किया था। मद्रास में दलितोद्धार और वैदिक-धर्म के सब प्रचार के श्रेय का सेहरा भी आप इस सभा के माथे ही बॉधना चाहते थे। सभा के सभासदो की पूर्ण उपेक्षा पर भी आप ने उसके लिये अकेले ही कमर कस ली। सम्वत् 1974 में मद्रास-प्रान्त में योग्य उपदेशक भेजने का प्रस्ताव पास करने के बाद भी उस पर वर्षो तक अमल नहीं किया गया था। इस काम के लिये प्रांतीय-प्रतिनिधि-सभाओं ने अपने जिम्मे ली हुई रकम तीन-चार वर्ष तक भी नहीं भेजी थी। 5 आषाढ सम्वत् 1977 को 'श्रद्धा' में आप ने इसी काम के लिये फिर पॉच हजार रुपये की अपील की थी और गुरुकुल के दीर्घावकाश में स्वयं भी मद्रास जाने का विचार प्रगट किया था। 23 श्रावण सम्वत् 1977 को 'श्रद्धा' में फिर आपने लिखा था–"मद्रास मे उच्च कोटि का प्रचारक भेजने के लिये पन्द्रह सौ रुपये का बजट रखा गया, किन्तु केवल पंजाब प्रतिनिधि सभा की ओर से उसके लिये साढे तीन सौ रुपये आए।

संयुक्त प्रांत की सभा के अधिकारियों ने प्रतिज्ञा की हुई है कि जो रकम पंजाब सभा देगी उतनी ही वह भी देंगे, अर्थात् साढे तीन सौ रुपये नकद और साढ़े तीन सौ रुपये वायदा। इतने ही में सार्वदेशिक-सभा के प्रधान ने लंगोटी में फाग खेल डाला और 5 आषाढ़ के 'श्रद्धा' पत्र में 5 हज़ार की अपील निकाल कर प्रो. सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार को मद्रास की ओर विदा कर दिया। प्रो. सत्यव्रत जी ने मद्रास पहुँच कर हिंदी का प्रचार शुरू किया। स्वामी जी का इस सम्बन्ध में यह स्थिर मत था कि "हिंदी प्रचार वैदिक-धर्म को सर्वसाधारण में फैलाने का पहला साधन है। इसलिये मै धर्म-प्रचार के साथ इस पर भी अधिक बल दे रहा हूँ।" इस लेख में आपने अपने मद्रास जाने का कार्यक्रम देते हुए वहाँ स्थिर तथा निरन्तर काम करने और उसी वर्ष मद्रास प्रात में कुम्भकोणम् नगर में होने वाले कुम्भ पर वैदिक-धर्म के प्रचार की आवश्यकता की ओर भी आर्य जनता का ध्यान आकर्षित किया था। इस काम के लिये फिर आपने सार्वदेशिक-सभा की ओर से दस हज़ार रुपयों की अपील की थी। कलकत्ता से आप को, स्वास्थ्य गिर जाने के कारण, एकाएक लौटना पड़ा। मद्रास जाने का कार्यक्रम इस वर्ष पूरा नहीं हो सका। कलकत्ता जाते हुए आप गुरुकुल-विश्वविद्यालय के दो और योग्य स्नातकों को भी मद्रास छोड़ आने के लिये साथ ले गये थे। पण्डित देवेश्वर जी सिद्धान्तालंकार को आपने इन्हीं दिनों मे मद्रास-प्रचार के लिये ही भेजा था। श्री सत्यव्रत जी और श्री देवेश्वर जी ने बडी योग्यता और तत्परता के साथ उस प्रात मे दो वर्ष तक प्रचार किया। उन द्वारा स्थापित 'दयानन्द-ब्रह्मचर्य-आश्रम' अभी तक चल रहा है। मैसोर मे पण्डित भीमसेन जी विद्यालंकार और पं. गोपालदत्त जी शास्त्री को प्रचार-कार्य के लिये ही भेजा था। इस प्रकार दक्षिण मे प्रायः सभी स्थानों पर कार्यकर्ताओं को नियुक्त करने मे आप लगे हुए थे।

(ख) दक्षिण-भारत की धर्म-यात्रा

मद्रास-प्रांत में वैदिक-धर्म प्रचार की चर्चा आर्यसमाज में बहुत पहिले से ज़ारी थी। आर्यप्रतिनिधि-सभा-पंजाब की ओर से उसके लिये धन-संग्रह भी किया गया था। स्वामी जी की दृष्टि भी उधर बहुत समय से थी और इस सम्बन्ध मे उनकी उच्च-आकांक्षा भी बहुत बड़ी थी। आप मद्रास-प्रांत के प्रत्येक केन्द्र में गुरुकुल के एक-एक स्नातक को बिछा देना चाहते थे। गुरुकुल के उपस्नातकों को उसके लिये प्रेरित भी किया करते थे। उस प्रेरणा का ही परिणाम है कि पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति और पं. केशवदेव जी ज्ञानी सिद्धान्तालकार पंजाब के सीमा-प्रात

को छोड़ कर मद्रास-प्रांत में जा बसे है। अमृसर-काग्रेस पर आपने कांग्रेस का अछूतोद्धार की ओर जो ध्यान आकर्षित किया था, उससे प्रभावित होकर मद्रास-प्रात के नेता दीवान माधवराव, 'हिन्दू' के स्वर्गीय-सम्पादक श्री कस्तूरी रगा अयंगर और वयोवृद्ध कांग्रेस-नेता श्री सी. विजयराघवाचार्य आदि ने आपसे मद्रास-प्रात के दौरे के लिये अत्यन्त आग्रह किया था और आपको यह आशा भी दिलाई थी कि जिस प्रकार मार्शल-लॉ से पीडित पंजाब के लिये आपकी अपील पर मद्रास ने 35 हज़ार की सहायता प्रदान की थी, वैसे ही दलितोद्धार के काम के लिये भी मद्रास आपकी अपील पर दिल खोलकर आपका साथ देगा। मद्रास जाने की चिर-संचित आकांक्षा सन् 1924 के अप्रैल मास, सम्वत् 1982 में पूरी हो सकी। आपने 25 अप्रैल को देहली से मद्रास के लिये प्रस्थान किया। 27 अप्रैल से 1 मई तक बम्बई रहे, जहॉ मारवाडी-बालिका-विद्यालय आदि स्थानो की सार्वजनिक सभाओं में और दूसरे स्थानो पर दलित भाइयों की सभाओ में आपके कई भाषण हुए। दलित भाइयो को आपने यह सन्देश दिया—"यदि तुम्हे बाह्य मन्दिरो में जाकर देव-दर्शन करने से रोका जाता है, तो अपने अन्तरात्मा के पवित्र मन्दिर मे सर्वव्यापक परमात्मा का दर्शन और पूजा करना सीखो, जहॉ जाने से तुम्हे कोई रोक नही सकता। अपने बुजुर्गो की तरह अपना सिर कटवा दो, परन्तु धर्म न छोड़ो।" बम्बई मे आप जुहू जाकर महात्मा गान्धी जी से भी मिले। हिन्दू-संगठन का काम करने वाले कार्यकर्ताओ और स्वामी जी के प्रति महात्मा जी के मन में जो सन्देह पैदा कर दिये गये थे, उन पर खूब खुल कर चर्चा हुई। संगठन के काम मे पडने के बाद स्वामी जी की महात्मा जी के साथ यह पहिली ही मुलाकात थी। 2 और 3 मई को पूना में आपके व्याख्यान हुए और आप महाराष्ट्र-प्रान्तीय-राष्ट्रीय-शिक्षण-परिपद के सभापति भी हुए। 4 मई को बंगलौर शहर और छावनी होते हुए 5-6 को मद्रास पहुँचे। मद्रास से स्वामी जी 9 मई को कालीकट-वायकोम में दलित जातियो द्वारा मन्दिरो के आस-पास की निषिद्ध सार्वजनिक सडकों के प्रतिकूल किये जाने वाले सत्याग्रह का निरीक्षण करने गये। वहॉ आपने दलित भाइयो को आर्य-धर्म की दीक्षा दी और उनको आर्यसमाज मे आने का निमनत्रण दिया। देहली से लौटकर दो हजार से अधिक की सहायता इस सत्याग्रह को दिलवाई और पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति को इसी काम पर नियुक्त किया। इस सत्याग्रह का आरम्भ काग्रेस के कुछ लोगों की ओर से किया गया था, जिनमे श्री जार्ज जोसेफ़ सरीखे सज्जन भी सम्मिलित थे। चूकि अस्पृश्यता का प्रश्न हिन्दू-समाज का प्रश्न था, इसलिये स्वामी जी ने यह आन्दोलन किया कि उसका

सचालन हिन्दुओं की ओर से ही होना चाहिये और केवल हिन्दुओं को उसमें भाग लेना चाहिये। अब महात्मा गांधी ने भी इसी नीति का अवलम्बन किया है। 10 मई को आप मंगलौर आये, जहाँ सार्वजनिक भाषणों के अलावा आपने समाज मन्दिर का उद्घाटन भी किया। 'डिप्रेस्ड-क्लास-मिशन' के संस्थापक स्वर्गीय रंगराव जी पर आपका कुछ ऐसा रंग चढा कि उन्होने कुछ समय बाद सन्यास ही ले लिया और अपने सब साथियों के विरोध पर भी अपने कर्तव्य-कर्म से विचलित नहीं हुए। वहाँ से वेणूर गये, जहाँ कि ईसाई प्रचारकों का बड़ा भारी केन्द्र है। वहाँ आपने भी अपना एक केन्द्र स्थापित किया। धर्मदेव जी को अध्यक्ष और सनातनदास जी को वहाँ प्रचारक नियत किया। मंगलौर के कालीकट, मदुरा आदि होकर आप 20 को फिर मद्रास लौट आये। वहाँ गोखले-हॉल में आपका वह मर्मस्पशी भाषण हुआ, जिसने सब दक्षिण-भारत को ही हिला दिया। उस भाषण में आपने कहा था—"पुरोहित आदि के अहंकार के कारण आपके यहाँ ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरों का झगड़ा तो चल ही रहा था कि अब उससे भी अधिक बुरा एक झगड़ा आपके सामने खड़ा होने वाला है। यदि आपने अस्पृश्य कहे जाने वाले भाइयो के उद्धार की ओर विशेष ध्यान न दिया तो मैं आपको सचेत करता हूँ कि वह दिन दूर नहीं, जब आपके वे दलित भाई, जिन्हे आप पचम कहते है, आप से सब तरह का सम्बन्ध तोड़ देंगे। या तो सब के सब दूसरे सम्प्रदायो में चले जायेंगे, अथवा अपनी जाति ही अलग बना लेंगे। मै स्वय कमजोर, रोगी और वृद्ध होता हुआ भी सब देश में घूम जाऊँगा, दलित भाइयो का संगठन करूँगा और उनको कहूँगा कि वे हर एक ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण को स्पर्श करके वैसा ही भ्रष्ट कर दें, जैसा आप उनको मानते हैं। तब निश्चय ही आप सब उनके पैरो मे माथा टेक देंगे।" मद्रास से 23 को वेज़बाडा और 24 को गोदावरी होते हुए 25 मई को गुडीवाडा पहुँचे, जहाँ आपकी अध्यक्षता मे आन्ध्र-प्रान्तीय-दलितोद्धार- सम्मेलन का आयोजन किया गया था। वहाँ के भाषण का उपस्थित जनता विशेष कर ईसाई हुए दलित भाइयो पर ऐसा प्रभाव पडा कि वे आपको अपना रक्षक मानने लग गये। उन्होने आपके निवास-स्थान पर घण्टो आप से बातचीत की। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन हजारो ने फिर आप से दीक्षा लेकर हिन्दू-धर्म मे प्रवेश किया। गुडीवाड़ा-सम्मेलन के बाद आपने आन्ध्र-प्रान्त का दौरा प्रान्त के मुख्य शहर राजमहेन्द्री से शुरू किया। वहाँ के स्वर्गीय प्रसिद्ध समाज-सुधारक श्री वीरेशलिंगम् पन्तलु गारु द्वारा सचालित विधवा-आश्रम का निरीक्षण करते हुए आपकी आँखो से अश्रुधारा बह निकली और आपने दुःखपूर्ण शब्दों मे कहा—"भगवान्

की सृष्टि के इन कोमल फूलों के प्रति हिन्दू-समाज ने बहुत बड़ा पाप किया है। उसको आज नहीं तो कल इस पाप का प्रायश्चित्त करना ही होगा। यह सच है कि जहाँ देवियों का सम्मान होता है, वहाँ ही दिव्य गुणों का विकास सम्भव है।" राजमहेन्द्री से स्वामी जी बहरामपुर और गया होते हुए 30 मई को कलकत्ता पहुँचे। सिराजगंज में बंगाल-प्रान्तीय-हिंदू-सम्मेलन में सम्मिलित होने के बाद 5 जून को देहली लौट आये।

यह कहना न होगा कि आपकी इस दक्षिण-यात्रा से सब प्रान्त में जागृति और चेतना पैदा हो गई। एक-एक दिन में कभी कभी आप को चार-चार, पाँच-पॉच तक भाषण देने पड़ते थे। भाषणों में जनता तो प्रायः आँसू बहाती ही थी, हिंदू-समाज की दुर्दशा पर बोलते हुए आप की भी आँखें डबडबा जाती थीं। इस यात्रा के लिये विदा होने से पहिले आपने अंग्रेज़ी और हिन्दी में अस्पृश्यता को धो डालने के लिये, महान् आर्य जाति के पुत्र और पुत्रियों के नाम, एक अपील 'वर्तमान-समस्या' शीर्षक स पुस्तिका के रूप में छपवाई थी, जो हर जगह व्याख्यान के बाद बॉटी जाती थी। उसमें अस्पृश्यता-निवारण और दलितोद्धार के काम के लिये पच्चीस लाख की अपील भी की गई थी। मद्रास में श्रीयुत महम्मद याकूब की अध्यक्षता में आपको मद्रास प्रान्त की ओर से मान-पत्र देने का विशाल आयोजन किया गया था। इस प्रकार मद्रास की इस धर्म-यात्रा में आप को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। सबसे अच्छा काम इस यात्रा में यह हुआ कि भिन्न-भिन्न संस्थाओ की ओर से काम करने वाले सभी प्रचारको को आप ने एक भावना की एक माला मे पिरो दिया, सब काम का स्वय निरीक्षण किया और मद्रास-प्रात की जिस विकट हरिजन-समस्या को महात्मा जी के दूसरे उपवास का कारण बताया जाता है उस का आप ने अध्ययन किया। पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति पहले ही उस प्रात मे काम कर रहे थे। इस यात्रा में पण्डित केशवदेव जी ज्ञानी सिद्धान्तालंकार को भी आप वहॉ ही छोड आये।

(ग) दक्षिण-भारत को सन्देश

ता. 21 मई सन् 1925 को मद्रास निवासियों के नाम निम्नलिखित सन्देश आप ने श्री धर्मदेव जी की मार्फत भेजा था—"इस पवित्र अवसर पर तुम यह मत भूलो कि वैदिक धर्म कोई सम्प्रदाय या पन्थ नहीं है। वह अनादि धर्म है, जिस के बिना संसार की सामाजिक व्यवस्था एक पल के लिये भी नहीं रह सकती। प्राचीन काल में अनगिनत आध्यात्मिक ख़ज़ानों को खोलने वाली चाबी तुम्हारे

ही हाथों मे दी गई थी और अब भी अशान्त संसार को शान्ति देना तुम्हारा ही काम है, किन्तु पहले तुम को अपनी ही अपवित्रताओं को धोना होगा। आज गम्भीर भाव से यह प्रतिज्ञा करो कि तुम दैनिक पंचयज्ञों के अनुष्ठान में प्रमाद नहीं करोगे, तुम अस्वाभाविक जाति भेद के बन्धन तोड़ कर वर्णाश्रम-व्यवस्था को अपने जीवन में परिणत करोगे, तुम अपनी मातृभूमि के देह पर लगे हुए अस्पृश्यता के कलंक को धो डालोगे और तुम आर्यसमाज के सार्वभौम-मन्दिर का द्वार, मत सम्प्रदाय-जाति-रंग आदि के भेद-भाव का कुछ भी विचार न कर, मनुष्यमात्र के लिये खोल दोगे। परम-पुरुष परमात्मा इस गम्भीर प्रतिज्ञा के पालन करने में तुम्हारे सहायक हों, जिस से जब कभी फिर इस संन्यासी को तुम्हारे बीच में आने का अवसर मिले, तो उस को निश्चित उद्देश्य की ओर तुम्हारे अग्रसर होने के चिन्ह अथवा दृश्य स्पष्ट दीख पड़ें।" जितना दिव्य और स्फूर्तिदायक यह सन्देश है, उतनी ही दिव्य और स्फूर्तिदायक आप की दक्षिण की धर्म-यात्रा हुई थी। इस सन्देश से स्वामी जी के हृदय की विशालता तथा उदारता का परिचय मिलता है और साथ में यह भी पता लगता है कि आर्य जीवन के लिये आचरण की पवित्रता पर आप कितना ज़ोर देते थे।

(घ) दक्षिण-भारत की दूसरी धर्म-यात्रा

सन् 1925, सम्वत् 1983, के अक्तूबर-नवम्बर के महीनों में स्वामी जी मद्रास की दूसरी धर्म-यात्रा पर गये थे। ता. 30 अक्तूबर के सवेरे देहली से विदा होकर 30, 31 अक्तूबर और 1 नवम्बर को आप नवसारी में स्थानीय-दयानन्द-जन्म-शताब्दि में सम्मिलित हुए, ता. 2 से 4 नवम्बर तक बम्बई ठहरे, फिर 30 नवम्बर तक मद्रास-प्रांत के सुदूर नगरो तक का आपने दौरा किया। पहली धर्म-यात्रा के समान इस धर्म-यात्रा का भी अच्छा प्रभाव पडा। सन् 1924 की धर्मयात्रा मे जो कार्य शुरू किया गया था, उस को इससे और भी अधिक दृढ़ किया गया। आप का यह स्वभाव था कि जिस काम को भी हाथ मं लेते थे, अन्त तक उस को निबाहते थे। मद्रास की ओर आपका ध्यान कुछ ऐसा आकृष्ट हुआ था कि सन् 1924 के अक्तूबर-नवम्बर में दक्षिण में बाढ़ आने पर वहाँ के दलित भाइयों की सहायता के लिये आप ने बाढ़-फ़ण्ड की स्थापना की थी। समाचार-पत्रों में की गई अपील और कुछ व्यक्तिगत प्रभाव से आप ने हज़ारों रुपया जमा करके श्री सत्यकेतु जी विद्यालंकार को बाढ़-पीड़ितों की सहायता के कार्य के लिये ही उस ओर भेजा था। गुरुवयूर के समीप चावघाट में केन्द्र खोल कर हज़ारों बाढ़-पीड़ित भाई-बहनो

की सहायता की गई थी। न केवल अनाज बॉटा गया था, किन्तु नष्ट हुए घरों को फिर से बसाने के लिये भी यथेष्ट सहायता दी गई थी। मालाबार के मोपला-काण्ड के समय भी स्वामी जी ने अपने कार्यकर्ताओं को उस प्रदेश में भेज सैकड़ों परिवारों को आर्थिक सहायता देकर उन को संकट से बचाया था। फिर सन् 1927 में मद्रास-प्रांत की तीसरी धर्मयात्रा करने का आप का विचार था, किन्तु वह विचार मन का मन मे ही रह गया।

(ङ) दक्षिण-भारत में प्रचार की उच्च आकांक्षा

मद्रास-प्रान्त के सम्बन्ध में स्वामी जी की प्रचार-सम्बन्धी उच्च आकाक्षा का कुछ पता आपके उन पत्रों से लगता है, जो वे प्रायः कार्यकर्ताओं को लिखा करते थे। पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति मुलतान ज़िले के निवासी हैं। इस नाते से मुलतान-शाखा-गुरुकुल की प्रबन्ध-कमेटी ने आप से उस गुरुकुल का आचार्य बनने के लिये अत्यन्त आग्रह किया और आप में भी स्थानीय-देशभक्ति कुछ ऐसी जाग उठी कि आप मद्रास छोड़ कर मुलतान चले आये। इसी समय आपसे दयानन्द सेवा-सदन का सभासद होने का भी आग्रह किया जा रहा था। स्वामी जी की दृष्टि में आप के लिये सर्वोत्तम कार्य-क्षेत्र मद्रास प्रांत ही था। अतः स्वामी जी ने आप को 11 अक्तूबर सन् 1916 को लिखा--"मालाबार में सेठ जुगुलकिशोर जी बिडला काम अवश्य करना चाहते है, परन्तु मुझे आदमी चाहिये। अभी उधर काम करने वाले सब स्थानीय आदमी है। एक उनका अध्यक्ष चाहिये। मेरा विचार यह है कि तुम मेरे साथ नवम्बर के द्वितीय सप्ताह मे चलो। वेलगॉव, बगलोर, मैसूर होकर मगलोर पहुँचेगे। वहाँ का हाल देख कालीकट, कैनानोरगी, पालघाट होते हुए मालाबार घूमेंगे। फिर तुम दक्षिण कनारा और मालाबार के अध्यक्ष का काम सँभाल लेना।" इस पत्र की स्वीकृति आने पर फिर स्वामी जी ने आपको लिखा--"मालूम यह होना चाहिये कि क्या तुमने अपनी धर्मपत्नी सहित मगलोर जाने का पक्का इरादा कर लिया है?" इसी प्रेरणा का यह परिणाम है कि श्री धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति श्रीमती विद्यावती जी के साथ मद्रास मे ऐसे रम गये हैं कि आप दोनो ने पजाब को भुला कर और श्री केशवदेव जी ज्ञानी सिद्धातालकार तथा श्रीमती शातादेवी जी ने क्वेटा छोडकर मद्रास को अपना घर बना लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि स्वामी जी को मद्रास के सम्बन्ध मे अपना कार्यक्रम पूरा करने का यथेष्ट अवसर मिला होता अथवा मथुरा की दयानन्द-जन्म-शताब्दी में पेश की गई योजना को ही आर्यसमाज ने पूरा किया होता, तो मद्रास-प्रात

में गुरुकुल के स्नातकों का जाल बिछ गया होता और सामाजिक-अज्ञानान्धकार के उस दुर्ग की कई दीवारें कभी की गिर गई होतीं, जिसकी चारदीवारी में न केवल कुछ भाइयों को छूना ही पाप समझा जाता है, किंतु उनकी छाया तथा दृष्टि और ब्राह्मणों की पवित्र भूमि के लिये उनके पैर का स्पर्श तक पाप माना जाता है। वैसे तो समस्त देश और जाति की ही स्वामी जी के देहावसान से कभी न पूरी होने वाली क्षति हुई है, किंतु मद्रास की जो क्षति हुई है वह देश और जाति से भी बढ़ कर है।

मद्रास के समान ही दूसरे प्रांतों पर भी आपकी पूरी दृष्टि थी। इस जीवनी का लेखक उन दिनों में मध्यप्रांत में था। बरार-मध्यप्रांत में दलितोद्धार के कार्य के लिये दो-ढाई मास देने का आप उसके साथ वायदा कर चुके थे। बंगाल के दौरे का तो पूरा और पक्का कार्यक्रम बन चुका था। बर्मा में आपने पण्डित सत्यपाल जी विद्यालंकार को, जो इस समय पंजाब-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी के डिक्टेटर की हैसियत में प्राप्त दो वर्ष की सज़ा रावलपिंडी जेल में काट रहे हैं, भेजा था। बर्मा के बाद अफ्रीका भी आप इसी काम पर भेजे गये थे। पण्डित यशपाल जी सिद्धांतालंकार को आसाम-प्रांत का कार्य सौंपा था। मद्रास-प्रांत के समान आसाम के लिये भी अपील करते हुए आपने 'अर्जुन' के 7 मार्च सन् 1925 के अंक मे लिखा था—"आसाम का उद्धार कौन करेगा?"

(च) मथुरा में शताब्दी

मथुरा में श्रीमद्दयानन्द-जन्म-शताब्दि का भूतो न भावी समारोह आपकी ही कल्पना थी और उसका मुख्य उद्देश्य आर्य जाति के सगठन को दृढ करते हुए, उसकी सोई हुई शक्ति को जगा कर, उसे आत्मविश्वास की स्फूर्ति पैदा करना और आर्य-सार्वदेशिक-सभा के हाथ-पैर मजबूत करना था। मथुरा-जन्म-शताब्दी के इस समारोह का आयोजन सम्वत् 1983, सन् 1925, में किया गया था। उससे तीन वर्ष पहिले 9 वैशाख सं 1978, 22 अप्रैल सन् 1922, की आप की 'पंजिका' मे अपने हाथ से यह लिखा हुआ है कि "दयानन्द-जन्म-शताब्दी सम्वत् 1981 की शिवरात्रि को मनाना। एक सप्ताह तक कार्यक्रम रहे। फागुण कृष्णा 9 से लेकर अमावस्या तक। केवल आर्यसमाजी ही नही—सब मनायें, क्योंकि वर्तमान जागृति का देवता दयानन्द था। कहाँ मनाई जावे? अजमेर—यहाँ मृत्यु हुई सम्वत् 1940 में। इसलिये जब सम्वत् 1990 की दीपमालिका आवे तो अजमेर मे मृत्यु की अर्ध-शताब्दी का दिवस मनाया जाना चाहिये। शेष दो रहे—एक-जन्मभूमि

का ग्राम, दूसरा—देहली-सार्वदेशिक-सभा का मुख्य-स्थान। जन्मभूमि में पहुँचने का सुभीता पंजाब, युक्तप्रांत, बंगाल आदि को न होगा और शायद सात दिन का प्रबन्ध करने में भी कठिनाई पड़े। परन्तु गुजरात प्रान्त में धर्म-प्रचार खूब हो जायगा। गुजरात धनाढ्य है, इसलिये शायद धन भी वहाँ अधिक एकत्र हो सके। परन्तु इसका निर्णय तब हो, जब मैं स्थान देख लूँ और ठीक निश्चय भी कर लूँ। निम्न कार्यक्रम—(क) तीन कानफरेंस हों—1. वर्णव्यवस्था-निर्णायक, प्रश्न पहले से भेजे जायँ; 2. किन मुख्य सिद्धान्तों का मानना आवश्यक है और कौन गौण हैं, जिससे प्रचार में उन्हीं पर बल दिया जाय?; 3. गुरुकुल-शिक्षा-विधि-सम्मेलन—एक पाठविधि और एक क्रम नियत कर सब गुरुकुलों को एक सूत्र मे बाँधने के लिये। (ख) शिवरात्रि के दिन के अतिरिक्त नित्य प्रातः 8 से 11 तक कानफरेंस और सायंकाल चार घण्टों तक भजन-व्याख्यान हों, जिनमें ऋषि दयानन्द के जीवन तथा मन्तव्य का कोई भाग लेकर विद्वानो के भाषण हों। (ग) शिवरात्रि के प्रातः एक बड़ा यज्ञ हो, जो 7 से 12 बजे तक रहे। नित्य भी एक ओर परिषद् बैठे और दूसरी ओर 9 से 11 तक हवन-यज्ञ हुआ करे। फिर 3 से 6 तक प्रोसैशन, रात को ऋषि जीवन की दीक्षा-रात्रि की घटना पर दो आध-आध घण्टे के व्याख्यान, जिनके अन्त मे प्रेरणा हो कि सब आध घण्टे के लिये बैठ कर आत्म-चिंतन करे। फिर भोजन हो। दिन को सब सिवा जल और दूध के कोई अन्नादि ग्रहण न करे, जिससे शुद्ध हो कर आत्मचिंतन कर सके। पुस्तक-रचना—(1) आर्यसमाज का इतिहास, (2) अथर्ववेद का स्वाध्याय—सातवलेकर जी से। (3) प्रो. रामदेव, (4) प. घासीराम, (5) प. गगाप्रसाद, इत्यादि की कोई पुस्तक।" इसके बाद आय-व्यय का अनुमान भी दिया है। "व्यय—(1) चार पुस्तकों की छपाई—2500 × 4 = 10 हजार, (2) पण्डाल-तैयारी—3 हजार, (3) उतारा—1 हजार, (4) सात दिन का भोजन उपदेशकादि का सवा पाच सौ—500 × 7=3॥ हजार, (5) अन्य प्रबन्ध—2॥ हजार, (6) दयानन्द देशान्तर-प्रचारनिधि—80 हजार—योग=एक लाख। 80 हजार का सूद 4800, जिसमें 4 प्रचारक स्थिरता से रखे जा सके।" 7 मार्च सन् 1923, चैत्र कृष्णा 5 सम्वत् 1979, की पजिका में सार्वदेशिक सभा का एक प्रस्ताव दर्ज है। वह यह है—"निश्चय हुआ कि दयानन्द-जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में भारतवर्षीय-सावदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि के अधीन एक 'दयानन्द-दलितोद्धार-मण्डल' (मिशन) स्थापित किया जावे और उसके लिये जनता से एक लाख रुपयो की अपील की जाय। सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि उक्त मण्डल के कार्य के लिये धन एकत्र करने तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रबन्ध और कार्य का भार प्रधान जी

के सुपुर्द किया जावे।" पंजिका से ये सब उद्धरण इस लिये दिये गये हैं कि इनसे स्वामी जी की मौलिकता, नीतिमत्ता, कार्यशैली, दूर-दृष्टि तथा व्यवहार-कुशलता का तो पता लगता ही है, साथ में यह भी पता लगता है कि मथुरा में ि म-शताब्दी का समारोह एक मेले के रूप मे केवल मनोरंजन के लिये नहीं कि ा गया था, किंतु उसका कुछ स्थिर उद्देश्य था। उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर शताब्दी पर हुए 'आर्य-सम्मेलन' मे तीन प्रस्ताव स्वीकृत किये गये थे, जिनमें अन्तिम प्रस्ताव मे पॉच लाख रुपयो के स्थिर कोप के लिये अपील की गई थी, जिससे सार्वदेशिक-सभा स्थिरता से लेखबद्ध और मौलिक प्रचार करने में समर्थ हो सके। इस अपील में नक़द और वायदे सब मिला कर सवा लाख रुपया हुआ था। नक़द शायद 50 हज़ार भी नही था। शताब्दी से लौटते ही स्वामी जी ने 5 मार्च सन् 1925 के 'अर्जुन' में 'सार्वदेशिक-स्थिर-कोष को पूरा करो' शीर्षक से अपील निकाल कर आर्य-पुरुषों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया था और उसके बाद भी समय-समय पर आप उसके लिये अपील करते रहते थे। सचमुच, यह दुःख का विषय है कि उस कोष की पूर्ति आज तक भी नही हुई। शताब्दी-समारोह का वास्तविक उद्देश्य 'सार्वदेशिक-स्थिर-कोष' की स्थापना करना ही था। मालूम होता है, आर्य जनता ने स्वामी जी के उस उद्देश्य को हृदयगम न करके उन द्वारा प्रारम्भ किये गये ऐसे समारोहो को मेले या महा-मेले ही बना लिया है।

शताब्दी-समारोह की विस्तृत रिपोर्ट सार्वदेशिक-सभा की ओर से प्रकाशित हो चुकी है। स्वामी जी के महान व्यक्तित्व की साक्षी-स्वरूप दो-एक घटनाओ का यहॉ उल्लेख करना आवश्यक है। मथुरा सरीखे पौराणिकता के गढ में आर्यो का वह भूतो न भावी समारोह और उस समारोह के अवसर पर आपके नेतृत्व मे कोई सवा लाख आर्य-स्त्री-पुरुषों का निकला हुआ शानदार विराट् जुलूस सचमुच न केवल आर्यसमाज के लिये किन्तु समस्त देश के लिये भी ऐतिहासिक घटनाये हैं। उस समारोह ने सब देश को और उस जुलूस ने सब मथुरा नगरी को हिला दिया था। आर्यसमाज की संगठन-शक्ति की चारो ओर धूम मच गई थी। दो लाख नर-नारियो ने मथुरा के पास केवल सात दिनो के लिये नयी ही 'बिरजानन्द-नगरी' बसा डाली थी। दुर्भाग्यवश शताब्दी की समाप्ति होते न-होते 21 फ़रवरी के सवेरे एक दुर्घटना हो गई। कुछ आर्य-युवको के बचपन ने मथुरा के पुराणमतवादियो को इतना उत्तेजित कर दिया कि शहर मे मार-पीट हो गई। कई आर्य बुरी तरह घायल हुए। स्वामी जी जिस प्रकार सम्वत् 1965 में हरिद्वार मे आर्यो के विरुद्ध मार-पीट होने पर उत्तेजित वायु मण्डल की कुछ भी परवा न कर हर की पैडी

पर अकेले और पैदल ही जा पहुँचे थे, वैसे ही अब भी समाचार मिलते ही शहर में जा पहुँचे। शहरवासियों के प्रतिनिधियों विशेषतः पण्डों से मिल कर परिस्थिति को अधिक बिगड़ने से सम्हाला और उत्तेजना को शान्त किया। उसी दिन आपने शताब्दी-कमेटी के प्रधान की हैसियत से उक्त दुर्घटना के लिये दुःख और दोषी युवकों के आचरण के लिये घृणा प्रगट की। इस पर भी सनातनी समाचार पत्रो के तिल का ताड़ बनाने पर आपने 6 मार्च, 1925 के 'अर्जुन' में फिर दुःख और घृणा प्रगट करते हुए आर्यो को सम्बोधन करके लिखा था—"आर्य सामाजिक-पुरुषों से साधारणतया और आर्यधर्म के प्रचारकों से विशेषतः मेरा अनुरोध है कि 'सहोऽसि सहो मयि धेहि' का पाठमात्र ही न किया करें अपने मन्तव्यों पर दृढ़ रहते और उनका गम्भीरभाव से प्रचार करते हुए भी दूसरे भाइयों के विश्वासों को अनुचित चोट न लगाना यही वैदिक-धर्म की मर्यादा है। मैंने शोक से देखा कि दयानन्द-जन्म-शताब्दी के मेले मे कुछ ऐसे चित्र बेचे और बॉटे गये, जिससे अन्य साम्प्रदायिक भाइयो को दुःख पहुंचा। दो-एक समाचार पत्रों के शताब्दी अंकों मे भी ऐसे चित्र दिखाई दिये, जिन्होंने धर्म के आंदोलन और सदाचार के प्रचार की मर्यादा का उल्लंघन किया। मैं आर्यजनता से अपील करता हूं कि ऐसे चित्रों का बहिष्कार करके उनके प्रचारकों को शिक्षा दें और जो धर्म-प्रचारक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और उसकी रक्षा करने वाले आर्यसमाज को एक संकुचित सम्प्रदाय बनाना चाहते है, उनके प्रयत्नों को सफल न होने दे। आर्य सस्कृति के उद्धार और संसार मे उसके प्रचार का यही समय है। उसके मार्ग में जो भी कण्टक सिद्ध होगा, वह आने वाली आर्य सन्तति का द्वेषी समझा जायगा। आर्यसमाजी भाइयों से अन्त मे मेरी यही प्रार्थना है कि घोर से घोर उत्तेजना होते हुए भी मर्यादा का भंग न करना यही आर्यत्व है और इसी सिद्धान्त पर आचरण करते हुए सारे ससार को आर्य बनाया जा सकेगा।" स्वामी जी के हृदय की विशालता, उदारता और सहिष्णुता के द्योतक ये कितने सुन्दर शब्द है? आर्यसमाज को सम्प्रदाय बनाने की प्रवृत्ति का भी आप ने कितने स्पष्ट शब्दो में विरोध किया है?

इस शताब्दी के बाद फरवरी सन् 1926 में ऋषि दयानन्द की जन्मभूमि टंकारा मे मनाई गई शताब्दी पर भी आप पधारे थे। शताब्दी-समारोहो के प्रवर्त्तक स्वामी श्रद्धानन्द जी के उपकारो को स्मरण करता हुआ आर्यसमाज मथुरा की जन्म-शताब्दी के समारोह को भी सदा याद किया करेगा।

9.10. हिन्दू-महासभा, संगठन और शुद्धि

स्वामी जी के संन्यासकाल के जीवन की अधिकांश घटनायें दलितोद्धार के सूत्र में पिरोई हुई है। संन्यास-जीवन की चहुँमुखी कार्यप्रणाली में तारतम्य एक ही विषय का है और वह विषय है दलितोद्धार का। स्वामी जी जहाँ भी गये वहीं दलितोद्धार का अपना कार्यक्रम साथ लेकर गये। उस के लिये वहाँ यदि अनुकूलता नहीं मिली, तो तुरन्त उलटे पैर लौट भी आये। काग्रेस और साधु-महामण्डल से निराश हो कर स्वामी जी ने हिन्दू-महासभा का द्वार खटखटाया। हिन्दू-समाज की बिखरी हुई अवस्था और उसके लुटते हुए घर को देखकर स्वामी जी को उस को संगठित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पीछे पाठक हिन्दू-गोरक्षा-उपसमिति की ओर से देहली में युवराज के स्वागत के बहिष्कार के लिये किये आंदोलन का वर्णन पढ़ आये हैं। गोरक्षा सरीखे धार्मिक और हिन्दुओं को तुरन्त उत्तेजित कर देने वाले प्रश्न पर भी हिन्दू सरकार के विरुद्ध वैसे एक नहीं हुए थे, जैसे कि गुरुद्वाराओं के प्रश्न पर सिख और ख़िलाफत के प्रश्न पर मुसलमान एक हो गए थे। हिन्दुओं की इस असंगठित और मुर्दा अवस्था से भी स्वामी जी के हृदय में संगठन का भाव पैदा हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वामी जी के दिल मे वे भाव बहुत पुराने थे, जिन से प्रेरित होकर आप सगठन और शुद्धि के काम मे पूरे वेग के साथ एक दम तन्मय हो कर लगे थे। आप का जीवन ऋषि दयानन्द के जीवन का प्रतिबिम्ब था। उन की दीक्षा-शिक्षा की भावना आप में पूरी तरह समाई हुई थी। 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्' के स्वप्न आप सदा देखा करते थे। आप धार्मिक-वृत्ति-प्रधान व्यक्ति थे। आपकी देशभक्ति पर भी धर्म का खोल चढ़ा हुआ था। यह सब आपके जीवन से अलग नहीं हो सकता था। दलितोद्धार के प्रश्न पर कांग्रेस से निराश होने और कांग्रेसी-नेताओं के काग्रेस तक के विधायक-कार्यक्रम की ओर कुछ भी ध्यान न देने पर आपके लिये चुप बैठा रहना सम्भव नहीं था। चुप बैठना

तो आपके स्वभाव में था ही नहीं। कर्म ही आपके लिये जीवन था। अतः देश में चारों ओर राजनीतिक सुस्ती छा जाने पर ऐसे कर्मशील धार्मिक महापुरुष के अन्तःकरण मे धार्मिक-वृत्ति फिर जाग उठी और उसने शुद्धि तथा संगठन के काम को भी धर्म की पवित्र भावना से ही प्रेरित होकर किया। स्वामी जी 'हिन्दू-महासभाइट' की अपेक्षा अधिक 'संगठनी' थे। शुद्धि तथा संगठन को आपने महासभा में जाकर नहीं अपनाया था, किंतु आपने ही शुद्धि तथा संगठन को महासभा के सिर पर जबरन लादने का यत्न किया था और जब देखा कि महासभा के नेता शुद्धि तथा संगठन का काम न करके महासभा को अपनी संकुचित राजनीतिक आकांक्षाओ का साधन-मात्र बनाना चाहते हैं, तब आप उससे भी अलग हो गये। मुसलमान नेताओं की कुछ हरकतों ने भी आपको शुद्धि-संगठन के काम मे अधिक दृढ़ता के साथ लगने के लिये प्रेरित अथवा बाधित किया। सन् 1921 के मालाबार के मोपला-कांड की निन्दा का प्रस्ताव अहमदाबाद कांग्रेस की विषय-नियामक-समिति मे आने पर मौलाना हसरत मोहानी सरीखे राष्ट्रीय मुसलमानो ने भी जब उसका विरोध किया, तब स्वामी जी चमक पडे। 'लिबरेटर' में उस अधिवेशन की कार्यवाही पर लिखते हुए आपने लिखा था—"मुसलमानो की मनोवृत्ति में परिवर्तन पैदा करने वाली वह पहली चेतावनी थी।" ख़िलाफ़त कानफरेंसों में जहाद की घोषणा करने वाली क़ुरान-शरीफ़ की आयतों में भी स्वामी जी को मुसलमानों की आक्रामक मनोवृत्ति की गन्ध आती थी, जिसकी शिकातय आपने कई बार महात्मा जी से भी की थी। मौलाना शौकतअली सरीखे मुस्लिम नेताओ का अहिंसात्मक-असहयोग के आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों से ही अहिंसा मे तनिक-सा भी विश्वास नही था। उस ओर भी स्वामी ने गाधी जी का ध्यान आकर्षित किया था। देहली के सत्याग्रही शहीदों के स्मारक के लिये पटौदी-हाउस के खरीदने का काम जब आपने उठाया था और जब आप उसके लिये देहली में घर-घर, दूकान-दूकान घूम कर चन्दा इकट्ठा कर रहे थे, तब उस काम मे एक पाई की भी सहायता न कर डा. अन्सारी और हकीम साहब सरीखे मुस्लिम नेता भी अंगोरा-फण्ड के लिये एक लाख की अपील कर उसमें लग गये थे। स्वामी जी की प्रार्थना करने पर भी उन्होंने उस काम में हाथ नहीं बटाया था। स्वामी जी की सम्मति थी कि विलायती वस्त्रों को न जला कर उनको गरीबों में बाट देना चाहिये। स्वामी जी ने गाधी जी को ऐसा ही करने के लिये लिखा भी था। पीछे ऐसा बहुत-सा कपड़ा इकट्ठा करके मुसलमानों की ओर से अगोरा भेजा गया। इन छोटी-मोटी घटनाओं ने भी स्वामी जी के हृदय पर चोट की। सहारनपुर, मुलतान, कोहाट आदि स्थानों पर

हिन्दुओं के प्रति हुए अन्याय तथा अत्याचार के प्रतिकूल भी मुसलमान नेताओं ने जैसी चाहिये थी, वैसी आवाज़ नहीं उठाई थी। मौलाना मुहम्मदअली ने कोकोनाडा-कांग्रेस के अध्यक्ष के भाषण में अछूतों को लावारिस माल समझ आधा-आध बॉट लेने की बात कह कर, स्वामी जी के जीवन से भी अधिक प्रिय विषय पर, ऐसी गहरी चोट की थी कि उसके बाद स्वामी जी ने एक क्षण भी न गँवा कर सब समय और शक्ति इस काम में ही लगा देने का संकल्प कर लिया था। महात्मा गांधी ने सन् 1924 में जेल से बाहर आने पर जुहू में रहते हुए स्वामी जी से बात किये बिना और उनका पक्ष जाने बिना ही 'यंग इंडिया' में आर्यसमाज, उसके संस्थापक ऋषि दयानन्द और स्वामी जी के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रगट करते हुए जो लेख लिखे थे, उन पर वैसे तो स्वामी जी बिलकुल चुप ही रहे थे और आर्यसमाज-चावड़ी-बाजार-देहली के साप्ताहिक सत्संग में आपने उन लेखो के प्रतिकूल किये गये आर्यसमाज के आदोलन के सम्बन्ध में आर्यसमाजियो से यहॉ तक कहा था कि 'मुझे आप आज्ञा दे कि मैं महात्मा जी तक यह सन्देश पहुँचा दूँ कि इस सिलसिले में जो अनुचित कलमे आर्यसमाज की ओर से लिखे गये हैं, उनके लिये हमें दुःख है।' फिर आपने यह भी कहा था कि 'मै महात्मा जी के प्रतिवाद मे कुछ नहीं लिखूँगा। मै इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं समझता। उनके लेख का कारण मैं जानता हूँ। केवल इतनी आवश्यकता है कि आर्य लोग अपने आचरणो को उत्तम बना कर दीपक बने, ताकि उनसे दूसरे दीपक जलाये जा सके। यदि आप इस योग्य बन जायेंगे, तो महात्मा जी या किसी अन्य के आक्रमण से आर्यसमाज का काम बन्द नही होगा।' फिर भी गांधी जी के इन लेखो से स्वामी जी के हृदय पर बडी गहरी चोट लगी थी। 'लिबरेटर' मे उन लेखो के सम्बन्ध मे लिखते हुए स्वामी जी उस चोट के दर्द को दबा नहीं सके थे और आपने उन लेखो में काग्रेस तथा महात्मा गाधी के मुस्लिम पक्षपाती होने की भी शिक़ायत की थी। इनमें से ही कुछ घटनाओं ने पहिले तो स्वामी जी को शुद्धि तथा संगठन के काम के लिये प्रेरित किया था और जब आप एक बार उस ओर झुक गये तो वैसी ही अन्य घटनायें आपको उसमें अधिकाधिक दृढ़ करती चली गई। स्वामी जी की अन्तरात्मा में काम करती हुई जिस वृत्ति अथवा भावना का ऊपर चित्र अंकित किया गया है, उसकी कुछ हलकी-सी छाया आपके उस बयान में भी मिलती है, जो आपने सन् 1922 में 14 अगस्त को काग्रेस की सत्याग्रह-जॉच-कमेटी के सामने साक्षी देते हुए दिया था। उसमें आपने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के सम्बन्ध में कहा था—"यद्यपि बाहर तो भेदभाव

का ऐसा कोई चिह्न दीखने में नही आता, परन्तु प्रायः सभी प्रांतों में मैंने यह देखा है कि हिंदू और मुसलमान परस्पर सन्देह करने लग गये है। इसका एक कारण यह जान पड़ता है कि मुसलमान और सिख तो सामाजिक तौर पर खूब संगठित हैं, किंतु हिंदू सामाजिक-दृष्टि से बिखरे हुए है। मेरी सम्मति में इसका उपाय एक ही है कि हिन्दू नेता हिंदू-समाज को सामाजिक दृष्टि से संगठित करें और मुसलमान नेता खिलाफत की अपेक्षा स्वराज्य की प्राप्ति पर अधिक ध्यान दें।" इससे स्पष्ट है कि 1921-22 में कांग्रेस के साथ तन्मय हो जाने पर भी आपके हृदय में वे भाव समाये हुए थे। जिन्होंने आपको संगठन तथा शुद्धि के कार्य के लिये प्रेरित किया था। हिन्दू-मुसलमानों में पैदा होते हुए इस पारस्परिक अविश्वास की ओर आपने महात्मा गांधी का ध्यान भी उन दिनो में ही आकर्षित कर दिया था।

(क) शुद्धि

शुद्धि का काम तो आर्यसमाज के नाते स्वामी जी के लिये बहुत पहिले का था। सन् 1896 ईसवी में आप और आर्यपथिक लेखराम जी द्वारा सैकड़ों रहतियों की शुद्धि लाहौर और जालन्धर आर्यसमाजों में की गई थी। पं. लेखराम जी आर्यसमाज की शुद्धि की वेदी पर ही बलिदान हुए थे। मेघो, ओडों, पहाड़ी प्रदेश के डूमनों की शुद्धि की भी कुछ दिन धूम थी। स्वामी जी के अनुमान से इस शुद्धि-आदोलन से पहिले कोई एक लाख व्यक्ति पजाब में ही आर्यसमाज द्वारा शुद्ध होकर अपनी बिरादरियों अथवा आर्यसमाज मे शामिल हुए होगे। शुद्धि के उस आदोलन का आरम्भ, जिस पर इस प्रकरण में विचार किया जा रहा है, 1 फाल्गुन सम्वत् 1979, 13 फ़रवरी सन् 1923, को हुआ समझना चाहिये, जिस दिन आगरा में हिंदू-शुद्धि-सभा की स्थापना की गई थी। आपकी पंजिका में दर्ज है कि आप उसके प्रधान चुने गये थे और उसी रात्रि को आगरा-आर्यसमाज के उत्सव पर आपका डेढ घण्टा व्याख्यान हुआ था, जिसमें आपने शुद्धि तथा सगठन के लिये हिंदुओं से ज़ोरदार मार्मिक अपील की थी। सम्भवतः शुद्धि के सम्बन्ध में इतना ज़ोरदार और प्रभावशाली यह पहिला ही भाषण था। मलकाना राजपूतों को फिर से अपनी बिरादरी में मिला लेने का आंदोलन राजपूतों में स्वयं ही उठा था। शिक्षित राजपूत गत 25 वर्षो से उनको अपने में मिला लेने के लिये आंदोलन कर रहे थे। सन् 1905 में कुछ को मिलाया भी गया था। उसके बाद भी उसके लिए कुछ यत्न होता रहा। पर, कुछ सन्तोषजनक फल न निकलने से वह यत्न दब गया। फिर

राजपूत-शुद्धि-सभा की स्थापना की गई। लगभग दो हज़ार व्यक्तियों को इस सभा की ओर से बिरादरी में मिलाया गया। सन् 1910 में इस सभा की एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई थी। सहानुभूति न मिलने से वह यत्न भी शांत हो गया। सन् 1922 में फिर इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा। दिसम्बर 1922 में शाहपुराधीश की अध्यक्षता में राजपूत-सभा ने फिर उसके लिये प्रस्ताव स्वीकृत किया। उसके बाद फरवरी मास में उक्त 'हिंदू-शुद्धि-सभा' की स्थापना हुई। योग्य नेता के अभाव को स्वामी जी ने पूरा करके शुद्धि के इस प्रश्न को अखिल-भारतीय-आन्दोलन बना दिया। आगरा की हिन्दू-शुद्धि-सभा के समान देश में प्रायः सर्वत्र शुद्धि-सभाओ का जाल बिछ गया और देहली में अखिल-भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा की स्थापना होकर 'शुद्धि-समाचार' मासिक-पत्र भी निकलने लगा। स्वामी जी के नाम में ही कुछ ऐसा जादू था कि जिस पत्थर पर भी लिख दिया जाता था, वही तैरने लगता था। फिर जिस संस्था और उसके कार्य को आपका ऐसा सहयोग मिला हो, जैसा शुद्धि-सभा को मिला था, उसके तैरने में तो कोई गुंजाइश ही नहीं रह सकती थी। कार्य कुछ ऐसा चल निकला, जैसे कि उसके लिये वर्षो से भूमि तैयार थी। कुछ स्थानों पर शुद्धि के इतने बड़े-बड़े आयोजन और समारोह हुए कि गॉव के गाँव अपनी पुरानी बिरादरियों में आ मिले और बहुत बड़े पैमाने पर किये गये पंचायती भोजों के रूप में भरत-मिलाप का अपूर्व दृश्य जहॉ-तहां दीख पड़ने लगा। हिंदू-शुद्धि-सभा की स्थापना से लेकर जीवन की समाप्ति तक स्वामी जी ही शुद्धि-आंदोलन के आत्मा रहे। कभी प्रधान, कभी उपप्रधान और कभी कार्यकर्ता प्रधान की हैसियत से कार्य करते हुए आप बराबर उसमें प्राण-संचार करते रहे। स्वामी जी का वियोग होने पर सभा लड़खडाती अवस्था में रह गई और शुद्धि-आन्दोलन भी धीमा पड़ गया।

(ख) संगठन का क्रान्तिकारी-कार्यक्रम

संगठन तो स्वामी जी के अपने ही दिमाग की सूझ थी हिन्दू-महासभा-वादी अन्य नेताओं के संगठन से आप का संगठन बिलकुल भिन्न था। आप के संगठन के कार्यक्रम में अखाड़े, कुश्तियाँ आदि बिलकुल गौण चीजे थीं। आप संगठन द्वारा थोथा शारीरिक-बल पैदा करने के लिये अन्य समाजों के समान हिन्दू-समाज मे मांस-भक्षण आदि दुर्व्यसनों को नहीं पैदा करना चाहते थे। आप के संगठन में मुसलमानों के प्रति द्वेष की गन्ध भी नही थी। भारत के महान् राष्ट्र के निर्वाण की दृष्टि से ही आप ने इस महान् आंदोलन को उठाया था। 'अक्रोधेन जयेत्क्रोधं,

असाधुं साधुना जयेत्' की जिस नीति का प्रतिपादन आप ने अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद से किया था, उसी को सामने रख कर आप हिन्दू-समाज के संगठन के लिए उसमें दिव्य गुणों का विकास करना चाहते थे। इसीलिए आप के संगठन में पहला स्थान ब्रह्मचर्य को था। गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी के लिए भी आप की दृष्टि में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक था। हिन्दू-समाज में से जन्म, जाति, मत, सम्प्रदाय, पन्थ, रूप, रंग आदि के सब भेद-भाव को मिटा कर उसको एक रंग में रंग देने के कार्यक्रम को आप के संगठन में दूसरा स्थान था। आप का यह स्पष्ट मत था कि जात-पॉत के हजारों दायरों में बटा हुआ, उन अलग-अलग दायरों में भी चूल्हे-चौके के झंझट में उलझा हुआ और न केवल अपने भाई के स्पर्श को किंतु उसकी दृष्टि, छाया तथा उस के पैर के स्पर्श से भूमि तक को अपवित्र मानने वाला हिंदू-समाज, इन सब कुरीतियों की परम्परा के जैसा का तैसा बने रहने पर, कभी तीन काल मे भी संगठित एव शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये दलितोद्धार तो आप के संगठन के कार्यक्रम-रूपी देह का अन्तरात्मा था। आप की दृष्टि मे स्त्रीवर्ग को पराधीन पददलित और अपमानित रखते हुए भी हिन्दू-समाज का संगठित होकर शक्ति-सम्पन्न होना सम्भव नहीं था। विधवाओं के प्रति हिन्दू-समाज का अन्याय उस पराधीनता, अपमान और दैन्यावस्था की चरम सीमा थी। यह वह पाप था जिस का प्रायश्चित्त, स्वामी जी की सम्मति के अनुसार, हिन्दू-समाज को अपने पुनरुद्धार के लिये शीघ्र से शीघ्र कर डालना आवश्यक था। इसी दृष्टि से आप ने अपने संगठन के कार्यक्रम में बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह को भी प्रधानता दी थी। सारांश यह है कि स्वामी जी संगठन द्वारा हिन्दू-समाज की काया ही पलट देना चाहते थे। संगठन के इस विस्तृत, नवीन और एक दम क्रान्तिकारी कार्यक्रम को लेकर आपने हिन्दू-महासभा की ओर मुख फेरा और उस से यह आशा रखी कि उस द्वारा उस को कुछ बल मिलेगा।

(ग) हिन्दू-महासभा में

स्वामी जी का यह स्वभाव ही था कि जिधर भी झुकते थे, उधर ही आग की लपट की तरह चीरते हुए आगे बढते चले जाते थे। हिन्दू-महासभा में जिस आशा और उत्साह से प्रवेश किया था, उसी का यह परिणाम था कि जैसे कभी गुरुकुल के लिये पंजाब का और दलितोद्धार तथा वैदिक-धर्म के प्रचार के लिये मद्रास का दौरा किया था, ठीक वैसे ही अब पंजाब, संयुक्तप्रांत, बिहार और बंगाल प्रांतों

के 34 स्थानों का दौरा आप ने हिन्दू-महासभा के लिये स्वयं किया और शेष स्थानों पर पं. नेकीराम जी शर्मा और स्वामी रामानन्द जी को भेजा। ता. 11 जुलाई सन् 1923 को देहली से विदा हो कर मुरादाबाद, बरेली, शाहजहांपुर, लखनऊ, बाराबांकी-फ़ैज़ाबाद, अयोध्या, काशी, कुछ दिन और संयुक्त-प्रांत में बिता कर आगरा, इटावा होते हुए ता. 31 को कानपुर पहुॅच कर जुलाई का महीना पूरा किया। ता. 4 अगस्त के बाद गोरखपुर, बस्ती, बलिया, बक्सर, आरा, दानापुर, भागलपुर, झरिया होते हुए कलकत्ता पहुँचे। वहाँ से महासभा के अधिवेशन मे शामिल होने के बाद 25 अगस्त को देहली लौटे। मुरादाबाद, बरेली आदि में आप पर सार्वजनिक भाषण न करने के लिए सरकारी नोटिस भी तामील किए गये। पर, फिर भी जिस उद्देश्य से आप ने यह दौरा किया था, उस में सफलता प्राप्त की। हिन्दुओं को जगाया, हिन्दू-सभाओं की स्थापना की, महासभा के लिए फण्ड जमा किया और ता. 18, 19 व 20 अगस्त को काशी में होने वाले वार्षिक अधिवेशन पर पधारने के लिये प्रतिनिधियों को तैयार किया। इस अधिवेशन की सफलता का अधिकाश श्रेय आप को ही था। महासभा के अधिवेशन में आपने अपना क्रातिन्कारी कार्यक्रम उपस्थित किया। उसके सम्बनध में वहॉ जो कुछ हुआ, उसका वर्णन स्वामी जी के शब्दों में ही करना अच्छा होगा। काशी से लौट कर स्वामी जी ने लिखा था–"मेरी इच्छा थी कि हिन्दू-महासभा को गत अधिवेशन मे और अधिक पूर्ण सफलता प्राप्त हुई होती। यदि अस्पृश्यता का पाप धुल जाता और विधवाओं के पुनर्विवाह की रुकावट एकदम ही उठा दी जाती, तो मुझको अधिक सन्तोष होता। यदि आग्रह किया जाता तो दोनो प्रस्ताव बहुत अधिक सम्मति से अवश्य स्वीकृत हो जाते, परन्तु आदरणीय सभापति पण्डित मालवीय जी की सम्मति को मानते हुए मैंने काशी के ब्राह्मण पण्डितो को एक और अवसर देना उचित समझा, जिससे वे स्वयं जनता का हित करते हुए हिन्दू-जाति का सम्मान प्राप्त कर सके। मुझको यह जान कर बड़ा दुःख और निराशा हुई कि दलित भाइयों को महासभा के मंच पर से भाषण नही करने दिया गया।...हिदू-महासभा ने न केवल मलकाना राजपूतों को किन्तु ब्राह्मण-वैश्य, गुज्जर, जाट आदि सभी को जो रीति-रिवाज तथा संस्कारो मे तो हिदू है, पर नाममात्र के परधर्मी हैं, अपनी-अपनी बिरादरियों में फिर से सम्मिलित करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया है।" इस सबके लिये आपको जो श्रेय दिया जा रहा था, उसके सम्बन्ध से आपने लिखा था–"अकेले मुझ को सब श्रेय देना उन कार्यकर्ताओं की उपेक्षा करना है, जिन्होंने अपना सब समय इस काम में लगाया हुआ है।...फिर भी मुझको

प्रसन्नता यह है कि पुरातन आर्य सभ्यता की सेवा के लिये बलिदान का मुकुट धारण करने के लिये एकमात्र मुझको ही योग्य समझा जा रहा है।" सम्भवतः पिछली पंक्तियाँ ग़ैर-हिंदुओ विशेषकर मुसलमानो की ओर से शुद्धि-संगठन को लेकर अपने प्रतिकूल होने वाले आन्दोलन को दृष्टि में रखते हुए लिखी थीं।

लगभग ढाई वर्ष तक आप हिन्दू-महासभा के साथ रहे। कलकत्ता में सन् 1924 ईस्वी में लाला लाजपतराय जी के सभापतित्व में हुए हिन्दू-महासभा के अधिवेशन में भी आप सम्मिलित हुए। वहाँ महासभा ने शुद्धि तथा दलितोद्धार की ओर एक कदम और उठाया था। पर, स्वामी जी इतने ही से सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। संगठन के क्रान्तिकारी-कार्यक्रम के आन्दोलन के लिये आपने 13 अप्रैल, सन् 1923 से देहली से हिन्दी में प्रो. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति के सम्पादकत्व में दैनिक-'अर्जुन' और उर्दू मे श्री देशबन्धु जी गुप्ता के सम्पादकत्व में दैनिक-'तेज' का संचालन शुरू किया था। स्वामी जी ने अपने साहस और पुरुषार्थ पर दोनों पत्रो को शुरू किया था। आज दोनों दो सस्थाओ के रूप मे देहली में विद्यमान है। पीछे 'अर्जुन' को तो प्रो. इन्द्र जी ने खरीद लिया और 'तेज' के संचालन के लिये एक लिमिटेड कम्पनी बना दी गई थी। मद्रास की दूसरी यात्रा में अंग्रेज़ी-पत्र की आवश्यकता अनुभव होने पर आपने देहली से ही पहली अप्रैल सन् 1926 से साप्ताहिक 'लिबरेटर' निकालना शुरू किया था, जिसका पहिला उद्देश्य था दलितोद्धार, दूसरा हिन्दू-सगठन और तीसरा आत्मिक साधना द्वारा स्वराज्य की स्वतः प्राप्ति। इसके 37 ही अंक निकल पाये थे, किन्तु प्रत्येक अक तीनों उद्देश्यों की सिद्धि के यत्न में आदि से अन्त तक भरा रहता था। 'लिबरेटर' अपने ढंग का एक ही पत्र था, जिसमे साप्ताहिक-स्वाध्याय की अपेक्षा स्थिर-स्वाध्याय की ही सामग्री अधिक रहती थी। 'अर्जुन' और 'तेज' में भी स्वामी जी समय-समय पर विशेष लेख लिखते रहते थे। बहुत-सी छोटी-मोटी पुस्तके और पुस्तिकायें भी आपने प्रकाशित की थी। साहित्य द्वारा आन्दोलन करने मे आपने कोई भी बात उठा न रखी थी। हर एक समस्या पर आप अपनी ही दृष्टि से विचार करते थे। इसलिये आपके लेखो में ऐसी मौलिकता रहती थी, जो पढने वाले के हृदय की गहराई मे सीधा पहुँच कर वहाँ अपना घर बना लेती थी। इन शीर्षकों के आपके लेख असाधारण हलचल पैदा करने वाले थे—"बिरादरी में मिलाने का काम स्वयं हिन्दू बिरादरियों को करना चाहिये", "एक नहीं अनेक सस्थाओ की आवश्यकता है", "दलितोद्धार किस प्रकार हो?"—पॉच लेख "दलितोद्धार के मार्ग मे रुकावटें"—चार लेख और "रचनात्मक हिन्दू-संगठन"—दो लेख। दो-ढाई वर्ष तक आप हिन्दू-महासभा

के उप-सभापति रहे और धन-संग्रह तथा धार्मिक-अधिकारों की रक्षा आदि के लिये बनाई जाने वाली उपसमितियों के भी आप सभासद् निर्वाचित होते रहे। सारांश यह है कि हिन्दू-महासभा में प्रवेश करते ही आपने अपनी कर्तव्यपरायणता से उसमें अपना विशेष स्थान सहज में ही बना लिया था।

(घ) उदारता और सहिष्णुता

हिंदू-महासभा में अपने लिये विशेष स्थान बना लेने पर भी आप उसके साथ अधिक दिन नहीं निभ सके। आपके संगठन के क्रांतिकारी-कार्यक्रम में से कट्टर सनातनी हिंदुओं को आर्यसमाज की 'बू' आने लगी। वैसे आपने इस सम्बन्ध में जिस उदारता तथा सहिष्णुता का परिचय दिया था, वह अद्भुत, आश्चर्यजनक और कुछ अलौकिक ही था। आर्यसमाज के रंग मैं इतने गहरे रँगे हुए स्वामी जी, जो कभी केवल 'आर्य' शब्द के प्रयोग के लिये ही आग्रह किया करते थे, अब निरन्तर 'आर्य-हिंदू' शब्द का प्रयोग करने लगे गये थे, शुद्धि के लिये लम्बे-चौड़े संस्कारो को अनावश्यक बता कर सीधी-सादी और संक्षिप्त विधि से ही काम लेने का आदेश दिया करते थे, पौराणिक लोग जहाँ अपनी गोमूत्र आदि की विधि काम में लाना चाहते थे, वहाँ अपनी वैदिक-विधि के लिये ऐसा कोई दुराग्रह भी नही करते थे और उनके मन को रखते हुए ही काम कर लेने का यत्न करते थे। आपके इस व्यवहार से कट्टर आर्यसमाजी तो असन्तुष्ट थे ही, पर आश्चर्य यह है कि इतनी उदारता दिखाते हुए आप सनातनियों को भी सन्तुष्ट नहीं कर सके। पीछे पंजाब, संयुक्त-प्रांत, बिहार और बगाल की जिस यात्रा का वर्णन किया गया है, उसके सम्बन्ध में श्री शंकराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थ जी तक ने स्वामी जी पर कलकत्ता में एक भाषण में यह आक्षेप किया था कि उस मात्रा में स्वामी जी ने आर्यसमाज का ही प्रचार किया था। मद्रास के सम्बन्ध में भी आप का ऐसा ही आक्षेप था। आपने उस भाषण में कहा था—"सनातनधर्म के नाम से आर्यसमाज का काम होता है। लोगो को शुद्ध करके यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण बनाया जाता है। हमें धोखा देकर ऐसा काम किया जाता है। इस पर हमने श्री मालवीय जी को लिखा, रिमाइण्डर भी दिये, पर कोई जवाब नहीं।" सनातनधर्म के कुछ अग्रणी महानुभावों ने 'हिंदू-शुद्धि-सभा-आगरा' के मुक़ाबले में 'हिंदू-पुनः-संस्कार-सम्मेलन' नाम की संस्था अलग ही खड़ी की थी। उसके खड़ा करने में आर्य-सनातनी की भावना काम कर रही थी। भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज को स्वामी जी ने बड़े ही शांत, युक्ति-युक्त और गम्भीर शब्दो मे उत्तर दिया था। संयुक्त-प्रात

और बिहार आदि के लिये किये गये आक्षेप को निराधार बताते हुए मद्रास के दौरे के लिये लिखा था—"वह दौरा आर्य-सार्वदेशिक-सभा की ओर से किया गया था, सनातनधर्म या सनातन-धर्म-सभा के नाम पर नहीं।" अपनी स्थिति आपने कितने सुन्दर शब्दों में स्पष्ट की थी—"अपने विषय में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। गुरुकुल में रहते मैंने सब विचारों के सभ्य पुरुषों का उदारता के साथ स्वागत किया। तीर्थ जी स्वयं मानते हैं कि गुरुकुल में वह अपनी पूजा करते रहे। मुसलमान भाइयों ने गुरुकुल में अपनी पॉच बख़्ता नमाज़ आनन्द से अदा की। ईसाई पादरियों को भी अपने धर्म के अनुसार उपासना की खुली छुट्टी थी। वह सब हमारे उपासना-मन्दिर में भी आकर सम्मिलित होते थे। मैं जिस सम्प्रदाय के धर्म-मन्दिर में जाता हूँ, उनकी मर्यादा से भी बढ़ कर उन मन्दिरों का मान करता हूँ। पुरानी मुसलमानी मजारों में, जहॉ मुसलमान स्वयं जूता पहिने चले जाते हैं, मैं वहाँ नंगे पैर जाता हूँ। मुसलमान और ईसाई तक जब भौतिक शरीर को गाड़ने को जा रहे हों, तब सवारी खड़ी कर उतर जाता हूँ और इस प्रकार सहदुःखता प्रगट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।" संगठन-शुद्धि के आंदोलन के कारण स्वामी जी को अनुदार और असहिष्णु समझने वालों को ऊपर की पंक्तियॉ कुछ अधिक ध्यान से पढ़नी चाहिये। 'हिंदू-पुनः-संस्कार-सम्मेलन' को लक्ष्य करके ही स्वामी जी ने 'अर्जुन' में 'एक नहीं अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है' शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें आपने स्पष्ट शब्दो में यह भी लिखा था—"यदि माननीय पं. मदनमोहन मालवीय वा श्रीमान् महाराजाधिराज रामेश्वरसिंह दरभगा-नरेश स्वीकार कर लें तो मै एक साधारण सभासद् रह कर उनके अधीन काम करने को तैयार हूँ। इस विषय में पिछले डेढ मास के अन्दर मालवीय जी को तीन तारें और पॉच पत्र भेज चुका हूँ, परन्तु उधर से कोई उत्तर नही मिला।" इसी लेख में आपने यह भी लिखा था—"जब हिंदू-महासभा का नियम-पूर्वक निर्माण हो जायगा, तब यह सारा काम उसके अधीन हो सकता है।" उक्त लेख में जिन पत्रों और तारों की ओर सकेत किया गया है, उनको यहॉ देने की आवश्यकता नहीं। 22 जून सन् 1923 के 'अर्जुन' में भी आपने मालवीय जी से ऐसा ही निवेदन किया था, पर वह भी निरर्थक ही साबित हुआ था। दूसरे एक लेख में आपने सनातनधर्म के स्वामी दयानन्द बी. ए. और पण्डित गिरधर शर्मा आदि से भी प्रार्थना की थी कि वे इस काम को सम्हाल कर आपको उससे छुट्टी दिला दें।

(ङ) हिन्दू-महासभा के साथ मत-भेद

स्वामी जी के ऐसे व्यवहार पर भी यह भेद-भाव बढ़ता चला गया। कुछ सनातनी पण्डितों का यह आग्रह था कि स्वामी जी संगठन के अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम को एकदम ही त्याग दें। पर, वह सम्भव नहीं था। सन् 1925 में रोहतक में हरियाना-प्रांतीय-हिन्दू-कान्फ्रेंस महामना मालवीय जी के सभापतित्व में हुई थी। विषय-नियामक-समिति में एक गौड़-ब्राह्मण पण्डित ने बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का विषय पेश कर दिया। मालवीय जी ने धमकी दी कि यदि उस प्रस्ताव के लिये आग्रह किया गया तो वे अपने सनातनी साथियों सहित कान्फ्रेंस छोड़ कर चले जायेंगे। पण्डित नेकीराम जी और भाई परमानन्द जी का झुकाव भी मालवीय जी की तरफ था। परिस्थिति बिगड़ रही थी कि स्वामी जी ने, विधवा-विवाह के समर्थकों को यह विश्वास दिला कर कि वे स्वयं इस विषय को हिन्दू-महासभा के देहली में होने वाले आगामी वार्षिक अधिवेशन में पेश करेंगे, उस समय उस को वापिस लिखवाया और परिस्थिति को सम्हाला। देहली में भी मालवीय जी ने स्वामी जी से आग्रह किया कि हिन्दू-महासभा की रक्षा के लिये वे उस प्रस्ताव को पेश न करें। अतः विषय-नियामक-समिति में पेश करने के बाद भी स्वामी जी ने उस प्रस्ताव को उठा लिया। परन्तु सुधार-विरोधी ऐसे वातावरण में स्वामी जी का टिका रहना सम्भव नहीं था। केवल नाम के लिये किसी भी संस्था में आप कभी भी नहीं रहे थे। इसलिये ता. 24 जून सन् 1925 को आप ने उस समय के हिन्दू-महासभा के प्रधान लाला लाजपतराय जी की सेवा में त्याग-पत्र लिख भेजा। उस का आशय यह था—"आप, मालवीय जी और आप के मन्त्रियों ने महासभा के कार्यक्रम में से सुधार के जिन विषयों को अलग रखने की घोषणा की थी, अपनी बिहार की यात्रा में मैंने जान-बूझ कर ही उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा था। पर, मैं यह अनुभव करता हूँ कि हिन्दू-महासभा के कार्यक्रम को उदार बनाये बिना आर्य-हिन्दू-समाज की पतन और नाश से रक्षा नहीं की जा सकती। इसलिये हिन्दू-समाज को आवश्यक सुधारों के लिये तैयार करने को पंजाब के दौरे पर मैं अपनी व्यक्तिगत हैसियत से जा रहा हूँ। महासभा के पदाधिकारियो को अपने कारण किसी भी उलझन में न डालने के लिये मैं 16 मई को महासभा की कार्यकारिणी की बैठक में ही उपसभापति तथा कार्यकारिणी की सभासदी से त्यागपत्र दे रहा था। पर, आप लोगों ने मुझ को वैसा करने नहीं दिया। मैं यह देख रहा हूँ कि मैं जिस कार्यक्रम को ले कर वाहर निकल रहा हूँ, उस से सनातनधर्मी

नेता महासभा से बिगड उठेंगे। इसलिये मैं यह त्यागपत्र फिर पेश कर रहा हूँ। मैं वैसे महासभा की सहायता करता ही रहूँगा।" लाला जी ने आप को लिखा—"जब आप अपनी व्यक्तिगत हैसियत से, न कि महासभा की ओर से, सुधार-कार्य में लगेंगे, तब आप को त्यागपत्र देने का आवश्यकता मुझ को तो प्रतीत नहीं होती।" इस पर फिर आपने लिखा—"यदि मैं त्यागपत्र नहीं देता तो मैं अपने प्रति ही सच्चा नहीं रहता। मैं नहीं चाहता कि 'षर्णाश्रमसंघ वालों को, समाज-सुधार के लिये किए जाने वाले मेरे यत्नों को ले कर महासभा के विरुद्ध कुछ कहने का अवसर मिले। इसलिए कार्यकारिणी के अगले अधिवेशन में मेरा त्यागपत्र पेश कर दें।" कार्यकारिणी से यह कह कर त्यागपत्र लौटा दिया गया कि वह स्थानीय हिन्दू-सभा के पास भेजा जाना चाहिए।

(च) हिन्दू-महासभा की साम्प्रदायिकता और त्याग-पत्र

इसी बीच में महासभा की ओर से कौसिलों के लिए उमीदवार खड़े करने न-करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। महासभा के टिकट पर उम्मीदवार खड़ा करने के स्वामी जी सैद्धान्तिक दृष्टि से ही प्रतिकूल थे और महासभा की नियमावली के अनुसार भी वैसा नहीं किया जा सकता था। देहली मे सन् 1926 के मार्च के दूसरे सप्ताह में हिन्दू-सभा-कान्फरेंस की विषय-नियामक-समिति के सामने जब यह विषय पेश हुआ, तब वहाँ और खुले अधिवेशन में भी आपने उसका स्पष्ट विरोध किया। सिन्ध के श्री जयरामदास दौलतराम और अम्बाला के लाला दुनीचन्द जी ने भी आप का साथ दिया। अवध-प्रान्तीय-हिन्दू-कान्फरेंस के खुले अधिवेशन पर भी इस विषय पर आप की मालवीय जी के साथ अच्छी झपट हो गई थी। कुछ समाचार-पत्रो ने उस झपट को महासभा में फूट पैदा होने के रूप मे प्रकाशित किया था। स्वामी जी ने 'लिबरेटर' के 23 सितम्बर सन् 1926 के अक मे महासभा से त्यागपत्र देने के कारणों को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"मैंने मालवीय जी से अत्यन्त आग्रहपूर्ण शब्दो में कहा कि महासभा अपने ध्येय के प्रतिकूल साम्प्रदायिक-राजनीनि की ओर झुक रही है। उन से आग्रह किया कि महासभा की ओर से शुद्धि तथा दलितोद्धार का काम करने के लिये वे अपील करने दे। कार्यकर्ताओ के अभाव का बहाना करके अपील नही करने दी गई। मैंने प्रतिज्ञा की कि यदि महासभा इस काम को अपने हाथ मे ले ले तो भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा तोड कर उस का सब फण्ड महासभा को सौंप दिया जायगा और मैं अपने सहित अपने सब कार्यकर्ताओं को शुद्धि, दलितोद्धार तथा सगठन के आदोलन के लिये

महासभा के सुपुर्द कर दूँगा। मैंने पण्डित जी को विश्वास दिलाया कि इस प्रकार आंदोलन में जान पड जायगी। पर, मुझ को एक ही जवाब मिला कि हिन्दू-महासभा को ऐसे सब झंझटों से अलग रखना चाहिए और ऐसा सब काम महासभा से अलग रह कर ही करना चाहिए। मेरी निराशा का अनुमान सहज में किया जा सकता है। महासभा की वर्किंग-कमेटी ने महासभा के प्रस्ताव की सीमा को लाघ दिया और पंजाब-प्रांत की सभा को अपने उम्मीदवार खड़े करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार जो महासभा अपने निश्चित ध्येय और मार्ग से अलग हो रही थी, उससे त्याग-पत्र देने के सिवा मेरे लिये दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहा था।" आगे आपने लिखा था—"मैं हिंदू-महासभा की प्रतिष्ठा से इस प्रकार लाभ उठाने और एक राजनीतिक दल के विरोधियों को पराजित करने मे उसको साधन बनाने को घातक नीति समझता हूँ। कोरी साम्प्रदायिक नीति से प्रेरित हो कर काम करने वाले दल के मैं विरुद्ध हूँ। यदि मुसलमान तुम्हारा साथ नहीं देते तो इसका दोप उन पर है। पर, इसका यह अर्थ नही कि तुम भी एक विशुद्ध-हिंदू-राजनीतिक-संगठन खड़ा कर लो। मेरे त्याग-पत्र का यह आशय है कि यतः हिंदू-महासभा एक साम्प्रदायिक-राजनीतिक-संस्था बन गई है, इसलिये उसके काम में सहयोग देना मेरे लिये सम्भव नहीं रहा। मैं उसकी अधीनता में समाज-सुधार का ही काम कर सकता था, किंतु अब वह भी सम्भव नहीं; क्योंकि मालवीय जी का यह ख़याल है कि शुद्धि-दलितोद्धार आदि का समाज-सुधार का काम करने पर वह टूट जायगी। अब मैं उन लोगों की ओर से निर्शिचत हो कर अपने ढंग से वैदिक-धर्म के पुनरुत्थान के काम में लगूँगा, जिनकी दृष्टि में उनके साम्प्रदायिक-राजनीतिक-आन्दोलन की अपेक्षा हिंदू-समाज के सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सुधार का काम बिलकुल गौण है।" देहली की स्थानीय हिंदू-सभा के मन्त्री को आपने जो त्याग-पत्र भेजा था, उसमें भी आपने लिखा था—"यतः महासभा ने प्रान्तीय सभाओं को अपनी ओर से कौंसिलों तथा एसेम्बली के लिये उम्मीदवार खड़े करने का अधिकार दे दिया है और कुछ सभाओं ने वैसा करना शुरू भी कर दिया है, इसलिये मैं अन्तरात्मा में यह अनुभव करता हूँ कि मैं हिंदू-महासभा का सभासद् नहीं रह सकता। इससे भी बड़ी बात यह है कि हिंदू-महासभा हिदू-समाज को सर्वनाश से बचाने के लिये अत्यन्त आवश्यक सुधारों को करना अपना कर्तव्य नहीं समझती और वह अपने सभासदों के उस कर्तव्य-पालन के मार्ग में रुकावटे भी डालती है। इसी लिये मैं आपकी सभा से त्याग-पत्र देने के लिये बाधित हूँ।" इसी त्याग-पत्र की एक प्रति आपने महासभा के कार्यालय में भेज दी थी।

(छ) साम्प्रदायिकता के विरोध में

हिन्दू-महासभा से दिये गये त्याग-पत्र और उस के सम्बन्ध में लिखे गये 'लिबरेटर' के उपर्युक्त लेख से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी साम्प्रदायिक व्यक्ति नहीं थे और आप संगठन, शुद्धि अथवा दलितोद्धार द्वारा हिंदू-समाज में साम्प्रदायिकता पैदा नहीं करना चाहते थे। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये यहाँ दो-एक और उद्धरणों को देना भी आवश्यक है। 'अर्जुन' के दूसरे वर्ष में प्रवेश करने पर आप ने 'अर्जुन' द्वारा हिन्दू-समाज को जो सन्देश दिया था, वह स्मरण करने योग्य है और उस से पता लगता है कि आप ने संगठन, शुद्धि तथा दलितोद्धार के काम को किस भावना से उठाया था। उस में आप ने लिखा था–"पाँच हज़ार वर्षों से दीन अवस्था को प्राप्त होते-होते गत एक हज़ार वर्षों में तो गिरते-गिरते यह देश दासता की पराकाष्ठा को पहुँच गया था। उस गुलाम की हालत बडी दर्दनाक है, जो अपनी दासता को अनुभव करता हुआ भी गुलामी की जंज़ीरों में जकड़ा जा रहा हो। यह हालत आर्य-हिन्दू-समाज की मुसलमानों के शासन-काल में थी। परन्तु जो अभागा दास अपनी अवस्था में ऐसा सन्तुष्ट हो जाय कि उसी को जीवन का स्वाभाविक आदर्श समझने लग जाय, उस की अवस्था को ज़ाहिर करने के लिए कोई शब्द ही ढूँढ़े नहीं मिलता। आर्य-हिन्दू-समाज को जब तक लोहे की जंजीरें पहिनाई रहीं, तब तक वह उससे छूटने के लिये हाथ-पैर मारता रहा। मुसलमानों के समय में इसीलिये क्षत्रियों के दल बार-बार दासता की जंज़ीर काटने का प्रयास करते रहे। अंग्रेज़ों ने जहाँ भाई-भाई को लड़ा कर सारा देश क़ाबू कर लिया, वहाँ कुछ काल के अनुभव से ही सन् 1857 ईस्वी के विप्लव के पीछे, महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के रूप में, हिंदियों को सोने की जंज़ीरें पहना दीं साथ ही अपनी शिक्षा-विधि द्वारा ऐसा क्लोरोफ़ार्म सुँघाया कि गुलाम जंज़ीरों को आभूषण समझने लग गये। फिर अपनी हालत मे ऐसे मस्त हुए कि हिलने-जुलने की ज़रूरत ही न समझी। हिन्दियों में से मुसलमानों ने तो फिर भी अपनी हस्ती कायम रखी, परन्तु हिन्दुओं ने अपने अस्तित्व को ही भुला दिया। पचपन वर्ष हुए एक बाल ब्रह्मचारी ने मूर्छित आर्य जाति को जगाने का यत्न किया। कुछ हलचल भी हुई, परन्तु मुट्ठी भर व्यक्तियों के सिवाय बाकी सब खुराटे ही लेते रहे। उसी नशे में चूर हिंदू-समाज की आँखें जब महात्मा गांधी ने खोलीं, तो अपनी विवशता को भूल कर उन्होंने पहिले स्वयं साधन-सम्पन्न बनने के स्थान में अपने मुसलमान भाइयों की रहनुमाई का दावा कर दिया। स्वार्थ इस प्रतिज्ञा की जड़ में था। इस

लिये महात्मा गांधी के जेल जाते ही हिन्दुओ ने मुँह की खाई। तब परमात्मा के अटल नियम ने उनकी आँखें खोलीं, जिसका परिणाम गत सवा वर्ष का धर्म-युद्ध है। वह दिन दूर नहीं है जब आर्य-हिंदू-समाज संघ-शक्ति से सुसज्जित होकर व्यक्ति और समष्टि दोनों को बलवान् बना कर, सारे संसार के अन्य समाजों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ायगा।'' इसी के साथ मुसलमानों के नाम इसी सम्बन्ध में निकाले गए सन्देश को भी पढ़ना चाहिये। वह यह था—''मुसलमान-समाज को मैं सिर्फ़ एक सलाह देना चाहता हूँ। याद रखो—संगठित और शक्ति-सम्पन्न समाज का असंगठित और कमज़ोर समाज पर अत्याचार करना भी वैसा ही पाप है, जैसा कि कमज़ोर और कायर होना पाप है। इस लिये हिंदुओं के संगठन और शक्ति-सम्पन्न होने में विघ्न मत डालो। यदि तुम हिंदू-समाज के अस्तित्व को इस भूमि पर से मिटा सकते, तो मैं कुछ भी नहीं कहता; क्योंकि मनुष्य-समाज का यह दुर्भाग्य है कि इस वसुन्धरा का भोग वीर लोग ही कर सकते हैं। साथ ही तुमको यह भी मालूम होना चाहिये कि जो समाज पाँच हज़ार वर्ष के निरन्तर पतन के बाद भी नष्ट नहीं हुआ उसको भगवान् ने किसी भावी हेतु से ही क़ायम रखा हुआ है। यदि हिंदू-समाज के अस्तित्व को नष्ट नहीं किया जा सकता, तो उसको संगठित तथा दृढ़ होने दो, जिससे वह भारतीय-राष्ट्र के राजनीतिक-अभ्युदय में मुसलमानों के गले का भार न होकर शक्ति का पुंज साबित हो सके।'' इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद इसमें सन्देह के लिये थोडी सी भी गुंजाइश नहीं रहती कि स्वामी जी के संगठन का उद्देश्य बहुत विस्तृत और पवित्र था, साम्प्रदायिकता अथवा मुस्लिम-द्वेष की उसमें गन्ध भी नहीं थी।

स्वामी जी की उदारता और उच्चाशयता की द्योतक कुछ घटनाये भी हैं देहली में सन् 1924 मे बकरीद पर हुए उपद्रव के सम्बन्ध में जब महात्मा जी देहली पधारे थे, तब उनकी यह इच्छा थी कि आपस के सब मामलों के लिये सरकारी अदालतो मे न जाकर उन का निर्णय पंचों द्वारा ही होना चाहिये। स्वामी जी ने हिदुओं को उसके लिये इतना तैयार कर लिया कि उन्होंने अपनी ओर से महात्मा जी को ही एकमात्र पच नियुक्त कर दिया। पर, मुसलमान उस के लिये तैयार नही हुए। स्वामी जी ने 'लिबरेटर' में लिखा था—''इसी समय अमेठी, गुलवर्गा और कोहाट मे भी उपद्रव हुए थे। महात्मा जी से वस्तुस्थिति जान-बूझ कर छिपाई गई। जब महात्मा जी ने मुझको बुलाया, तब मैंने उनको सब घटनायें पढ़कर सुनाई और मौलाना अब्दुल बारी की पुस्तिका में से आर्यसमाजियों के प्रतिकूल मौलानाओं के उद्‌गार और फ़तवे भी पढ़कर सुनाये। तब उन को मालूम

हुआ कि उनसे अनजाने ही हिंदुओं के प्रति कितना अन्याय हुआ था? उसी अन्याय के प्रायश्चित्त के तौर पर उन्होंने 21 दिन का उपवास किया था। उस उपवास के अन्तिम दिनों में स्वर्गीय पं. मोतीलाल जी नेहरू की अध्यक्षता में जो एकता-सम्मेलन हुआ था, उसकी कार्यवाही इतिहास में लिखे जाने योग्य है।" इस एकता-सम्मेलन का निमन्त्रण-पत्र स्वामी जी और हकीम साहेब के नाम से निकाला गया था। उसको सफल बनाने में स्वामी जी ने जिस उदारता का परिचय दिया था, उसको बम्बई के श्रीयुत के. एफ. नरीमन ने सम्मेलन की सफलता का एक बडा कारण बताया था। इसी प्रकार सन् 1923 के सितम्बर मास में देहली के कांग्रेस के विशेष-अधिवेशन के अवसर पर कांग्रेस की ओर से एक विशेष शाति-सभा का आयोजन किया गया था और उसमे आगरा के आस-पास के राजपूत-मलकानों की शुद्धि को लेकर ही विशेष चर्चा हुई थी। मौलाना हसरत सोभानी और श्री पुरुषोत्तदास जी टण्डन का यह प्रस्ताव था कि मलकानों के अपनी बिरादरी में शामिल होने या करने का सब काम उन पर और स्थानीय लोगों पर छोड़ कर बाहर के लोगों को वहाँ से एक दम चले आना चाहिये। स्वामी जी ने स्पष्ट कह दिया था कि यदि मुसलमानों के सब प्रचारक वहाँ से लौट आयेंगे तो मै भी भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा को अपने कार्यकर्त्ता आगरे से लौटा लेने के लिये सलाह दूँगा और यदि सभा ने मेरा निवेदन न माना तो उक्त सभा के प्रधान पद से मै अलग हो जाऊँगा। मौलाना मुहम्मद अली ने उलमाओं के पैरो मे अपनी टोपी रख कर उनसे प्रार्थना की कि वे अपने प्रचारको को वापिस बुला ले, परन्तु वे नही माने और शांति-सभा बिना किसी परिणाम के ही भग हो गई। सम्वत् 1923, 24 और 25 मे बकरीद पर हिदुओ को शांत रखने के लिये स्वामी जी ने जो आंदोलन किया था, उससे भी आपकी उदारता का परिचय मिलता है। आपने देहली के हिदुओं से सन् 1923 मे ईद के दिन सन्देश के रूप मे अपील की थी—"दिल्ली के हिदुओ! तुम्हारा धर्म प्रेम और उदारता की शिक्षा देता है। बकरीद पर इस बात की परीक्षा है कि तुम कहाँ तक धर्म को समझते हो? छोटी-मोटी बातों पर अड़ना कायरता है। तुम्हें चाहिये कि गम्भीर रहो और मुसलमान भाइयों की सुदबुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करो।" ईद के शात बीतने पर आपने लिखा था—"इस आदर्श शांति के लिये मैं दिल्ली के हिदू-मुसलमान दोनों को बधाई देता हूँ। ईश्वर करे राजधानी की यह शीतल वायु सारे देश मे फैल जाय।" सन् 1925 मे भी आपने ईद के अवसर पर देहली निवासियों को सम्बोधन करते हुए लिखा था—"परमात्मा सारे संसार का पिता है। यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास

है तो प्राणीमात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये और मनुष्यमात्र को तो भाई समझना चाहिये। क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिनों तक अपने अमल से दोगे? आज मुसलमान स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा नये कपड़े पहिन कर एक अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं। क्या वह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गई है? यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यौहार पर हिन्दुओं का दिल दुःखाने की कोई बात नहीं करेंगे। मेरे हिन्दू भाइयो! आज तुम्हें भी अपने भ्रातृ-भाव का स्पष्ट प्रमाण देना है। परमात्मा की उपासना में अपने मुसलमान भाइयों को निमग्न देख कर प्रसन्नता से उन को आशीर्वाद दो। यदि तुम्हारी आँखों के आगे से कुर्बानी के लिये गोमाता जाती हो तो क्रोध और द्वेष का लेश भी अपने अन्दर न आने दो, प्रत्युत परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करो कि वह परमपिता उन की बुद्धियों को प्रेरणा करें, जिस से स्वयं गोमाता की रक्षा का भाव उनमें उत्पन्न हो। तुम्हारे भाई भूल से गोबध को स्वर्ग का साधन समझ रहे हैं। उन पर क्रुद्ध होकर और उन से घृणा दिखा कर उन्हें अधिकतर गोघात की ओर प्रवृत्त कर के दूने पाप के भागी न बनो। जितना तुम सहन करोगे और मुसलमान भाइयों को प्रेम का मार्ग दिखाओगे, उतना ही भगवान तुम पर कृपा करेंगे।" जिस हृदय से ऐसे शब्द निकल सकते थे, उस में मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष कहाँ रह सकता था?

सचमुच देश का यह दुर्भाग्य ही था कि स्वामी जी सरीखे उदार, सहिष्णु और सर्वत्यागी महापुरुष के महान् कार्य के अर्थ का अनर्थ किया गया। आप के गम्भीर आशय पर परदा डाल कर जान बूझ कर अनपढ़ और साधारण मुस्लिम जनता को कुछ स्वार्थी नेताओं ने आपके विरुद्ध इतना बरगला दिया कि वे आपके जानी दुश्मन हो गये। धमकियों की चिट्ठियाँ तो स्वामी जी को प्रायः रोजाना ही मिलती रहती थीं। ऐसी अवस्था में भी शुद्धि, संगठन तथा दलितोद्धार के काम में लगे रहना पानी में रह कर मगर से बैर करने के समान ही था। एक बार कुछ भक्त लोगों ने आपके निवास-स्थान पर पहरा भी बिठा दिया था। कुछ खालसा और आर्यसमाजी भाई भी हरदम आपकी सेवा में उपस्थित रहने के लिये तैयार थे। उस समय आपने लिखा था—"परम पिता ही मेरा रक्षक है।...इस प्रकार की सहायता स्वीकार करना मेरे जीवन-भर के सिद्धान्तो के विपरीत है।...आर्य-सन्तान में विश्वास के ऐसे अभाव को देख कर मैं आश्चर्यित होता हूँ। मैं यह भी समझता हूँ कि मेरे शरीर की रक्षा के लिये ऐसे उपाय पर विचार करने में हमारे मुसलमान भाइयों का तिरस्कार है। मैं धमकियों से पूर्ण सन्देशे भेजने वालों को ऐसा पतित

नहीं समझता, जैसा वे स्वयं अपने आप को समझते हैं। जो मुझ से सच्चा प्रेम करते हैं मेरी उन से प्रार्थना है कि वे मुसलमान भाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखायें और मुझे अपने सदा से माने हुए सिद्धान्तों की रक्षा में सहायता दें।"

इतना ही नहीं, आप पर इस काम के लिये सरकार से दो लाख रुपया लेकर हिंदू-मुसलमानों को आपस में लड़ाने का दोषारोप भी किया गया था। एसेम्बली में एक मुसलमान सदस्य ने तो सरकार से यह प्रश्न भी पूछ लिया था कि सरकार ने स्वामी जी को शुद्धि के लिये कितने लाख रुपया दिया है? जनता के हित का दोहरा ध्यान रखने वाली सरकार ने यह सब मामला उलझाये रखने के लिये उस प्रश्न को पूछने की अनुमति ही नहीं दी थी। ऐसा आक्षेप करने वालों और सकरार को भी स्वामी जी ने सचाई सिद्ध करने के लिये खुला चैलेंज दिया था। किसी को भी उस चैलेंज को स्वीकार करने का साहस नहीं हुआ। स्वामी जी निन्दा-स्तुति और जीवन-मृत्यु की कुछ भी परवा न कर अपने 'मिशन' में निरन्तर ऐसे लगे रहे, मानो सिर हथेली पर रख कर ही आपने सार्वजनिक जीवन के इस कार्यक्षेत्र में आगे पैर बढ़ाया था। शुद्धि-संगठन के सम्बन्ध में स्वामी जी से गहरा मतभेद रखने और आपकी उसके लिये निन्दा करने वाले भी आपकी निर्भीकता तथा हिम्मत की तो प्रशसा ही करते हैं।

(ज) दलितोद्धार

दलितोद्धार के सम्बन्ध मे कुछ अलग लिखने की आवश्यकता इस लिये नही कि उसके सम्बन्ध मे आपका काम संन्यास-काल के समस्त जीवन और उस जीवन के समस्त कार्य के साथ ऐसा तन्मय है कि उसको उस सब से अलग नहीं किया जा सकता। असहयोग-आन्दोलन के बाद की सब जीवनी दलितोद्धार की ही जीवनी है। यह भी एक विचित्र ही सयोग है कि महात्मा जी ने हरिजन-आन्दोलन जिस ढग पर उठाया है, प्रायः उसी पर स्वामी जी उसका संचालन करना चाहते थे, किंतु स्वामी जी की वृत्ति कुछ उग्र थी और आप दलित भाइयों के साथ खानपान आदि का सब व्यवहार एकदम ही खोल देने के पक्ष में थे। 'हरिजन' के समान अस्पृश्य कहे जाने वालों के लिये 'दलित' शब्द का प्रयोग स्वामी जी ने ही सब से पहिले किया था। स्वामी जी यह चाहते थे कि यतः यह हिंदू-समस्या है, इसलिये इसको सुलझाने का काम हिंदुओ पर ही छोड़ देना चाहिये। बायकोम-सत्याग्रह में ग़ैर-हिंदुओं के शामिल होने के स्वामी जी प्रतिकूल थे। 'अर्जुन' में 'दलितोद्धार किस प्रकार हो?' शीर्षक से लिखी गई विशेष लेखमाला के पॉचवे लेख के अन्त

में आपने लिखा था—"इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा गांधी अस्पृश्यता को भारतीय-हिन्दू-समाज पर बड़ा भारी धब्बा समझते हैं। उन्होंने देख लिया है कि कांग्रेस में सब की ऐसी समझ नहीं है। इस कलंक के टीके को हिन्दू-समाज के माथे से मिटाना केवल हिन्दुओ का ही कर्तव्य है। तब इसमें क्या गौरव-हानि है कि महात्मा जी कांग्रेस की हार मान कर इस बड़े काम को हिन्दू-समाज पर ही छोड़ दे और अपने ऊँचे व्यक्तित्व की छाया से उसकी सहायता करें?" पर, उस समय ऐसा होना नहीं था। स्वामी जी कांग्रेस में रहते हुए और बाद में भी कांग्रेस और उसके नेताओं का ध्यान इस समस्या की ओर राजनीतिक-दृष्टि से भी बराबर आकर्षित करते रहे थे। हिन्दू-समाज से अछूत जातियों को अलग करके उसको दो टुकड़ों में बाँट देने की सरकार की जिस गूढ़ चाल को महात्मा जी सन् 1931 में दूसरी गोलमेज-सभा में समझ पाये थे, स्वामी जी ने अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के भाष्ण में ईस्वी सन् 1918 में ही उसकी ओर संकेत करते हुए स्पष्ट कहा था कि भारत में अंग्रेजी राज के जहाज का उनको लंगर बताया जा रहा है। सरकार की ऐसी चालों को निरर्थक बनाने के लिये ही देहली में आपने दलितोद्धार-सभा का संगठन किया था। सामाजिक दृष्टि से स्वामी जी भी दलितोद्धार को हिन्दुओ के लिये सदियों के पाप का प्रायश्चित्त ही कहा करते थे। मथुरा-शताब्दी, कानपुर-काग्रेस तथा ऐसे अन्य अवसरों पर हुए दलितोद्धार-सम्मलेनो में दिये गये अपने भाषणो में आर्य-हिन्दू-जाति से आप इस प्रायश्चित्त के लिये सदा अपील किया करते थे। आपने लिखा था—"यदि साढ़े छः करोड़ दलित भाई ईसाई या मुसलमान हो गये और इस प्रकार दलितोद्धार की समस्या हल हुई तो ऐसा होने से हिन्दुओं का प्रायश्चित्त तो नही होता और इसीलिये हिन्दू-समाज स्वराज्य का अधिकारी नहीं होता।" दलितोद्धार के लिये स्वामी जी की बेचैनी का पता उस तार से लगता है, जो अहमदाबाद में जून सन् 1924 में होने वाले आल-इंडिया-काग्रेस-कमेटी के अधिवेशन के अवसर पर आपने महात्मा जी को दिया था। वह तार यह था—"कृपा करके अखिल-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी के प्रांतीय हिन्दू-सभासदों को, जो नौकर रख सकते है, कहा जाय कि वे अपनी व्यक्तिगत सेवाओं के लिये जो नौकर रखें, उनमे एक नौकर अवश्य अछूतों में से ही हो। जो ऐसा न कर सके, वह कांग्रेस में पदाधिकारी न रहे। यदि यह सम्भव न हो तो, अस्पृश्यता के प्रश्न को हिंदू-समाज पर ही छोड़ दिया जाय।" आज महात्मा गांधी अपने जीवन की बाजी लगा कर जिस हरिजन-आन्दोलन को सफल बनाने में लगे हुए हैं, स्वामी जी भी उस दलितोद्धार-आन्दोलन की सफलता का स्वप्न

देखने की इच्छा रखते हुए ही इस संसार से बिदा हुए थे। अमृतसर-कांग्रेस के भाषण में दलितोद्धार के लिये अपील करते हुए उपस्थित देवियों और सज्जन पुरुषों से आपने उस स्वप्न के पूरा होने का आशीर्वाद माँगा था। यदि यह सच है कि महापुरुषों के असिद्ध स्वप्न महापुरुष ही पूरे किया करते हैं, तो यह कहना होगा कि महात्मा गाधी स्वामी जी का असिद्ध स्वप्न ही पूरा करने मे लगे हुए है।

11. आर्यसमाज

हिन्दू-महासभा से निराश हो कर आप ने अपने ही ढंग से और बिलकुल स्वतन्त्र-रूप में शुद्धि-संगठन तथा दलितोद्धार का काम जारी रखा। 'अर्जुन' में 'शुद्धि और संगठन का काम जारी है' शीर्षक से लिखे गये लेख मे आप ने लिखा था—"मलकानों की शुद्धि भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा आगरा के द्वारा जारी है। मैं उस सभा के साथ यह काम नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्वतन्त्रता से। जो भी हिन्दू रस्म-रिवाज़ रखने वाली ईसाई व मुसलमान बिरादरियाँ मिलती हैं उनको बिरादरी में मिलाने का यत्न मैंने नहीं छोड़ा। हाँ, इसका ढोल पीटना बन्द कर दिया है। दलितोद्धार का काम बराबर जारी है। परन्तु उस को भी हिन्दू-महासभा तथा आर्यसमाज के साथ मिलकर नहीं कर रहा हूँ। हिन्दू-महासभा के साथ मिलना इसलिये नही हो सकता कि वे शुद्ध-स्वच्छ दलितों के भी हाथ का अन्न-जल ग्रहण करने के प्रतिकूल हैं और मैं उस में कुछ भी सकोच नहीं करता हूँ। आर्यसमाज की किसी संस्था के साथ इसलिये काम नहीं चला सकता कि वे बिना गुण-कर्म का विचार किये सब को यज्ञोपवीत धारण करा देते है। मै उनको ही यज्ञोपवीत का अधिकारी समझता हूँ जो गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य कहे जा सकते है।" इस तरह स्वतन्त्र रूप में कुछ समय आप ने काम चलाया। शुद्धि के लिये उन्हीं दिनो मे आप ने 'भ्रातृ-मिलाप' शब्द काम में लाना शुरू कर दिया था। सन् 1923 मे हिन्दू-शुद्धि-सभा आगरा की स्थापना के बाद आप ने 'अर्जुन' में 'शुद्धि या प्रायश्चित्त' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी। उस मे आप ने इस शुद्धि को प्रायश्चित्त का नाम दिया था और वैसे भी बिछुड़े भाइयों के इस मिलाप को शुद्धि कहना आप की दृष्टि में अनुचित था। आगरा की शुद्धि-सभा के अलग हो कर इस काम को आपने 'भ्रातृ-मिलाप' के नाम से करना शुरू किया था। 'हिन्दू-संगठन' की जगह भी आप 'आर्य-संगठन' शब्द का प्रयोग करने लगे लग गये थे। आर्य-संगठन शब्द की सार्थकता के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"हिन्दू-सगठन

के स्थान में आर्य-संगठन इसलिये लिखा है कि बिना आर्यसमाज का सगठन हुए हिन्दू-संगठन में कृतकार्यता न होगी। इसलिये पहले आर्यसमाज का ही संगठन करना होगा।"

जुलाई सन् 1925 मे इसी उद्देश्य से आप ने पंजाब का विस्तृत दौरा किया था। उस दौरे का कार्यक्रम समाचार पत्रो में देते हुए आपने लिखा था—"हिन्दू-संगठन के लिये गत ढाई वर्ष काम करते हुए मैंने अनुभव किया है कि यदि आर्य-संस्कृति की रक्षा करना और उसके द्वारा हिन्दू समाज को अधःपतन से बचाना है, तो आर्यसमाज को अपनी त्रुटियाँ दूर करके इस सेवा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। जबतक अपनी बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करके आर्यसमाज की संस्था लगन से इस काम में नहीं लग जाती, तब तक हिन्दू समाज के अन्य सम्प्रदायों में भी जान नहीं पड सकती।" इसलिये इस दौरे में मेरा सब से पहला उद्देश्य यह है कि आर्यसमाज को घरेलू झगडों और तुच्छ विचारों से मुक्त करा के उस मार्ग की ओर निर्देश करूँ, जिस पर चलाने के लिये ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज को जन्म दिया था। दूसरा उद्देश्य यह है कि आर्य संस्कृति से उत्पन्न हुए सम्प्रदायो, सनातनी-जैनी-सिख आदि के साथ, मिल कर काम करने का ढग आर्यसमाजियों के सामने रखूँ और प्रयत्न करूँ कि वे सब गौण भेद-भावों को छोड़कर अपने विस्तृत जाति के सगठन में लग जायँ। तीसरा उद्देश्य यह है कि स्वार्थ-परायण मौलवियों से भडकाये हुए मुसलमानो पर असलियत जाहिर कर दूँ। ता. 8 जलाई से 14 अगस्त तक इन 26 स्थानो मे दौरा करने का कार्यक्रम बनाया गया था—करनाल, अम्बाला, लुधियाना, जालन्धर, होशियारपुर, अमृतसर, लाहौर, लायलपुर, स्यालकोट, गुजरानवाला, गुजरात, रावलपिण्डी, तक्षशिला, झेलम, मीरपुर, सरगोधा, पिण्डदादनखा, खुशाब, मियावाली, डेराइस्माइलखा, डेरागाज़ीखा और मुलतान। इस दौरे मे आप दो-दो, ढाई-ढाई घण्टा तक भाषण देते थे और आर्यसमाज के दोनो ओर के स्थानीय नेताओं से विचार-विमर्श भी करते थे। दौरे से लौटने पर आप ने उसी उद्देश्य से 'अर्जुन' मे 'आर्यसमाज का सगठन' शीर्षक से दो लेख भी लिखे थे। हिन्दू समाज और साथ मे आर्यसमाज का भी यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि स्वामी जी को अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त नही हुई। आर्यसमाज की दुई को दूर करने का स्वामी जी का यह अन्तिम उद्योग था। लाहौर पहुँचने पर दोनो दलो के नेताओ के वहाँ अनुपस्थित होने पर भी आप दोनो ओर के कार्यकर्ताओ से मिले। पर, उन द्वारा वह उलझन सुलझ नही सकती थी। उक्त लेखो मे स्वामी जी ने लिखित रूप मे उन प्रस्तावो को आर्य जनता के सामने

उपस्थित किया था, जिन का प्रतिपादन आप अपने दौरे मे व्याख्यानो मे किया करते थे। आप के प्रस्ताव ये थे–"(1) कालिज-विभाग के सब आर्यसमाज अपनी जनरल सभा में यह ठहराव करे कि आर्यसमाज के सिद्धांतानुसार मास-भक्षण वेद-विरुद्ध है। (2) गुरुकुल-विभाग के आर्यसमाज यह प्रस्ताव स्वीकार करें कि मांस-भक्षण को वेद-विरुद्ध मानते हुए जब एक बार आर्यसमाज के अधिकारी और अन्तरग-सभासद् नियत हो जावे तब फिर उन के निजू आचरणों की पड़ताल करना छोड़ देगे। हॉ, जिन के आचरण ऐसे गिर जायॅ, जिन से समाज को हानि पहॅुचती हो, तो उन के विषय में आर्यसमाज की अन्तरंग-सभा उचित निर्णय कर सकती है। (3) जब उपरोक्त दो विषयों में आर्यसमाजो का बहुमत स्थिर हो जाय, तो दोनो प्रतिनिधि-सभाओं के विशेष अधिवेशन शीघ्र बुलाये जायॅ और उनके अन्दर सब बाते तय हो कर पंजाब के सब आर्यो का एक बड़ा सम्मेलन हो, जिस मे आगे के कार्यक्रम की घोषणा की जाय। (4) दोनो विभाग के सभ्य अपनी अपनी आर्य-विद्या-सभा के नियम बना और उन के द्वारा सभा का निर्माण कर के उसी सम्मेलन के अन्दर उन की घोषणा कर दे। (5) यदि और सब कुछ तय हो कर भी पजाब मे दो आर्य-प्रतिनिधि-सभाये ही बनी रहें, तब प्रादेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा का सम्बन्ध सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के साथ हो जाय और दोनों सभाये प्रतिज्ञा कर लें कि पंजाब से बाहर जिन प्रांतो मे प्रतिनिधि-सभाये नहीं हैं, वहॉ सिवाय सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के कोई अन्य सभा अपने प्रचारक न भेजेगी।" कालेज-विभाग वालो से आपने यह भी कहा था–"कालेज-विभाग के भाइयो से नम्र निवेदन यह है कि उनमे से जो प्रसिद्ध नेता तथा सस्थाओं के कार्यकर्ता है, उनमे से यदि कोई मास खाते है तो लोक-सग्रह और वैदिक-धर्म के हित की दृष्टि से इसे छोड़ दे।"

सनातनधर्मावलम्बियो के सम्बन्ध मे आर्यसमाजो से आप का निवेदन यह था कि उन को चिडाने और भड़काने की कार्य-शैली तुरन्त बद कर दी जाय। आप ने लिखा था–"एक वात याद रक्खो। यदि तुम्हे अपने मन्तव्य पर पूर्ण श्रद्धा है तो अन्य मतावलम्बियों को अपने मन्तव्य पर सच्ची श्रद्धा है, यह मानकर ही यदि आत्मिक-सुधार का कार्य आरम्भ करोगे, तभी तुहारा प्रयत्न सफल होगा। फिर मनुष्य का अपने सेव्य उपास्य स्वामी के साथ जो सम्बन्ध है, उसे ठेस लगाने का तुम्हें क्या अधिकार है? यदि तुम सच्चे ईश्वरोपासक हो तो अपनी उपासना का ऐसा चमत्कार दिखाओ कि अविद्या-जाल से निकल कर आप से आप लोग वैदिक धर्म के अनुयायी बनते जायॅ।"

मुसलमानों के लिये आर्यसमाजियो से आपने कहा था—"कादियान और लाहौर दोनों स्थानों के अहमदियो के साथ मुनाजिरा (शास्त्रार्थ) बन्द कर दिया जाय। मैं तो शास्त्रार्थो के, चाहे किसी हिन्दू वा अहिन्दू सम्प्रदाय के साथ हो, 16 वर्षो से विरुद्ध हूँ। हॉ, एक बार सन् 1923 ई. के दौरे मे मौलवियों के अनुचित व्यवहार के मर्दन के विचार से मैने खुले मुनाज़रे का चेलैज मुसलमानो के सब फ़िरकों को दिया था। परन्तु दिल्ली स्पेशल कांग्रेस पर मुसलिम नेताओं की दर्खास्त पर मैंने उस मुनाज़रे को भी बन्द कर दिया था। मैं उसे भी अपनी भूल स्वीकार करता हूँ। यदि अहमदी शास्त्रार्थ का चेलैज दें, तो उन का उत्तर शुद्धि और दलितोद्धार के ठोस काम से दिया जाय। वह भी ढोल पीट कर नहीं, प्रत्युत विनय और शील के साथ।"

आर्यसमाज के नेताओं ने तो आप से मिलने का अवसर ही टाल दिया था, किंतु सनातन-धर्म-सभा के नेताओं ने मिलने से ही स्पष्ट इनकार कर दिया था। इसलिये दौरे का और उन लेखो के लिखने का उद्देश्य पूरा नही हुआ। फिर भी ऊपर के उद्धरणों से स्वामीजी की उदारता तथा सहिष्णुता का पता लग जाता है, साथ मे यह भी मालूम हो जाता है कि आर्यसमाज को स्वामी जी किस ओर ले जाना और उसकी कार्यशैली को किस ढांचे मे ढालना चाहते थे। इसी उद्देश्य से रचनात्मक-हिंदू-सगठन के शीर्षक से आपने 'अर्जुन' में दो लेख और लिखे थे। पहिले लेख में हिंदू-महासभा से शुद्धि का काम आर्यसमाज पर ही छोड देने के लिये वैसे ही अपील की थी, जैसे कभी महात्मा जी से कांग्रेस की हार मान पर दलितोद्धार का काम हिदू-समाज पर ही छोड़ देने की प्रार्थना की थी। आपने लिखा था—"इस काम के लिये आर्यसमाज ही तैयार मालूम होता है। तब क्यो न सारा हिदू-समाज यह काम आर्यसमाज के ही सुपुर्द कर दे और यदि आप खुल्लमखुल्ला इस काम में शरीक न हो सके तो आर्यसमाज के काम मे कोई रुकावट खडी न करे।" दूसरे लेख मे आर्यसमाज को शुद्ध हुए लोगो के साथ निःसकोच होकर रोटी-बेटी-व्यवहार करने और दलितो को अपने मे दूध-पानी की तरह एक कर लेने की अपील की थी। इस अवसर पर आर्यसमाजियो के नाम की गई अपील प्रत्येक आर्यसमाजी को अपने हृदय पर अकित कर लेनी चाहिये। वह अपील यह थी—"आर्यसमाज के माने हुए वैदिक सिद्धांत ऐसे व्यापक और स्वतः सिद्ध है कि उनका आचरण मे लाना ही उनका प्रचार है। फिर जब स्वयं आचरण करने वाले प्रचारक अपने सिद्धातो की सचाई प्रिय भाषण द्वारा सर्व साधारण के सामने रखेगे तो अनृत के खण्डन की क्या आवश्यकता रह जायगी? जिन्हें वैदिक सिद्धातो की शक्ति पर विश्वास है, उन्हे

खण्डन की शरण लेने की ज़रूरत ही नहीं रहती। जब सत्य का सूर्य उदय होगा, तब अनृतरूपी रात्रि का अन्धकार स्वयं दूर हो जायगा। मैं यह सामयिक नीति की ही सम्मति नहीं दे रहा। मैं सदा अवलम्बन करने योग्य मार्ग की ओर आर्य प्रचारकों को निर्देश कर रहा हूँ। जिनके कल्याण के लिये तुम इस समय प्रयत्न करना चाहते हो, यदि वे ही ऐसे भड़क जायें कि तुहारी बात सुनना भी न चाहें तो अपनी सुधार की स्कीम, जो वास्तव में आर्य जाति के संगठन के लिये जरूरी है, किसके आगे रक्खोगे?" कितनी सुन्दर अपील है। इससे अधिक सहिष्णुता तथा उदारता और क्या हो सकती है? स्वामी जी प्रचार से सदा ही आचार को ऊँचा दर्जा दिया करते थे।

7 नवम्बर सन् 1925 को आपने 'आर्यसमाज में मिलाप' शीर्षक से फिर एक लेख लिखा था। उसमें अपने यत्न के असफल होने के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"मेरा लेख बहरे कानो पर पडा।...अब स्थिति यह है कि दोनों दल मिलना नहीं चाहते। कोई तीसरा प्रयत्न उन्हें नहीं मिला सकता। दोनो में सिद्धान्त-भेद भी है। तब उसी समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब दोनों दलो के नेताओं के अन्दर आर्य जनता के लिये दया का भाव उत्पन्न हो।" उसी लेख में फिर आपने लिखा था—"मेरा प्रयत्न समाप्त हो गया, अब इस विषय मे दखल नहीं दूँगा। कहीं-कहीं गद्दीनशीनों की ओर से इस लिये भ्रममूलक अपवाद फैलाये जा रहे थे, क्योंकि वे समझ बैठे थे कि मै उनके इन्द्रासन को छीनने के लिये यह सब प्रयत्न कर रहा हूँ। यह उनकी भूल है। वह कौन-सा पद है, जिसे मैने अन्य उत्सुक कार्यकर्त्ताओं की खातिर स्वयं नहीं त्याग दिया? यह ठीक है कि यदि मेरी प्रार्थना पर एकता हो जाती, तो कुछ यश मुझे भी मिल जाता; परन्तु यदि महात्मा हंसराज जी अपने भाई श्री रामदेव जी से मिल कर समझौता कर लें, तो जो यश उन्हे मिले, उसे देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।" इन शब्दो के भावों को खोलने की आवश्यकता नही, क्योकि इस जीवनी की अपेक्षा उनका सम्बन्ध आर्यसमाज के इतिहास के साथ अधिक है। साराश यह है कि दोनो ओर के नेता ही स्वामी जी के इस अन्तिम यत्न के सफल न होने देने के दोषी थे। इस यत्न के विफल होने पर स्वामी जी को बहुत दुःख हुआ आपने यह सोच कर अपना समाधान किया कि "कर्मफल के भोग से किसको कौन बचा सकता है?" लेख के अन्त में आपने दोनो दलों से यह अन्तिम प्रार्थना फिर की थी कि "क्या ही अच्छा हो, यदि पंजाब से बाहर मत-भेद और विद्वेषाग्नि की चिनगारियाँ न पहुँचाई जावे।"

अमेरिका के तत्त्वदर्शी डेविड ने आर्यसमाज को भूमण्डल की समस्त सामाजिक,

धार्मिक एवं राजनीतिक गन्दगी को भस्मसात् करने वाली अग्नि से उपमा दी थी और उसके सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी की थी कि उसको बुझाने का जितना यत्न किया जायगा, उतनी ही तेजी के साथ वह प्रज्वलित होती जायगी, निस्सन्देह, बाहर के यत्न उस अग्नि को धीमा नही कर सके, किन्तु आपस की दुई ने उसको निस्तेज-सा किया हुआ है। स्वामी जी ने इस दुई को मिटाने का कई बार यत्न किया था और यह अन्तिम यत्न था। आप यह समझते थे कि इस दुई के रहते हुए आर्यसमाज तेजस्वी, संगठित और शक्तिसम्पन्न नही हो सकता। आप यह भी अनुभव कर रहे थे कि आर्यसमाज साम्प्रदायिक-संस्था बन रहा है, तभी तो आपने मथुरा-शताब्दी के बाद उस अपील में, जो पीछे दी जा चुकी है, यह कहा था कि उनसे आर्यसमाज की रक्षा करनी चाहिये, जो उसको साम्प्रदायिक बनाने में लगे हुए हैं। आर्यसमाज को फिर से उस मार्ग की ओर जिसके लिये ऋषि दयानन्द ने उसको जन्म दिया था, निर्देश करने की आवश्यकता स्वामी जी को इसी लिये अनुभव हुई थी कि आर्यसमाज उस मार्ग का त्याग कर साम्प्रदायिकता की ओर झुक रहा था। कांग्रेस के बाद हिन्दू-महासभा से भी निराश होकर आर्यसमाज की ओर आये हुए आर्य-सन्यासी को अपने द्वार से निराश लौटाने का ही फल आर्यसमाज इस समय तक भोग रहा है। आर्यसमाज के व्यापक कार्यक्रम के एक अंग को लेकर, जिसके द्वारा स्वामी जी उसमें नया जीवन, नयी स्फूर्ति और नयी जागृति पैदा करने आये थे, महात्मा गांधी ने देश मे नया सगठन, नया जीवन और नया आन्दोलन खड़ा कर दिया है; जब कि आर्यसमाज जीवन की खोज मे इधर-उधर भटक रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यसमाज के सिद्धान्त, उन सिद्धान्तो की सचाई और उस सचाई का रूप इतना व्यापक, पवित्र और ऊँचा है कि इस सम्बन्ध मे दूसरा कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकता। परन्तु, साथ ही यह भी निर्विवाद है कि सिद्धान्त और उनकी सचाई स्वतः निर्जीव हैं। केवल प्रचार द्वारा नहीं, किंतु आचार द्वारा ही उनमे प्राण-प्रतिष्ठा की जा सकती है। ऋषि दयानन्द से पहले भी वेद थे, उनके सिद्धान्त भी थे और उनकी सचाई भी थी, परन्तु उन सब को लोग भूले हुए थे। ऋषि ने अपने आचरण द्वारा उनमे प्राण-प्रतिष्ठा करने के बाद ही प्रचार का काम हाथ में लिया था। सन् 1824 के कुम्भ पर आचार में कुछ कमी अनुभव होते ही ऋषि ने फिर पहाड़ और जगलों मे तपस्या करने का मार्ग स्वीकार किया था। स्वामी जी भी इसी प्रकार आर्यसमाज को फिर से तपस्या के मार्ग की ओर ले जाना चाहते थे। पर, आर्यसमाज को अभी अपने कर्मो का फल भोगना बाकी था। देखे, कर्मफल भोगने की इस योनि से आर्यसमाज का कब उद्धार होता है?

12. अन्तिम दिन

शुद्धि-संगठन के आंदोलन को लेकर आम जनता को स्वामी जी के विरुद्ध भडकाने वालों को कराची की असग़री बेगम नाम की मुसलमान महिला की शुद्धि और मुक़दमे से अच्छा अवसर हाथ आया। साम्प्रदायिक समाचार-पत्रों में मुकदमे की अति रंजित रिपोर्टे छपने लगी। आर्यसमाजियो पर औरतो और बच्चों को भगाने का दोष लगाने वालों को तो इस से एक ऐसा प्रमाण हाथ आ गया कि मुकदमे का फ़ैसला होने तक उन्होंने भी अपने दिल का गुबार निकालने में कोई कसर बाकी न रखी। असग़री बेगम कराची से अपने दो बच्चो और भतीजे के साथ देहली आर्यसमाज में आई थी। वहाँ उस ने हिन्दू धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रगट की। उस की इच्छा के अनुसार उस का सस्कार किया गया और 'शान्तिदेवी' नाम स्वीकार कर उसने स्थानीय बनिता-आश्रम मे रहते हुए हिन्दी, सस्कृत आदि पढ़ना शुरू किया। कोई तीन मास बाद उस के पिता मौलवी ताज मुहम्मद खां उस को खोजते हुए देहली आये। कुछ दिन बाद उसके पति अब्दुल हलीम भी आ गये। उन दोनों ने शातिदेवी से मिलकर फिर से इस्लाम धर्म स्वीकार कर वापिस चलने के लिये आग्रह किया। पर, उस ने ऐसा करना मंजूर न किया। इस प्रकार रुष्ट हो स्थानीय इस्लामी अजुमनो से भडकाये जाकर उस के पति ने शान्तिदेवी, स्वामी जी, डा. सुखदेव, प्रो इन्द्र, श्री देशबन्धु गुप्त, लाला गणपतराय और कराची आर्यसमाज के मन्त्री पर मुकदमा दायर करा दिया। शान्तिदेवी पर बच्चों को भगाने और शेप सब पर उस को सहायता करने का आरोप लगाया गया था। मुकदमा खूब चला। लाहौर से बैरिस्टर बुलाये गये। स्थानीय अजुमनो ने उस को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। जून से दिसम्बर तक मुक़दमा चला। आखिर ता. 4 दिसम्बर सन् 1926 को सब अभियुक्त मुकदमे से बरी कर दिये गये। जाहिल मुसलमानों को स्वामी जी के प्रति इतना अधिक भडक दिया गया कि उन के इस प्रकार बेदाग़ छूट जाने पर भी उन में सुलगी हुई असन्तोष

की आग और जोरों से भडक उठी। स्वामी जी को खून करने की धमकियों के और भी गुमनाम-पत्र आने लगे। हापुड, मेरठ, देहली आदि मे इस सम्बन्ध में कुछ पैम्फलेट भी निकाले गये। ख़्वाजा हसन निजामी ने अपने पत्र 'दरवेश' मे भी इसी प्रकार के कुछ इशारे किये थे और कुछ नजमें भी शाया की थीं। स्वामी जी उन सब को अपने स्वभावानुसार उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे।

नवम्बर मास मे अपने प्रिय गुरुकुल-कुरुक्षेत्र मे, जो उन का सैनीटोरियम था, जाकर आप कुछ विश्राम करना चाहते थे और उस के बाद गोहाटी-कांग्रेस जाने का विचार था। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता प. सोमदत्त जी विद्यालकार को सब व्यवस्था करने के लिये पत्र भी लिख दिया था। पर, बनारस से श्री घनश्यामदास जी बिडला के कई तार आने पर वहाँ जाने के लिये आप को बाधित होना पडा। वृद्ध और थका हुआ शरीर पहिले ही रोगों का घर बना हुआ था। बनारस में कई दिनो तक देहात की गर्द और सर्दी मे मोटर का सफ़र करना पडा; दिन मे कई-कई जगह बोलना पडा; गले और फेफड़े को खांसी तथा कफ ने धर दबाया। बीमार हो कर बनारस से लौटे। लौट कर फिर ता. 8 दिसम्बर सन् 1926 को कुरुक्षेत्र जाने का निश्चय किया। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता ने आकर घेर लिया और अपने यहाँ चलने को विवश किया। सवेरे ही मोटर पर वहाँ के लिये चल दिये। सरदी मे बड़े सवेरे, झक्कड़ की तरह चलती हुई हवा में, 12 मील का सफर तय करने के बाद गुरुकुल पहुँचते ही तबीयत बिगड गई। दुपहर के बाद उलटियाँ आने लगी। बुखार मे ही शाम को देहली लौट आये। डाक्टर सुखदेव जी ने परीक्षा की तो मालूम हुआ 'ब्राको निमोनिया' का आक्रमण था। दूसरे दिन से डाक्टर अन्सारी का इलाज शुरू हुआ। डाक्टर अन्सारी पर स्वामी जी को बडा ही अद्भुत विश्वास और श्रद्धा थी। आधी बीमारी उन के दर्शन से ही दूर हो जाती थी। डाक्टर अन्सारी को चार दिन के लिये रामपुर जाना पड़ा। पीछे बीमारी बहुत बिगड गई। पर, डाक्टर साहब ने लौटते ही सम्हाल लिया। दो दिन मे ही ज्वर उतर गया। डाक्टरो ने भयकर अवस्था के टल जाने और कुछ ही रोज मे नीरोग हो जाने की घोषणा कर दी। चिन्तित जनता को इस समाचार से कुछ शांति और समाधान मिला। पर, स्वामी जी के हृदय में अद्भुत परिवर्तन दिखाई देने लगा। ज्वर उतरते ही बडे सवेरे आप ने वसीयत लिखने तथा बैंक में रखे हुए सार्वजनिक-धन और सब काम की सद्व्यवस्था करने के लिये कुछ कार्यकर्ताओ को बुलाया। लोगो ने टालना चाहा तो स्वामी जी ने कहा—"अन्दर से यह आवाज नही उठती कि मै उठ खडा होऊँगा। वसीयत लिख

लो तो अच्छा है।" लोगों ने बात दुपहर पर टाल ही दी। दुपहर को फिर आप ने प्रोफसर इन्द्र जी को बैक मे पड़े हुए रुपये के लिये निर्देश देते हुए कहा—"इस शरीर का कुछ ठिकाना नहीं। तुम एक काम जरूर करना। मेरे कमरे में आर्यसमाज के इतिहास की सामग्री पड़ी है, उसे सम्हाल लेना और समय निकाल कर इतिहास जरूर लिख डालना। इतिहास के लिखने में मुझे माफ़ नहीं करना। मैने बड़ी-बडी भूलें की हैं। तुम्हें तो मालूम है कि मैं क्या करना चाहता था और किधर पड़ गया?" इतना कहते-कहते स्वामी जी का दिल भर आया और आप ने ऑखे बन्द कर लीं।

15-16 वर्ष गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की चिकित्सा करते हुए रोटी देने का लालच दिखा कर रोगी में उठ बैठने की हिम्मत पैदा करने का नुसखा डा. सुखदेव जी ने गुरुकुल मे ही ईज़ाद किया था। डाक्टर अपने बड़े से बडे बीमार को भी बालक ही समझता है। इसी भावना से एक दिन डा. सुखदेव जी ने अपने सहज-स्वभाव मे हॅसते हुए कहा—"स्वामी जी, अब आप अच्छे हो रहे है। बस, दो दिन में आपको रोटी दे दूँगा और आप बैठने लगेंगे।" स्वामी जी ने कहा—"आप लोग तो ऐसा ही कहते हैं। पर, मै अनुभव कर रहा हूॅ कि मेरा यह शरीर सेवा के योग्य नही रहा। इस रोगी देह से अब देश कर क्या कल्याण होगा? अब तो एक ही इच्छा है कि दूसरे जन्म मे नये देह से इस जीवन का काम पूरा करूँ।"

21 दिसम्बर को व्याख्यान-वाचस्पति दीनदयालु जी आये और आपसे बोले—"स्वामी जी, मुझ से मालवीय जी एक वर्ष बडे है और आप उनसे एक वर्ष बड़े हैं। अभी हम लोगो को बहुत-सा काम करना है। आप क्यो इतनी जल्दी मोक्ष की तैयारी करने लगे थे? अब तो आप राजी हो जाओगे।" स्वामी जी का एक ही उत्तर था—"इस कलियुग मे मोक्ष की इच्छा नहीं। मै तो चोला बदल दूसरा शरीर धारण करना चाहता हूॅ। अब यह शरीर सेवा के योग्य नही रहा। इच्छा है फिर भारतवर्ष मे ही उत्पन्न हो कर इसकी सेवा करूँ।" 23 दिसम्बर को देहावसान के कुछ ही समय पहिले शुद्धि-सभा के मन्त्री स्वामी चिदानन्द, शुद्धि-सभा के प्रधान सर राजा रामपालसिह का स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे समाचार मालूम करने का तार लेकर आये। स्वामी जी ने जो उत्तर लिखवाया, उसकी अन्तिम पंक्तियों का आशय यह था—"अब तो यही इच्छा है कि दूसरा शरीर धारण कर शुद्धि के अधूरे काम को पूरा करूँ।"

डाक्टर, सेवक तथा भक्त लोग इन ऑखो से केवल बाहर की अवस्था देख रहे थे, पर तपस्वी अन्तरात्मा की अवस्था देख रहा था और देख रहा था उस

ओर, जिधर से उसको अन्तिम दिन का बुलावा आ रहा था। उसकी जिन बातों में छोटी बुद्धि वाले सांसारिक लोगों को निराशावाद जान पड़ता था, उनमें वह निश्चित और सत्य भविष्य की ओर संकेत कर रहा था। कहते हैं, मृत्यु बिना बुलाये आती है; परन्तु दूरदृष्टि वाले संन्यासी का अन्तरात्मा, बीमारी से मुक्ति-लाभ करने के बाद भी, मालूम होता है, उसको स्वयं ही बुला रहा था और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को बदल कर नये वस्त्र पहनने की तैयारी कर रहा था।

13. अमरपद की प्राप्ति

प्रोफेसर इन्द्र जी प्रतिदिन की भाँति तारीख 23 दिसम्बर सन् 1926, 4 पौष सम्वत् 1983, की दुपहर को स्वामी जी के दर्शनो के लिये गये। कमरे सब खुले पड़े थे और भीतर सब गाढ़ी नींद सोये हुए थे। कई दिन-रात की सेवा से थके हुए स्वामी जी के मन्त्री श्री धर्मपाल जी विद्यालंकार पास के कमरे में और सेवक धर्मसिंह स्वामी जी की चारपाई के पास दरी पर सोये हुए थे। सोते से किसी को जगाना उचित न समझ शाम को दर्शन करने की इच्छा से आप लौट आये। ईसाई से आर्यसमाजी बने हुए एक लडके को ऊपर भेज दिया, जिस से स्थान अरक्षित न रहे। लगभग ढाई बजे कुछ सज्जन आ बैठे : जिन में डा. सुखदेव जी, कन्या गुरुकुल की आचार्य विद्यावती जी, भक्त जमनादास जी इत्यादि भी थे। पौने चार बजे स्वामी जी ने सब को विदा किया। सेवक धर्मसिंह ने कमोड ला दिया और स्वामी जी नित्य कर्मो से निवृत्त हो मसनद के सहारे सावधान होकर ऐसे बैठ गये, मानो अमृत पीने के लिये तैयार हो कर ही बैठे थे।

कमोड उठा कर बाहर रखा ही था कि सीढियों में एक युवक दिखाई दिया। डाक्टर का आदेश था कि अधिक लोग स्वामी जी के पास न आयें। आप को पूरा आराम करने दिया जाय। सेवक के रोकने पर भी उस ने दर्शन करने का आग्रह किया। स्वामी जी ने आवाज सुनी और कहा–"कौन है, अन्दर आने दो।" अन्तिम दिन का सन्देश लेकर जिस के आने की इतने दिनो से प्रतीक्षा कर रहे थे, उस को सीढियों के ऊपर, घर के द्वार तक, आ जाने के बाद खाली कैसे लौटाया जा सकता था? अन्दर आकर उस ने स्वामी जी से कहा–"स्वाम जी, मैं आप से इस्लाम के मुतल्लिक कुछ गुफ़्तगू करना चाहता हूँ" स्वामी जी ने उत्तर दिया–"भाई, मैं बीमार हूँ। तुम्हारी दुआ से राज़ी हो जाऊँगा तो बातचीत करूँगा।" पानी माँगने पर स्वामी जी के आदेश से सेवक ने उस को पानी पिला दिया।

पानी पीकर भीतर आते ही उस हत्यारे ने मसनद के सहारे बैठे हुए स्वामी

जी पर पिस्तौल दाग़ दी। ऑख की इस झपक में दो फ़ायर हो गये। लपक कर सेवक ने हत्यारे को पीछे से पकड़ा, इतने मे उसने तीसरा फ़ायरा भी कर दिया। धर्मसिंह ने अपनी जान की ममता छोड़ सामने होकर उसका सामना किया, तो उस पर भी गोली दाग़ दी गई। रान पर गोली खाकर बेचारा धर्मसिंह जमीन पर लोट गया। हत्यारा भगाने की चेष्टा में ही था कि धर्मपाल विद्यालंकार ने आकर उसको दबा लिया। एक हाथ रिवाल्वर वाले हाथ पर और दूसरा उस पर रखे हुए उसको आध घण्टा दबाये रखा।

लुढकते-पुढ़कते धर्मसिह ने मकान के छज्जे पर पहुँच कर शोर किया तो लोग दौडे हुए चले आये। बिजली की तरह शहर में बात फैल गई। चारों ओर मातम छा गया। जिसने सुना वही सन्न रह गया। अच्छा होने का समाचार सुनते-सुनते सहसा वैसे अवसान का समाचार सुनने के लिये कोई तैयार न था। फिर देहली की हिन्दू आबादी के ठीक बीच नया-बाजार में वैसी दुर्घटना का घटना विश्वास से कुछ परे की चीज था। फिर भी लोग दौड़े चले आये। अन्तिम दर्शनों की लालसा ने लोगों को विह्वल कर दिया। नया-बाज़ार में जनता की बाढ़ आ गई। बड़ी रात तक वहॉ वैसा ही दृश्य बना रहा। देहली की सड़को, बाज़ारो, गलियो, मुहल्लो, दुकानों और घरों मे—सब जगह और सब के मुँह पर एक ही चर्चा थी। वह दुर्घटना क्या थी, देहली पर कल्पनातीत भयंकर वज्रपात था। यह (23 दिसम्बर सन् 1926—8 पौष सम्वत् 1983—गुरुवार) वह दिन था, जिस दिन सूर्य-भगवान् ने दक्षिण की ओर से उत्तर को प्रस्थान किया था और कोई पॉच हजार वर्ष पहिले महाभारत के भीष्म पितामह ने शर-शय्या पर पडे हुए स्वेच्छा से प्राणो का विसर्जन किया था और अब देहली के भीष्म पितामह, जनता के हृदय-सम्राट् स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने भारत की प्राचीन आर्यसस्कृति के कुरुक्षेत्र मे छाती पर गोली खाकर अपने प्राणो का विसर्जन किया था।

डा. चिम्मनलाल किक्कानी, डा. अन्सारी और डा. अब्दुर्रहमान आदि ने परीक्षा की और शरीर के बिलकुल ठंडा होने की सूचना दे दी। रोगी देह तो पहिले ही ठडा हो चुका था, गरम दवाइयो की गरमी से उसको जबरन गरम रख कर, यमराज के साथ लडाई लडते हुए, प्रकृति की अवश्यम्भावी घटना को टालने की व्यर्थ कोशिश की जा रही थी। वह टल कैसे सकती थी? पर, उस कर्मशील जीवन को उस बुढापे में भी अन्तिम दिन अन्तिम सॉस बीमारी के बिस्तर पर ही सिसकते हुए नहीं लेना था। अपितु, जीवन की अवश्यम्भावी उस अन्तिम घटना को जीवन से भी अधिक स्फूर्तिदायक बना जाना था और इस ससार से जाते-जाते भी कुछ

करते हुए ही जाना था। मुँहमाँगी मुराद की तरह आपको वीर गति प्राप्त हुई। उकसाये हुए मतान्ध बेचारे अब्दुल रशीद को क्या मालूम था कि जो कुछ वह करने आया था, उससे ठीक उलटा ही होगा। वह नहीं जानता था कि वह अपने उस अधम कृत्य द्वारा इस्लाम की चादर पर कभी न धुलने वाला एक काला दाग़ लगा जायेगा और जिसको वह इस संसार से मिटाने आया था, उसको सदा के लिये अमर बना जायेगा? निश्चय ही स्वामी जी को वह अमर-पद प्राप्त हुआ जिसकी खोज में दुनिया पत्थर-पहाड़-कन्दरा, मन्दिर-मसज़िद-गिर्जा और मथुरा-काशी-काबा आदि में भटकती फिरती है।

गोली चलने के आध घण्टा बाद पुलिस घटनास्थल पर पहुँची। उसके थोड़ी देर बाद सीनियर सुपरिंटेण्डेण्ट-पुलिस मार्गन और शेख़ नजरुल हक़ आये। हत्यारे को सिपाहियों के सुपुर्द कर जाँच शुरू की गई। कुछ दिन मुक़दमा चलने के बाद हत्यारे को फाँसी की सज़ा हुई। प्रावी-कौंसिल तक मुक़द्मा लड़ा गया। पर, वहाँ से भी फांसी की सज़ा बहाल रही। इस्लाम को नापाक़ करने वाले मुसलमानों ने तो हत्यारे को 'गाज़ी' के पद से सुभूषित किया और प्रीवी-कौंसिल में की गई अपील के रद्द हो जाने पर भी स्वामी जी के पुत्र के नाते प्रो. इन्द्र जी ने उसको फाँसी न देकर इस्लाम के हाथों में उसकी किस्मत का फैसला छोड़ देने की सम्मति प्रगट की।

स्वामी जी के शव का देहली में भूतो न भावी सम्मान हुआ। सुदूर प्रदेशों से आकर लोग उसमे शामिल हुए। जिसके लिये भी देहली पहुँचना सम्भव था, वह सिर पर पैर रख आँखों के बल दौड़ा चला आया। हरिद्वार के गुरुकुल-कांगड़ी के प्रायः सभी ब्रह्मचारी और कर्मचारी कुल-पिता के अन्तिम-दर्शन करने देहली आ पहुँचे थे। गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ भी उठ कर देहली चला आया था। बलिदान के तीसरे दिन शनिवार को अर्थी का जो विराट् जुलूस निकला, वह सम्राटो को भी रिझाने वाला था। जनसमूह का उस दिन देहली में समाना कठिन था। दो-ढाई मील पर नरमुण्ड ही नरमुण्ड दीख पड़ते थे। अर्थी इतर-फुलेल और फूलों की वर्षा से इतनी भारी हो रही थी कि उसको सम्हालना कठिन हो रहा था। शहर के मुख्य-मुख्य भागों में घूमता हुआ जुलूस सवेरे का चला हुआ दुपहर बाद जमुना के किनारे पहुँचा। अपने हृदय-सम्राट् के नश्वर शरीर को अग्नि-देव की भेंट कर देहली के निवासी अपने घरों को ऐसे खाली हाथ लौटे, जैसे उनका सर्वस्व ही लुट गया था, जैसे अबोध बालक माँ-बाप की असामयिक मृत्यु से बिलकुल अनाथ हो गया था और जैसे लखपति बनने की आशा में बैठे हुए साहूकार का दिवाला ही पिट गया था।

14. सिंहावलोकन

स्वामी जी को जीवन की जिस अन्तिम घटना से अमर-पद प्राप्त हुआ और जिसने आपकी मृत्यु को कर्मशील जीवन से भी अधिक स्फूर्तिदायक बना दिया, उसी से आपके सम्बन्ध में एक निराधार भ्रम भी पैदा हो गया और आपके उत्कृष्ट सार्वजनिक जीवन पर उस साम्प्रदायिकता का एक परदा भी पड़ गया, जो आप में लेशमात्र भी नहीं थी। इसी दृष्टि से आपका देहावसान असामयिक था और मृत्यु ने आपके लिये 'अब्दुल-रशीद' को अपना साधन बना कर स्पष्ट ही आपके साथ छल-कपट से काम लेते हुए विश्वासघात किया था। जिस देश में मनुष्य-जीवन का औसत 23 वर्ष है और नेताओं के लिये आयु की अवधि अधिक से अधिक 50 वर्ष है, उस देश में 70-72 वर्ष की आयु प्राप्त करना और जीवन की अन्तिम घड़ी तक भी लोकसेवा करते हुए ही प्राण न्योछावर करना एक असाधारण घटना है; ऐसे जीवन का अन्त असामयिक नहीं है। फिर 'अब्दुल रशीद' सरीखे दीवाने और मतान्ध किस समाज, जाति तथा देश मे नहीं हैं? भाषा तथा भावो को अनाचार का साधन बना कर अपने धर्म की सेवा कौन कर पाया है और किसने इस प्रकार अपनी जाति का सिर ऊँचा किया है? शुद्धि-संगठन और तबलीग-तंजीम की आड़ में भारत के इतिहास, भारत के महात्माओं और मनुष्य जाति के पथप्रदर्शकों की जो छीछालेदर की गई थी, उससे किसी उच्च आदर्श की प्राप्ति क्या हो सकती थी? उससे तो इस देश में 'अब्दुल रशीद' सरीखे दीवाने ही पैदा हो सकते थे। मृत्यु ने 'अब्दुल रशीद' को अपना साधन बनाकर मजहबी-पागलपन की ओर ऑखे मूँद कर दौड़ते हुए भारतीयों के पैर में भयानक ठोकर लगा उनको सचेत ही किया था। मृत्यु के मुख से स्वामी जी को सुरक्षित बाहर निकाल लाने वाले डा. अन्सारी के मुकाबले में 'अब्दुल रशीद' को खड़ा करके मृत्यु ने जो शिक्षाप्रद दृश्य उपस्थित किया था, प्रो. इन्द्र जी विद्यावाचस्पति ने उसका कितना सुन्दर चित्र अंकित किया था? आपने लिखा था—"भाग्यों का चक्र यह है कि एक मुसलमान ने उन्हें मौत

के मुँह से बचाया और दूसरे ने तमंचे के घाट उतार दिया। परमात्मा की अद्भुत लीला ऐसे ही रूपों मे अपने को प्रगट किया करती है। डा. अन्सारी और अब्दुल रशीद मनुष्य जाति के रोशन और स्याह पहुलओं के दो नमूने हैं। आने वाली सन्तानें दोनों से उपदेश ग्रहण किया करेंगी।'' 'अब्दुल रशीद' के पीछे समस्त मुसलमान जाति को डा. अन्सारी के रहते हुए कैसे 'वहशी' या 'बरबर' कहा जा सकता है? जो मुस्लिम-सभ्यता डा. अन्सारी, मौलाना आज़ाद, स्वर्गीय हकीम साहब आदि को जन्म दे सकती है, उसको जानने तथा समझने की सहृदयता, क्षमता और निरपेक्षता अपने अन्दर पैदा किये बिना, कैसे एकाएक उसकी निंदा की जा सकती है? अबोध बालक जमीन से ठोकर खाकर गिरने के बाद जमीन को ही मारता और दुगुनी चोट खाता है। क्या हम को भी वैसा ही अबोध बन कर दुगुनी चोट खाने की मूर्खता करनी चाहिये? 'अब्दुल रशीद' तो मृत्यु का साधन या बहाना ही था, इसलिये सब रोष, द्वेष और क्रोध मृत्यु पर ही पूरा करना चाहिये।—और मृत्यु भी क्या है? मनुष्य की अपनी कमजोरी का नाम ही मृत्यु है। वह पेड़, जिसकी जड़ें इतनी कमज़ोर पड़ जाती हैं कि वे तेज हवा का झोंका सहन नहीं कर सकतीं, गिर कर नष्ट हो जाता है। हिन्दू-समाज यदि दुर्गति अधःपात और मृत्यु से बचना चाहता है तो उसको अपनी एक-एक कमज़ोरी को परख-परख कर दूर करना होगा। नहीं तो मृत्यु नहीं टलेगी। वह अवश्य आयेगी। भले ही वह कौरव पाण्डवों के युद्ध, यादव-दल के सर्वनाश, महमूद गजनवी के आक्रमण और विदेशी राजसत्ता में से किसी भी रूप में क्यो न आये? स्वामीजी के संगठन तथा शुद्धि के आन्दोलन का यही सन्देश था। मुस्लिम-द्वेष के शब्दों में उसका अर्थ करना सत्य की स्पष्ट हत्या और वस्तुस्थिति का जान-बूझ कर विपर्यास करना है।

मनुष्य के बाहर के कार्य उसके भीतर की भावना के निदर्शक हैं। अनुकरण भीतर की भावना का होना चाहिये, बाहर के कार्यो का नहीं। भावना स्थिर वस्तु है, बाहर के कार्य नश्वर है। भावना शुद्ध और पवित्र है, बाहर के कार्यो पर परिस्थिति का मैल चढ़ा रहता है। भावना ही आदर्श है, कार्य तो उसकी ओर केवल संकेत करने वाले हैं। स्वामीजी की जीवनी का पारायण करने वालो को उनकी भावना की तह तक पहुँचने का यत्न करना चाहिये और उसी को अपने जीवन का आदर्श बनाना चाहिये। स्वामीजी के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन की भावना को ब्रह्मचर्य, सत्य, श्रद्धा, तप तथा त्याग के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। युवावस्था की स्वच्छन्दता के बाद भी ब्रह्मचर्य की ऊँची से ऊँची साधना का सफल

परीक्षण स्वामीजी की जीवनी है और समाज में उसकी स्थापना के लिये किये गये यत्नों का सार 'गुरुकुल कांगड़ी' है। उनके सत्य और श्रद्धा के सम्बन्ध में विश्व-कवि रवीन्द्र ने ठीक ही लिखा था—"सत्य के प्रति निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये हैं। सत्य के प्रति श्रद्धा के उस श्रद्धानन्द को उनके चरित्र के मध्य हम सार्थक आकार में देख सकते हैं।" तप और त्याग का ही यह परिणाम था कि बवासीर, खांसी, जुकाम तथा हरनिया और अन्तिम वर्षों में ब्राइड डिसीज़ से घिरे हुए होने पर भी आप 12 महीने और 24 घण्टे कमर कस कर तैयार रहते थे। इस तपस्वी जीवन से ही तो आपको ऐसा डील-डौल और स्वास्थ्य प्राप्त हुआ था कि 'पोस्ट-मार्टम' करने वाले डाक्टर भी आपकी 'शव-परीक्षा' करके हैरान रह गये थे। शरीर का अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट और मज़बूत था। व्यक्तिगत जीवन का यह चित्र किसके लिये आदर्श नहीं हो सकता? वैसे भी धर्म, समाज, साहित्य, शिक्षा, राजनीति आदि के सभी क्षेत्रों में आपकी निष्ठा, लगन, विद्वत्ता, चरित्र तथा दृढ़ता को आदर्श बनाया जा सकता है। निर्भीकता की आकृति, साहस के अवतार, सचाई के धनी, संयम के उपासक, ब्रह्मचर्य के आकार, स्वाभिमान की मूर्ति, स्वदेशाभिमान की प्रतिमा, राष्ट्रियता की ज्योति, भारतीय-सस्कृति के पुज—उस दिवंगत आदर्श महापुरुष को बार-बार—हज़ार बार—नमस्कार है।

●●●